धर्म प्रेमी बन्धुओ। यदि आप सरल उपायोंसे आध्यात्मिक ज्ञान, विज्ञान व शान्ति चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी सहजानन्द जी महाराजके रचित ग्रन्थ व प्रवचन ग्रन्थका स्वाध्याय अवश्य कीजिये।

इन समस्त ग्रन्थोंका नाम वर्णी सेट है, जो अध्यात्म ग्रन्थ सेट, अध्यात्म प्रवचन सेट, विज्ञान सेट व ट्रेक्टसेट, इन चार सेटों में विभक्त हैं। ये ग्रन्थ जिसके पास न हों तो स्वाध्याय के अर्थ अवश्य मंगावें।

वर्णी सेट (समस्त ग्रन्थ अर्थात् चारों सेट) मँगाने पर २०) प्रतिशत कमीशन होगा। विभक्त सेटोंमें से एक दो या तीन सेट मँगाने पर १५) प्रतिशत कमीशन होगा।

अध्यात्म ग्रन्थ सेट :—

	रु०न०पै०
आत्मसम्बोधन सपरिशिष्ट	१-५०
सहजानन्द गीता	१-००
सहजानंन्द गीता सतात्पर्य	२-००
तत्व रहस्य प्रथम भाग	१-००
अध्यात्म चर्चा	०-७५
अध्यात्म सहस्त्री	१-००
समयसार भाष्य पीठिका	०-३१
समयसार भाष्य पीठिका सार्थ	०-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५६	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५७	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५८	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५९	०-५०
सहजानंद डायरी सन् १९६०	०-५०
भागवत धर्म	२-००
समयसार दृष्टान्त मर्म	०-३७
अध्यात्म वृत्तावलि	०-२५
मनोहर पद्यावलि	०-३७
दृष्टि	०-२५
सुबोधपद्यावलि	०-६२
स्तोत्र पाठपुञ्ज	०-३७

	रु०न०पै०
अध्यात्मरत्नात्रयीसमूल	०-७५
Samayasar exposition (Purvarang)	०-३१
Samayasar exposition (Kartri karmadhikar)	०-३१
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका	३-००
समाधिशतक सभावार्थ	०-३७

अध्यात्म प्रवचन सेट :—

धर्म प्रवचन	०-७५
सुख कहाँ	०-५०
अध्यात्म सूत्र प्रवचन उत्तरार्ध	२-५०
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग	२-२५
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-७५
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-२५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	२-००
,, ,, ,, पञ्चम भाग	१-७५
,, ,, ,, षष्ठ भाग	१-६५
,, ,, ,, सप्तम भाग	१-५०
,, ,, ,, अष्टम भाग	१-५०
,, ,, ,, नवम भाग	१-५०
,, ,, ,, दशम भाग	१-२५

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन सप्तम भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्रबन्ध सम्पादक—
बाबूलाल जैन पाटनी केशियर स्टेट बैंक
प्रतिनिधि आगरा शाखा सहजानन्द शास्त्रमाला
प्रधान आत्मकीर्तन प्रचार मंडल,
तार गली मोती कटरा, आगरा।

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी सदर मेरठ (उ० प्र०)

न्यौछावर
१ रुपया ३५ नये पैसे

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके

संरक्षक महानुभाव

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसादजी जैन वेङ्कर्स सदर मेरठ

अध्यक्ष, प्रधान ट्रस्टी एवं संरक्षक

(२) श्री सौ० फूलमालादेवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसादजी जैन वेङ्कर्स

सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक सदस्य महानुभावोंकी नामावलि :—

(१) श्री सेठ भँवरीलालजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द्रजी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवतीदेवी जैन गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंहजी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्दजी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्दजी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्दजी जैन मंसूरी
(१०) ,, ला० वावूराम मुरारीलालजी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैनजी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडूसाहजी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनरायजी जैन नईमन्डी मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी वा० कैलाशचन्दजी जैन देहरादून
(१५) ,, ला० जयकुमार वीरसेनजी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री दिगम्बर जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० वावूराम अकलंकप्रसादजी जैन तिस्सा

(१८) ,, बा० विशालचन्दजी जैन ग्रा० मजिस्ट्रेट सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द ज्योतिप्रसादजी जैन ओवरसियर इटावा
(२०) ,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन संघी जयपुर
(२१) ,, श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालालजी जैन जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज गया
(२३) ,, सेठ सागरमलजी जैन पाण्ड्या गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलालजी जैन गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूरामजी मोदी गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द वैजनाथजी जैन नईमंडी मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्दजी जैन सर्राफ बड़ौत
(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्दजी जैन गया
(२९) ,, सेठ जीतमल इन्द्रकुमारजी जैन छावड़ा झूमरीतिलैया
(३०) ,, सेठ गोकुलचन्द्र हरकचन्द्रजी जैन गोधा लालगोला
(३१) ,, बा० इन्द्रजीतजी जैन वकील स्वरूपनगर कानपुर
(३२) ,, बा० दीपचन्दजी जैन एग्जूक्यूटिव इन्जिनियर कानपुर
(३३) ,, सकल दिगम्बर जैन समाज नाईकी मन्डी आगरा
(३४) ,, मंत्री दिगम्बर जैनसमाज तारकी गली मोती कटरा आगरा
(३५) ,, संचालिका दिगम्बर जैन महिलामंडल नमककी मंडी आगरा
(३६) ,, मंत्री दिगम्बर जैन जैसवाल समाज छीपीटोला आगरा
* (३७) ,, सेठ शीतलप्रसादजी जैन सदर मेरठ
* (३८) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्दजी जैन बड़जात्या जयपुर
* (३९) ,, बा० दयारामजी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ
* (४०) ,, ला० मुन्नालाल यादवरायजी जैन सदर मेरठ
* (४१) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमारजी जैन सहारनपुर
* (४२) ,, सेठ छदामीलालजी जैन, रईस फिरोजाबाद
* (४३) ,, ला० नेमिचन्दजी जैन रुड़की प्रेस रुड़की
ऽ (४४) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपालजी जैन शिमला
ऽ (४५) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलालजी जैन शिमला

नोट—जिन नामोंके पहिले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आगये है शेष आने हैं तथा जिनके पहिले ऽ ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने है।

आमुख

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका एक स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र स्वतन्त्र विचार-धारा है और प्रत्यक्ष एवं परोक्षात्मक विश्व-प्रपंचके निरूपणकी उत्पत्ति स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन शब्द जिन शब्दसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अपने आत्म-स्वातन्त्र्य लाभके लिए जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाला। और जयति कर्मशत्रून् इति जिनः इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करता है, वह 'जिन' कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शनका अर्थ होता है, आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तथोक्त जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाले व्यक्तिकी विश्व प्रपंचके सम्बन्धमें सुचिन्तक दृष्टि।

जैनदर्शनकी मान्यता है कि यह दृश्यमान एवं परोक्षसत्तात्मक विश्व, चेतन और जड़-दो प्रकारके तत्त्वोंका पिण्ड है व अनादि है, अनन्त है। दूसरे शब्दोंमें यह लोक-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका पिण्ड है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनका अर्थ है उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय छोड़कर उत्तरवर्ती पर्याय स्वीकार करता है, फिर भी वह अपनी स्वाभाविक धाराओंको नहीं छोड़ता है। द्रव्यका यही प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व है। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इन द्रव्योंमें सदैव सदृश परिणमन ही होता है। इसका अर्थ है कि इनमें प्रति समय परिवर्तन होनेपर भी ये द्रव्य स्वरूपसे सदैव एकसे ही बने रहते हैं, उनके स्वरूपमें तनिक भी विकृति नहीं आने पाती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्योंका यह हाल नहीं है। उनमें सदृश और विसदृश-अथवा शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं।

जिस समय रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणात्मक पुद्गल परमाणु अपनी विशुद्ध परमाणुदशामें परिणमन करते हैं, तब यह इनका सदृश अर्थात् शुद्ध परिणमन कहा जाता है और जब दो या दो से अधिक परमाणु स्कन्ध-दशामें परिणत होते हैं तब यह इनका विसदृश अर्थात् अशुद्ध परिणमन कहा जाता है।

ठीक ऐसी ही परिणमन-प्रक्रिया जीव द्रव्यकी है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल द्रव्यमें विभाव परिणमन करनेकी शक्ति है। सो इस वैभाविक शक्तिके कारण।

जीव जब तक संसारमें है और कर्म-बन्धनसे आबद्ध है, तब तक यह भी वैभाविक अर्थात् अशुद्ध परिणमन करता है, परपदार्थोंको अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है, अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको छोड़कर स्वयंको अन्य अनात्मीय भावोंका कर्ता मानता है और आत्मज्ञानसे इतर अनात्मीय भावोंमें ही तन्मय रहता है। परन्तु ज्यों ही इसे आत्मस्वरूपका बोध होता है, वह परवस्तुओंसे अपनी ममत्वपरिणति दूर कर लेता है और कर्म बन्धनसे निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्यमें रमण करने लगता है। जीवकी संसारदशाका 'प्रथम' परिणमन वैभाविक एवं अशुद्ध परिणमन है और मुक्तदशाका द्वितीय परिणमन पूर्णतया आत्माश्रित होनेके कारण स्वाभाविक एवं शुद्ध परिणमन है।

अतः जैन दर्शन, जिनदर्शन अर्थात् आत्मदर्शनका ही रूपान्तर है, अतः उसमें आत्माकी दशाओंका, उनकी बद्ध और अशुद्ध स्थिति या और उसके कारणोंका बहुत विशद एवं विधिवत् विश्लेषण हुआ है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्तिको प्रश्रय देता है।

जैनदर्शनमें आत्माको ही उसकी स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिणतिका कर्ता माना गया है और अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशामें यह आत्मा ही स्वयं परमात्मा हो जाता है। संक्षेपमें जैनदर्शनके अध्यात्मवादका यही रहस्य है।

जैन अध्यात्म-साधनाका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, अनादि है, तथापि युगके अनुसार भगवान ऋषभदेवने अपने व्यक्तिजीवनमें इसके आदर्शोंकी अवतारणा की और पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न-आत्मस्वातन्त्र्यका लाभ किया। तीर्थंकर अजितनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त शेष तीर्थंकरोंने भी इसी अध्यात्म-साधनाको स्वयं अपनी जीवन-सिद्धिका लक्ष्य बनाया और आत्मलाभकी दृष्टिसे अन्य प्राणियोंको भी मार्ग-दर्शन किया। इसी समयमें श्री भरतजी, बाहुबलिजी, रामचन्द्रजी, हनुमानजी आदि अनेकों पूज्य पुराण पुरुषोंने इसी ज्ञानात्मक उपायसे ब्रह्मलाभ किया और अनेकों भव्यात्माओंको मार्ग दर्शन दिया।

भगवान् महावीरके बाद भी यह जैन अध्यात्म-धारा प्रवाहित होती रही और आज भी हम उसके लघुरूपके दर्शन उसके कतिपय साधनोंमें एवं विशालरूपके दर्शन उस परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कर सकते हैं।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्यश्री कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मके यह असामान्य विद्वान् थे। यद्यपि इनकादीक्षकालीन नाम पद्मनन्दि था, तथापि कौण्डकुन्दपुरके अधिवासी होनेके कारण ये कौण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक विख्यात रहे और इसी नामपर इनकी वंश-परम्परा कुन्दकुन्दान्वयके रूपमें स्थापित हुई। शास्त्रवाचन आरम्भ करनेके पूर्व प्रत्येक पाठक मङ्गलाचरणके रूपमें पढ़ता है :—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

अर्थात् भगवान् महावीर मङ्गलमय है। गौतम गणधर मङ्गलमय है, आर कुन्दकुदाचार्य मङ्गलमय है और जैनधर्म मङ्गलमय है।

इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि जैन वाङ्मय और उसके उपासकोंमें आचार्य कुन्द-कुन्दका कितना गौरवपूर्ण स्थान है।

जैनपरम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुडग्रन्थोंके कर्ताके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं; परन्तु इनके उपलब्ध २२,२३ ग्रन्थ ही इनके अगाध पाण्डित्य और तलस्पर्शी तत्त्व ज्ञानके परिचायक है इसमें भी प्रवचनसार, समयसार नियमसार तथा पंचास्तिकाय इन चार ग्रन्थोका मुख्य स्थान है। इस ग्रन्थचतुष्टयामें जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मका बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्दका प्रवचनसार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, ज्ञेय और चरित्ररूप द्वारा सम्बद्ध विषयोंका अत्यन्त सारगर्भित विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थपर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध है। अनेक विद्वानोंने उनका हिन्दी सार देकर प्रवचनसारके महत्त्वपूर्ण संस्करण भी प्रकाशित किये हैं।

परन्तु श्रद्धेय श्री १०५ क्षु० श्री सहजानन्द जी महाराज (श्री मनोहर जी वर्णी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ) ने समय समयपर ग्रन्थराज प्रवचनसारपर दिये गये जिन प्रवचनों द्वारा तन्मयताके साथ अन्य श्रोताओंको दुर्लभ अध्यात्मरसका पान

कराया, उन प्रवचनोंका और उन्हींको लेकर गुम्फित किये गये इस ग्रन्थरत्नका आध्यात्मिक वाङ्मयमें निःसन्देह बहुत बड़ा महत्त्व है और जब तक यह ग्रन्थरत्न विद्यमान रहेगा। इसका यह महत्त्व बराबर अक्षुण्ण रहेगा।

श्रद्धेय क्षुल्लक वर्णी जी महाराजने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र जी की अध्यात्मदेशनाको आत्मसात् करके जिस सरलता और सादगीके साथ जैन अध्यात्म जैसे गंभीर एवं दार्शनिक विषयोंको इन प्रवचनोंमें उड़ेला है उनका यह पुण्य-कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनुपम है।

आशा है, अध्यात्म प्रेमी समाज इस ग्रन्थका रुचिपूर्वक स्वाध्याय करेगा और अपनी दृष्टिको विशुद्ध और सम्यक् बनाकर पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्यके पथका अनुगामी बनेगा।

राजकुमार जैन
एम. ए. पी. एच. डी
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
आगरा कालेज

आगरा

२१-१०-१९६३

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री वर्णीजी महाराज द्वारा रचित

— आत्म-कीर्तन —

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्धसमान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥५॥

[धर्म प्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियोमें भारतमें अनेकों स्थानोंपर पाठ किया जाता है आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे १ घन्टा पहिले परिवारमें एकत्र एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्ध छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

प्रवचनसार प्रवचन सप्तम भाग

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

अब ज्ञेय तत्त्वको कहकर ज्ञान और ज्ञेयका विभाजन करते हैं, आत्माका निश्चय करा कर अनात्मासे अत्यन्त विभक्त होनेके लिए व्यवहार जीवपनेका हेतु बताते हैं :—

सपदेसेहिं समग्गो, लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो, पाणचदुक्काहिं संबद्धो ॥१४५॥

आकाश द्रव्यसे लेकर काल द्रव्य तक अर्थात् सभी पदार्थोंके साथ जिनमें कि प्रदेशोंकी सम्भावना है उनके द्वारा, समस्त पदार्थोंके समूह द्वारा जितना जो कुछ समाप्तिको प्राप्त है, ऐसा यह लोक है।

समाप्तिका अर्थ परिपूर्णता—समाप्त का अर्थ क्या है? समाप्त का अर्थ है अच्छी तरह से पा लिया गया है, पूर्ण कर लिया गया है, यह शब्दार्थ है। जो यह अर्थ करनेकी रूढि है कि समाप्त के माने खतम हो गया है, याने फिनिश हो गया है तो उसका भाव यह है कि जब अच्छी तरह परिपूर्ण हो गया तो उसी के मायने हैं कि अब आगे कुछ नहीं रहा। सो लोकके आगे कुछ नहीं रहा, उसकी दृष्टि रख करके समाप्त का अर्थ, खतम कर देना कह दिया जाता है पर समाप्त का अर्थ खतम नहीं है। समाप्त का अर्थ है अच्छी प्रकार से भरपूर हो चुका है। वैसे तो भैया फिनिश का भी अर्थ खतम होना नहीं है। उसका भी अर्थ पूर्ण होना होता है तो समस्त छह द्रव्योंके द्वारा जितना यह सब कुछ समाप्त हो चुका है, पूर्ण हो चुका है। यह इतना पदार्थसमूह लोक है।

सम्पूर्ण द्रव्योंमें ज्ञाता—इस लोकको जीव ही जानते हैं। इस समस्त लोकके अन्दर अनन्ते जीव द्रव्य, अनन्ते पुद्गल द्रव्य, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य हैं। इन सबके बीच में, हालांकि लोकके अन्दर सभी आगये, उनको जीव ही जानते हैं और कोई पदार्थ नहीं जानता है। यह

पदार्थव्यवस्था समझी जा रही है। आचार्यदेव किस क्रमसे वर्णन कर रहे हैं कि पहिले तो कहा कि 'सर्वम् एकम्' सभी कुछ एक है। यह एक है सत्। यह सत् एक स्वरूपतया प्रदेशतः नहीं। अद्वैतवादमें और जैन दर्शनमें एक सत् मानते हुए भी अन्तर क्या आया है कि अद्वैतवादने तो प्रदेशतः जैसी पद्धतिका सत् माना है, हालाकि वहां स्पष्टरूपसे प्रदेश शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया, मगर वहां जो लक्षण है वह इस प्रकार है कि वह प्रदेशरूपमें सत् जैसा प्रतीत है। किन्तु, जैनदर्शन इस महासत् को लाक्षणिक रूपमें बताता है।

ऐश्वर्य ही ईश्वर—जैसा कि प्रचलित पद्धति में कर्त्तावाद को लोग बोलते हैं कि ईश्वर कर्ता हैं, जगतमें एक ईश्वर है और वह कर्त्ता है तो जैन दर्शन भी कहता है कि ईश्वर कर्त्ता है। दोनोंमें अन्तर क्या आगया कि वे तो एक ईश्वर व्यक्तिगत मानते हैं। जैसे हम तुम सब कोई हैं एक-एक चीज, इसी प्रकार से ईश्वर कोई एक चीज है और वह सर्वव्यापक व आदिम है तथा सृष्टिका कर्त्ता है जब कि जैन सिद्धान्त यह कहता है कि जगतके ये जितने जीव हैं वे सब अपनी अपनी सृष्टि करते हैं और इन सभी जीवोंको स्वलक्षणोंसे देखा जाय तो सब चैतन्यमात्र हैं और सभी के सभी अपने ऐश्वर्य वाले हैं। ऐश्वर्य उसे कहते हैं जिसके कारण कोई अपने आप अपनेमें अपने लिए अपने ही से अपने ही साधनों द्वारा स्वतन्त्र होकर अपने कामको कर सके उस बलको कहते हैं ऐश्वर्य। जिसमें दूसरोंका मुख न देखना पड़े उसे कहते हैं ऐश्वर्य। अच्छा, बताओ जीवमें ऐश्वर्य है कि नहीं ? ये अपना काम, अपना परिणमन अपने आप अपने लिए अपनेमें प्रतिक्षण करते रहते हैं। इसलिए ये जितने भी जीव हैं उन सबमें ऐश्वर्य है।

सर्वाद्वैतवाद में निर्णय—और भी चलकर देखें तो जीव एक स्वरूप हैं। इसलिए एक स्वरूप यह ईश्वर प्रतिक्षण सृष्टि करता जा रहा है। तो अन्तर क्या हुआ कि लोकमतमें तो ईश्वर एक व्यक्ति है और जैनदर्शनमें वह ईश्वर एक स्वरूप है। इसी तरह सर्वाद्वैतवादमें और सामान्य अद्वैतवादमें इतना ही अन्तर है कि सर्वाद्वैतवादमें तो एक व्यक्तिरूप सत् माना और फिर उसमें तरंगें उठती हैं सो ये सब उसकी पर्यायें हैं। जैसे एक समुद्र है और फिर उसमें तरंगे उठती है। ठीक है, भाई, पर यह तो बताओ कि वह समुद्र एक चीज है कि अनेक चीज ? बस, यहीं अन्तर आ गया। एक एक बूंद समुद्रमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। बूंद समुद्रका अंग नहीं हैं। समुद्र एक चीज हुआ और यह बूंद उसका अंग हुआ, लहर अंग हुई, यह कुछ नहीं हैं। उनमें वस्तु तो प्रत्येक बूंद हैं और पूर्णतया जो समुदाय है उस समुदायमें समुद्रत्वका उपचार है। जब कि सर्वाद्वैतवादके दृष्टान्तमें सही चीज समुद्र है और बूंद है, लहर है वह सब उपचरित है। जब कि यहां सही चीज बूंद है

और बूंदोंका जो समुदाय है वह एक हो, यह काल्पनिक चीज है। तो बूंदों के समुदायमें समुद्रका उपचार बनाकर फिर उस एक समुद्रकी ये तरंगे बबूला आदि उठते हैं, यह कहना ठीक है।

जीव की अलभ्य शक्ति—उक्त प्रकारसे जगतके जितने भी प्रदेशवान पदार्थ हैं उन प्रदेशवान पदार्थोंका समूहात्मक जो यह लोक है उस लोकको एक मानकर फिर इन्हें भिन्न-भिन्न तरंगें मानना क्या यह सम्भव हो सकता है। यहाँ सही चीज यह है कि प्रदेशवान पदार्थ तो हैं यथार्थ और इनका समूहात्मक लोक है उपचरित एक पदार्थ। इस सारे लोकमें अनन्ते पदार्थ स्थित हैं उन समस्त पदार्थोंमें से केवल जीव ही जानने वाला है, इतर कोई नहीं। पुद्गल ज्ञाता नहीं, केवल जीव ही जानने वाला है क्योंकि ऐसी ही अलभ्य शक्ति जीवकी है। अपने ही सत्त्वके कारण, अपनी ही विशेषताके कारण अपने आपमें ऐसी अलभ्य शक्ति है कि स्व और पर पदार्थोंको जाननेकी शक्ति सम्पत्ति इसके अन्दर है।

सत् अपरिवर्तनीय—भैया बहुत पहिली, बचपनकी बात थी लगभग साढ़े छः या सात वर्षकी उमर होगी। पहिले स्कूल तो थे नहीं। कोई पटवारी पाठक हो गया तो एक रुपया महीनेपर वही पढ़ा देता था। पहिले क्लास नहीं लगती थी। हिन्दी गणितकी बहुत अधिक पढ़ाई होती थी। ऐसी पाठशालामें यह भी पढ़ता था। सो एक दिन बच्चोंको पीटे जाते देखा। तो डर लगा और मैं एक दिन न गया सो पाठशालासे मुझे बच्चे पकड़ने आये। यह पहिले रिवाज ही था। नहीं गये तो माँ ने एक तमाचा मार दिया तो रोते हुए मैंने सोचा कि यदि मैं यह काठका खम्भा जिससे रस्सी बांध कर मट्ठा घोरा जाता था, होता, तो मैं न पिटता। मगर खम्भा, हो कैसे जाये। जो सत् है सो सत् है वह स्वयं है।

अज्ञान परिणति ही संकट का प्रसार—यह चेतन सत् चैतन्य शक्ति सम्पदा को लिए हुए है। सो अपने आपमें बहुत ही उत्तम है। सो मैं हूँ और पदार्थ हूँ अपना उत्पाद व्यय करता हूँ। ये ज्ञेय भी एक पदार्थ हैं और अपने आप में उत्पाद व्यय करते हैं। जीवका उत्पाद व्यय चैतन्यात्मक होता है। सो जितना जानना है इस ही रूपमें जीव परिणमन है। सो विश्वको जानते हैं ऐसी सम्पदा जीवमें ही प्राप्त है और पदार्थोंमें नहीं है। किन्तु जीवने अपने ऊपर कितनी विपत्तियां बना ली हैं, कितने संकट अपने आपमें आ गये हैं। यह सब अज्ञानका परिणाम है।

ज्ञायक स्वभावकी दृष्टिके बिना संयोग विडम्बनाके कारण—देखो भैया! सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं। अपने आपके स्वरूपमें हैं। अपने आपमें उनका द्रव्य, गुण, पर्याय सब कुछ है। किसी भी पर द्रव्यका उसके साथ कोई नाता नहीं है। सब न्यारे-न्यारे हैं। जब तक समागम है तब तक संयोग है फिर नियमसे अलग होंगे। संयुक्त

वस्तुका वियोग नियमसे होता है। जहाँ संयोग है वहाँ नियमसे वियोग होगा ही, इसमें जरा भी शक नहीं है। जितने भी समागम हैं उन सबमें ज्ञायक स्वभावकी दृष्टिके बिना आपत्ति ही आपत्तिका अनुभव होता है; कुछ भी सुख नहीं नजर आता है, कुछ शांति नहीं मिलती। और, एक विडम्बनाकी बात देखो कि अपने निज घरका खूँटा तोड़कर बाहरकी ओर ही इसकी दृष्टि है। सो संकट है तो यही संकट है। संकट और कोई चीज नहीं है। और इस ही ऐवके कारण हमारा प्रभुत्व, ऐश्वर्य, चरम विकाश, सिद्ध अवस्था यह सब आवृत हैं, अन्तरमें तिरोभूत है।

सर्वोत्कृष्ट कार्य—सर्वोत्कृष्ट एक मात्र काम करनेको यह है कि हम अपनेको ज्ञानस्वभाव ही मानें। हम इसीलिए मनुष्य हुए कि अपना काम केवल यही है कि अपने ज्ञान स्वरूपकी दृष्टि बनी रहे। इस दृष्टिके होते हुए जो हो, सो हो, बाह्य पदार्थ जहाँ रहते हों रहें, गुजरते हों गुजरें, कहीं जाते हों, जायें। अपना तो एकमात्र यही काम है कि मैं ज्ञानस्वभावको दृष्टि बनाए रहूँ। इसके अतिरिक्त कोई काम करने योग्य नहीं है और काम तो गले पड़े बजाय सरेकी बात है।

शक्तिमें जुम्मेदारी—इस जीवमें स्व और परके परिच्छेदकी शक्ति मौजूद है और उस सम्पदाके द्वारा यह जीव ही जानता है इतर कोई पदार्थ जानने वाले नहीं हैं हम हैं सदा रहेंगे और रहेंगे तो कोई न कोई परिस्थिति, परिणति जरूर होगी। क्योंकि परिणामन बिना कोई सत् नहीं। अच्छा तो यह था कि हम होते ही नहीं। कुछ भी न होते। अरे हम, व कुछ न होते, यह तो परस्पर विरुद्ध वचन है। सो मैं तो हूँ ही, मेरा परिणमन सदा होता रहेगा। किसी न किसी हालत में मैं रहा ही करूँगा। तब मुझपर बड़ी ही जुम्मेदारी है कि हम आगे क्या करेंगे? किस परिणमनमें चलेंगे? कैसी स्थिति होगी।

जीवका अलौकिक ऐश्वर्य—पुदगल सत् में तो चिन्ता की कोई बात नहीं। लकड़ी हो और जल भी गयी तो जल गयी, क्या बुरा हुआ वह पुद्गल मैटीरियल है उसमें कोई विह्वलता नहीं है, परेशानी नहीं है। परिणमन होगया। पहिले ईन्धन रूप परिणमन था, अभी आगरूप था, अब राख रूप होगया। क्या बिगाड़ हो गया। वह तो है उसका क्या ऐश्वर्य नहीं है? है। क्या? है और परिणमता है, स्वरूपसे स्वतंत्र है, यही इसका ऐश्वर्य है। इस जीवका तो कितना ऐश्वर्य है कि जगतमें जो भी पदार्थ हैं, तीन लोकमें और उनका परिणमन होगा व हुआ था व जो कुछ है वह सर्व कुछ एक समयमें प्रतिभासित हो जाता है। इसकी अलौकिक विचित्र सम्पदा है लेकिन जिस समय यह मलिन परिस्थितिमें हो चाहे, निगोद में है, एकेन्द्रिय आदि में है, असंज्ञी पर्याय में है उस स्थितिमें हम यह कहेंगे कि यह लकड़ीसे भी गया बीता होगया है।

लकड़ी परिणमती है पर विह्वलता तो नहीं होती; संक्लिष्ट तो नहीं होती। पर इस जीवकी तो दुर्गति हो रही है।

सत्य की खोज—किन्तु भैया! एक मात्र स्वाधीन तो अपना काम यह है कि अपने सत्यस्वरूपको समझें। प्रत्येक जीवमें सत्यकी जिज्ञासा रहती है। कौन पुरुष ऐसा है जो चाहे कि प्रत्येक पदार्थोंमें मेरी गलत जानकारी हो। गलत जानकारी कोई नहीं चाहता है। सबकी यह इच्छा होती है कि पदार्थोंकी सही जानकारी हो जाय। कोई पुरुष किसी पदार्थके बारेमें यह नही चाहता है कि उल्टी या झूठी समझ रहे। प्रत्येक जीवोंकी इच्छा होतीहै कि मैं शुद्ध जानूं। तो यही तो बात अपनेको करना है कि हम हर एक जगह सत्यको खोज निकालें कि वह सत्य क्या है? सत्य क्या है? परमार्थसे सत्य वह है जो ध्रुव है, जो उत्पाद व्ययका आधार है वह सत्य है। सत्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। जीव तो इन्द्रियों द्वारा जाना ही नहीं जाता किन्तु पुदगल सत्य भी इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता है।

अनिन्द्रिय सत् की खोज की कल्पना में—जो परमार्थ सत्य हैं वह इन्द्रियगम्य नहीं है और इन्द्रियगम्य नहीं है तो, सत्यके जिज्ञासु ऋषि महर्षि संतोंमें इस मर्मके बारेमें किसीने ज्ञानाद्वैत तत्त्व कहा, किसीने चित्राद्वैत तत्त्व कहा, किसी ने शब्दाद्वैत तत्त्व कहा, किसीने ब्रह्माद्वैत तत्त्व कहा, किसीने क्षणक्षयी पदार्थ देखा। तत्त्वमार्ग की भिन्न भिन्न सीढ़ियोंपर वे खड़े होगये।

चिदानंद राजा की प्रतिष्ठा—भैया सत्य तत्त्व क्या है इस मर्मको जानने वाले कौन हैं? इस समस्त लोकमें जहाँ कि समस्त द्रव्य है? उन समस्त द्रव्योंके बीचमें केवल एक चिदानंदघन नवाब साहब ही जाननेवाले हैं। बाकी तो सब मेरे जाननेके ऐश्वर्यकी शोभा बढ़ानेके लिए उपकरणमात्र हैं। क्योंकि सारा विश्व हमारे जानन में आता है। ज्ञेय बनते हैं तो हमारे जाननके ऐश्वर्यके श्रृंगार बढ़ानेके लिए ये सब उपकरण हैं। जैसे किसी रईसके शौक बढ़ानेके उपकरण हवेलियाँ हैं, नौकर चाकर हैं, और-और सर्व प्रकारके कार्य हैं इसी प्रकार यह सारा अलौकिक ऐश्वर्यशाली जीवोंके जाननेके ऐश्वर्यके श्रृंगारको बढ़ानेके लिए उपकरण हैं, ज्ञेय हैं, जाननमें आते हैं। जिसमें जाननका रूपक और विस्तार बढ़ता है इन सब पदार्थोंको केवल जीवद्रव्य ही जानता है। अन्य द्रव्य जानने वाले नहीं हैं।

ज्ञेय सब ज्ञाता एक—इसी प्रकार जितने शेष द्रव्य हैं वे तो ज्ञेय ही हैं। पर जीव द्रव्य जो है वह ज्ञेय भी है और ज्ञान भी है। और-और पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये ज्ञेय हैं, ज्ञान नहीं। ये जानते नहीं। इनका

स्वरूप ज्ञान नहीं हैं अतः वे ज्ञेय ही हैं और यह अजीव द्रव्य ज्ञान भी है और ज्ञेय भी, है इस प्रकार कुछ पूर्वकी गाथाओंमें ज्ञेयतत्त्व का वर्णन करके यहाँ यह बताया जा रहा है कि ज्ञेयपदार्थ तो वे सब हैं पर उनमें जीव द्रव्य जो है वह ज्ञेय भी है और ज्ञान भी है। और बाकीके अन्य समस्त पदार्थ केवल ज्ञेय ही हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं। अर्थात् यह जीव अपनेको भी जानता है इसलिए अपने आपके द्वारा यह खुद ज्ञेय बन गया और यह अपने आपके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंको भी जानता है, जानने के स्वरूप वाला है इसीलिए यह ज्ञान होगया। जैसे दीपक परप्रकाशक और स्वप्रकाशक है। और जैसे रात्रिको देखनेमें आने वाली घड़ी वह स्वप्रकाशक तो है, परप्रकाशक नहीं है। घड़ीके कारण हम और चीजोंको तो नहीं ढूढ़ सकते हैं पर कितने बजे हैं? यह जान सकते हैं। मगर दीपक परप्रकाशक है, खुदभी प्रकाशमय है और दूसरे पदार्थोंमें प्रकाशका यों निमित्त है। इन शब्दों में कह लो कि वह स्व परप्रकाशक है इसी प्रकार यह जीव भी परप्रकाशक है और स्वप्रकाशक है, आत्मप्रकाशक है और अनात्मप्रकाशक भी है। इस प्रकार यह ज्ञान और ज्ञेयका का विभाग होता है कि आत्मा तो ज्ञान व ज्ञेय दोनों हैं, शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं।

जीवत्व क्या है--इन सब द्रव्योंमें जीव द्रव्य तो ज्ञेयरूप भी है, ज्ञानरूप भी है किन्तु शेष द्रव्यमें केवल ज्ञेयरूपता ही है। अब यह निर्णय कीजिये कि इस जीव द्रव्य में निश्चय जीवत्व क्या है? चैतन्य प्राण निश्चयजीवत्व है। चैतन्यप्राणसे यह चेतन तत्त्व सदा जीवित है, अविनाशी है, आत्मवस्तुका स्वरूप-भूत है, इसकी ज्ञानशक्ति अनन्त ज्ञानशक्ति है, वह चैतन्य स्वभाव अनन्त ज्ञानशक्तिरूप है वह अनन्त ज्ञानशक्तिका पुंज है। वह अनन्त ज्ञान शक्ति सहज विजृम्भित है अर्थात् उसके बढ़ते रहनेका स्वभाव है।

निमित्तके अन्वयव्यतिरेकवाले भावके कहीं अत्यन्त अभावकी सम्भावना—स्वामी समन्तभद्र आचार्यने देवागमस्तोत्रमें बताया है कि राग कहीं कम हो, कहीं और कम हो, तो यह भी निर्णय है कि कहीं राग बिल्कुल ही न हों और ज्ञान कहीं अधिक है और कहीं उससे अधिक हो तो इससे यह निर्णय हुआ कि कहीं ज्ञान पूर्ण परिपूर्ण हैं। वहाँ यह शंका उठायी जा सकती कि यदि हमने इससे उल्टा लगाया कि कहीं ज्ञान कम है और कहीं उससे कम हैं तो कोई ऐसा होगा कि जहाँ ज्ञान बिल्कुल नहीं हो। और राग कहीं ज्यादा हैं कहीं उससे कम हैं, तो कही परिपूर्ण भी होगा पर ऐसा नहीं लगाया जा सकता क्योंकि जो पर उपाधिके शिथिल होने पर शिथिल होता है कम होता है उसका कहीं बिल्कुल अभाव होता है और जो उपाधिके शिथिल होनेमें क्षयोपशम होनेमें, अभाव होनेमें जो चीज बढ़ती है वह अधिक बढ़ जाती है, यह युक्ति सही होती है तो ज्ञान उपाधिके अभावमें

चढ़ता है । उपाधिका कहीं बिल्कुल भी अभाव हो सकता है, क्योंकि वह उपाधि ही तो है। उपाधिका पूर्ण अभाव होनेपर ज्ञान परिपूर्ण विकसित हो जाता।

स्वभावकी विलक्षण महिमा—जीवके स्वभावको तो देखो कि इसका ज्ञान तो बढ़ते रहनेका स्वभाव है और इसी कारण इस जीवका नाम ब्रह्म है क्योंकि बृंहति इति ब्रह्म अर्थात् जो अपने गुणसे पूर्ण बढ़ सकता हैं उसे ब्रह्म कहते हैं। इसका गुण है चैतन्य। स्वभाव जैसे पलंग कुर्सियोंमें स्प्रिंग होते हैं, उनके उठा रहनेका स्वभाव हैं । कोई वजनदार पुरुष बैठ जाय तो दबता है उसके निमित्त से। उसे जरा ही मौका मिला तो वह उठनेको ही तैयार है। कोई न रहे तो एकदम पूर्ण उठ जाता है। उसका उठनेका स्वभाव हैं, बढ़नेका स्वभाव हैं। जीवके भी ऐसी विलक्षण ज्ञान शक्ति हैं कि उसके विस्तारका ही स्वभाव है। तो विस्तारका जिसमें स्वभाव हैं ऐसे ज्ञानशक्तिका हेतु चैतन्य प्राण हैं । यह जीव निश्चय से परिपूर्ण हैं । ये निश्चय प्राण जीवके त्रिकाल हैं।

सत् अनादि अनन्त—जो सत् हैं वह कभी नहीं था बीचमें होगया ऐसा कभी नहीं होता। अगर सत् नही था और बीचमें होगया तो कैसे होगया ? उसका उपादान क्या ? जो कुछ भी होता हैं उपादान तो होता ही है ना ? तो जीव नया और होगया तो जीवका उपादान क्या हैं ? जो भी उपादान मानों वह है और पहिले से था जो सत् है वह पहिले से है और अनन्तकाल तक रहेगा । यह मैं सत् हूँ । हैं ना ? हैं होने में संदेह नहीं हैं । अस्तित्वमें तो सन्देह नहीं है। खूब हैं। हां यह बात और है कि चाहे अनेक माया, मिथ्या, निदान, शल्योंसे भरी हुई अनुभूति होती रहें अथवा शुद्ध ज्ञानतत्त्वकी खबर कर सकने वाली अनुभूति होती रहे। तो जब हम हैं तो जो भी वस्तु होती है स्वमात्र मात्र होती है, स्वभावसे प्रथक् नहीं है; सो स्वभावरूप यह आत्मतत्त्व, चैतन्यस्वभावात्मक यह मैं आत्मा सर्वदा हूँ ।

निज चैतन्य स्वभावशून्य लौकिक यश भैभव मृग मरीचिका—ऐसी त्रैकालिक निज चैतन्य स्वरूपकी जब उत्सुकता नहीं रहती, जिज्ञासा नहीं रहती तो समझो अनन्ते संकट इस जीवपर आजाते हैं । संकटोंसे दूर होनेका उपाय एक ही हैं। अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावमय आत्मतत्त्वका अवलम्बन लेनेसे सब संकट नष्ट होते हैं । सब संकटोंके विनासका एक मात्र उपाय है। बड़ोंका बड़प्पन इसी में हैं। लौकिक वैभव बढ़ालें, इससे बड़प्पन नहीं है लौकिक वैभवसे कोई यश नहीं। यशके मायने क्या कि संसारमें भटकने वाले इन प्राणियोंने कुछ वचनोंसे कुछ बोलीसे कुछ ढंग से, जिसको यह अपने अनुकूल समझता, यह जिसको सुनकर अपने मनमें राजी होता उसी के माने यश है । हम ही सरीखे और हमसे भी गये बीते कुछ जीवोंके कुछ वचन सुननेको मिल गये इसी के माने यशकी कल्पना है । सो उन जीवों

में भी सार क्या है ? बड़ेका बड़प्पन यही है कि अपने सहज शुद्ध स्वभावकी दृष्टि करलें। लौकिक धन बढ़ गया, वैभव बढ़ा है। समृद्धि बढ़ गयी, यह सब कुछ बड़प्पन नहीं है। ये हों तो क्या, न हों तो क्या। जीवोंका परिणमन तो चलता ही है। जैसे भी चले। उसका विनाश नहीं हो जाता। जीव तो गुप्त है, सुरक्षित है, उसका कभी नाश नहीं होता है। हाँ उस लौकिक समृद्धिके कारण जीवका विनाश ही समझो, बर्बादी ही समझो। जो बहिर्मुखता में है वह अपने आपमें शून्य बन गया। वह मृगमरीचिकाकी तरह भटकता ही रहता है। उसे संतोष नहीं मिलता।

मृग मरीचिका ही साक्षात मृत्यु—जैसे हिरण गर्मीके दिनोंमें प्यासके मारे रेत में खड़ा हो और वह दृष्टि पसारता है तो देखता है कि आगे लबालब पानी भरा हुआ है। वह सारा रेत पानीकी तरहसे मालूम होता है। वह हिरण उस रेतको पानी समझ कर दौड़ लगाता है पर जब निकट पहुँचता है तो देखता है कि यह तो रेत है। फिर आगे पानी समझकर वह हिरण दौड़ लगाता है और जब पास में पहुँच जाता है तो देखता है कि रेत है। उसके दौड़ लगने से उसकी प्यास बढ़ती जाती है और फिर कहीं उस हिरणके प्राण पखेरू उड़ जाते है।

बाह्य वैभवमें तृष्णाका तांडव—इसी तरह जब अपने आपकी समझ नहीं होती है तो बाह्य वैभवकी ओर दृष्टि लगाई जाती हैं। उस बाह्य दृष्टिसे प्यास बढ़ती ही जाती है, तृष्णा होती ही रहती है, आपत्तियां बढ़ती ही जाती हैं, अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ हो जाती हैं। इन कल्पनाओंके हो जानेसे तृष्णा वृद्ध हो जाती है। अपने सुखके लिऐ ये जगतके जीव विषय साधनाएँ बनाते रहते हैं मगर जब उनके निकट पहुँचते हैं तो आकुलताएँ हो जाती हैं। जब आकुलताएँ हो जाती हैं तो आगे सुख सोचकर और दौड़ लगाते हैं तो वहाँ भी तृष्णा ही सामने दिखाई देती है।

कल्पनाओंका जाल—ये जगतके जीव उस सुखके लिए बड़ा यत्न करते हैं। इन जगतके जीवोंका यही काम हो रहा है। अभी यह काम है आज से दो वर्ष पहिले, ४ वर्ष पहिले ६ वर्ष पहिले कुछ और विचार किया था। क्या होगा कि अब तो वर्ष दो वर्ष में ही ये झंझट छूट जावेंगे। हम जब रिटायर हो जावेंगे तब फिर केवल धर्मकी साधना करेंगे ही, शांतिसे जीवन वितायेंगे। ऐसा सोचते हैं मगर समय गुजरता जाता है और ५-७ वर्ष पहिलेकी अपेक्षा भी अब ज्यादा फसे हुए अपनेको अनुभव करने लगते हैं, और भी फसावा बढ़ने लगता है। वह फसावा क्या बढ़ता? खुद ही फसता जाता है।

भाग्यवानकी चिन्ता हारथरगद—भैया! दूसरा कोई किसी दूसरे प्राणी को फसाता नहीं हैं, स्वयं की कल्पनाएँ बना लेनेसे वे फसे हुए हैं अर्थात्। अपने

ही ख्याल से फसे हैं। यह आत्मा तो स्वयं ही सबसे निराला है, स्वभावमय है, आनन्दमय है, ज्ञानघन हैं, अपने आपमें अपनेआप की सृष्टिको बनाने वाला है। जरा अन्तर्वाह्य बन्धनोंको तो देखो-पता पड़ जाताहै फसे कैसे नहीं है, फसे हैं किन्तु केवल अपने विकल्प जालमें फसे हैं। चिन्ता दूसरोंकी करते हैं जिनका भाग्य अच्छा है, जिनके पुण्यका उदय है उनकी चिन्ता करते हैं, उनको सुखी रखनेके यत्न करते हैं। यह बतलाओ कि जिनकी चिन्ता करते हो उनका भाग्य अधिक अच्छा है कि तुम्हारा ? उनका भाग्य अधिक अच्छा है जिनकी रक्षाके लिए, जिनके सुखके लिए आप बड़ी चिन्ता करते हैं तुम चिन्ता रंच भी मत करो । जिनकी तुम चिन्ता करते हो उनका भी उनके पुण्यके अनुसार लौकिक सुख भरपूर रहेगा। किन्तु भैया ! मृग-मरीचिकाकी तरह हम आपलोगों की यह वाह्य पदार्थोंमें ही दौड़ हो रही है।

परसम्बन्धसे निजनिधिकी लूट—भैया । हमारा निचश्य प्राण है चैतन्य। उसके ही द्वारा हम जीवित हैं तो भी संसारकी अवस्थामें अनन्त प्रवाहसे चले आये हुए पुद्गल कर्मका संश्लेष है उससे यह तिरोहित रहता है इस कारणसे चार प्राण करके सम्बन्ध हो गया है अर्थात् इन्द्रिय, बल, आयु, और स्वासोच्छ्वास इन चार प्राण करके जीवितपना हो रहा है। कोई विशेष निधिका अधिक अधिकारी किसी ठगों के द्वारा बहका लिया जाय तो निधि गमा देता फिर सामान्य चीज ही उसके हाथ रह जाती है।

मणिके अपारखीका दृष्टान्त—जैसे कथानकमें कहने लगते हैं कि कोई लकड़-हारा था उसे कहीं से एक रत्न मिल गया । वह रत्न लिए जा रहा था। कोई जौहरी मिला, कोई दूकानदार मिला तो लकड़हारा बोला कि हमें भोजन करा दो। तो दूकानदार ने कहा, क्या है तेरे पास। तो बोला पैसे तो नहीं हैं, यह पथरा है। वह दूकानदार पहिचान गया कि यह रत्न है सो जितना वह खाना चाहता था उससे चौगुना खाना देकर पथरा ले लिया। लकड़हारा खुश हो गया, सोचा कि एक पथरे से ४-६ दिनको खानेको मिला। उस दूकानदार के लिए तो वह पथरा आनन्द की चीज थी, अज्ञानीको वह पथरा ही था।

राज्य क्या ?—भैया, इसी तरह अपने आपकी आनन्द निधिकी उपमा दुनियामें ढूढ़ो तो वह प्रभू ही मिल सकता है । मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्तिसुखज्ञाननिधान । मेरा सहज स्वरूप भगवानके स्वरूपकी तरह है, किन्तु पंचन्द्रियों और मनके विषयोंमें वहक गया हूँ । सुख तो हम स्वमें लिए हुए हैं। जितना सुख हम चाहते हैं उससे अनन्त गुणा वल्कि अलौकिक सुख हमारे स्वरूपमें भरा हुआ है। उसे भूलकर हम दीन बन रहे हैं। कभी घरमें किंसी

वृद्ध पुरुषसे पूछो कि भाई अब तुम शांत हो ना ! तो कहेगा कि बड़ी शांति है, कोई तकलीफ नहीं, कोई शल्य नहीं। सब मौज है, चार लड़के हैं, इतने पोते हैं, इतने नाती हैं। बड़ी मौज है मेरेमें किसी प्रकारका शल्य नही चल रहा है। पर मेरे चार लड़के हैं ऐसा विचार ही तो शल्य है।

निज स्वरूप की दृष्टि ही जीवन—जीवन तो वह है कि जहाँ उपयोग में अपना शुद्ध निर्मल चैतन्य स्वरूप अधिक अधिक दृष्टिमें आता रहे। वास्तविक जीवन तो वही है। नहीं तो वह जीवन कैसा कि मरकर पेड पौधे हो गये, तिर्यंच हो गये, नारकी हो गये। जीवन तो अपना तब सफल है जब अपने आत्माका पोषण हो। आत्माका पोषण कैसे हो कि अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका अनुभव हो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे को ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं लाना है। रागादि विकारके द्वारा ज्ञानका जो तिरोभाव है वह न रहे यही आत्मका विकाश है।

निज स्वरूपके अज्ञानका फल—भैया निज स्वरूपको न जाना सो यह विभक्तव्य हो गया और, कैसे विभक्तव्य हो गया ? किसी में १० प्राण हैं किसी में ९ प्राण है किसी में ८ प्राण है किसी में ६ है किसी में ५ हैं किसी में ४ हैं, किसी में ३ हैं। एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्था में हैं तो उनके केवल तीन प्राण हैं। कायबल, स्पर्शन इन्द्रिय व आयु। और जीवोंको देखो कितने ही भेदोंके प्राण हैं। निश्चयसे चैतन्य प्राणसे जीवित होनेका और ज्ञानानन्दके पूर्ण विकासके अनुभव होनेका आत्मका स्वभाव था और किसी की यह दशा हो गयी है। सो आपत्ति हो या सम्पत्ति हो, इस जीवके लिए वर्बादीके दोनो ही कारण हैं। और कदाचित् आपत्तिसे सम्पत्ति ज्यादा भयंकर है। जीव को तृप्ति और संतोष तो वास्तवमें आपत्तिमें रह सकता है। सम्पत्तिमें तो तृप्ति और संतोष प्रायः सम्भव ही नहीं है।

सम्पदामें आत्मसावधानीकी विरलता—भरत चक्रवती जैसे दृष्टांत सुनने को मिलते हैं और कोई विशिष्ट पुरुषार्थी पुरुष अब भी ऐसे हैं कि सम्पत्तिके बीच में रहते हुए भी सम्पत्तिसे विरक्त हैं। और उस विरक्तिके कारण, अपने ज्ञानके कारण अपने आपमें सन्तुष्ट रहा करते हैं। फिर भी मुकाबलेतन आपत्तियोंमें रहकर आत्मतृप्ति और आत्मसंतोषके पानेवाले अधिक हैं और सम्पत्तिमें रहकर आत्मतृप्ति आत्मशांतिके पानेवाले कम हैं। कारण यह है कि आपत्ति परसे उपेक्षा बनाने में सहायक होती हैं और जबकि सम्पत्ति परसे उपेक्षा बनानेमें सहायक तो क्या हो, किन्तु परमें लगाने में, आशक्ति बनानेमें सहायक होती है। इस तरह इस जीव की दशा बड़ी दयनीय चल रही है।

अज्ञानीके बाह्य इष्ट संयोग कुगतिके कारण—थोड़ा जो बड़ा है तो वह इस बड़प्पनसे क्या संतोष ! कैसा आज मनुष्य है श्रेष्ट ज्ञान है, इन्द्रिय पुष्ट हैं, पुण्य का सुयोग है, थोड़ा टाटबाट है। उनसे क्या संतोष किया जाय। ये सब कितने दिन की चीजें हैं। यह मनुष्य भव ऐसा श्रेष्ट है पर ये इन्द्रियपुष्टिकी चीजें कितने दिनों के लिए हैं ? ये मिटेंगी और इनकी क्या स्थिति बनेगी ? स्थिति क्या बनेगी ? जिसने इस अनात्मतत्त्वसे प्रेम किया, यदि बहुत आरम्भ किया, बड़े-बड़े काम काज लगा दिए हैं एक यह भी मिल है, एक यह भी दूकान है, ये भो पचासों शाखायें हैं, यह करते हैं, वह करते हैं, आदि, बहुत-बहुत आरम्भ किए, बहुत-बहुत परिग्रह लगा रक्खे है तो क्या गति होगी ? उसे हम क्या कहेंगे ? उमास्वामीजी ने स्वयं कह दिया कि बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।

मायाचारी परिणतिका फल—यदि मायाचारका जीवन व्यतीत हुआ। कहें कुछ, करें कुछ, बोलें कुछ और इस प्रवृत्तिके अन्दर इतनी दुर्गति फसी हुयी है कि ऐसा करनेके परिणाममें चाहे कोई मरे कुछ भी परिस्थिति हो पर इतना स्वार्थ है कि ऐसा होना ही चाहिए। इस तरहकी वृत्तिमें जीव मायाचारी रहता है तो उसका क्या परिणाम होगा ! यह सूत्र जी में लिखा है। माया तैर्यग्योनस्य।

सत्वेषु मैत्री परिणति—यदि कुछ-कुछ वृत्ति मंदकषायोंकी है, आत्मसयम की है, स्वाभाविक सरलताकी है, सम्यक्त्व परिपूर्णकी है, ज्ञानकी ओर झुकने की, आत्मतृप्ति, आत्मसंतोष कभी-कभी बना लेनेकी वृत्ति है तो इन परिणामोंके फलमें देव आयु बंध जायगा, मनुष्य आयु बँध जायगा। सम्भव है कि फिर अच्छी परिस्थितिके हो जायेंगे। तो सबसे बड़ा काम है अपना सुधार। इसमें दूसरोंके बिगाड़ करके अपना सुधार करनेकी बात नहीं है। मेरा तो यों सुधार हो और जगत के अन्य जीवोंका भी सुधार हो, मित्र मंडलीके लोगोंका सुधार हो। मेरा ऐसा ही सुधार हो जिसमें दूसरेके सुधारसे मुरकना न पड़े, ऐसी भावना जम जाय तो यही एक करनेका काम है। और यही हमारा और आपका बड़प्पन है। बाह्य वस्तुओंसे अपना बड़प्पन नहीं है।

मोक्ष लाभ 'त्याग रूप'—इस व्यवहार जीवत्वके हेतुभूत जिन चार प्राणोंसे सम्बन्ध बन गया है वे मेरे जीवके स्वरूप नहीं हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप जो मेरे ही अस्तित्वके कारण है, अपने ही स्वभावसे है वह है केवल प्रतिभासस्वरूप, चैतन्य स्वरूप। ज्ञाता द्रष्टा रहना, यही मेरा काम है ऐसा ज्ञान बना रहनेसे मेरा लाभ है। ऐसा रहते हुए कदाचित् बाह्य पदार्थमें कुछ कमी आ जाय तो आ जाय। और कहें क्यों, मगर यों होता है कि अपने आपकी उन्नति होते हुए में जब तक संसारमें रहना पड़ रहा है लौकिक वैभवोंकी वृद्धि होती है। जितने जीव मोक्ष गये हैं उनमें

अधिकतर ६० प्रतिशत ६५ प्रतिशत, ६६ प्रतिशत जीव ऊँचे बनकर वैभवशाली होकर, राजा होकर, सेठ होकर और बहुतसा वैभव पाकर सर्व परित्याग कर मोक्ष गये हैं। एक प्रतिशत ही ऐसे पुरुष होंगे जो कम धनी रहे हों, गरीब रहे हों, वैभवशून्य रहे हों, किन्तु ज्ञानबल उनका बढ़ गया हो, सत्य वैराग्य हो गया हो। आत्मबल इतना तो ले ही लेना जितना कि कोई धनी कोई राजा, जब सम्पत्तिको छोड़कर प्राप्त करता है और उस आत्मबल को प्राप्त कर मुक्त भी होजता है।

आत्मोन्मुखताकी महिमा—भैया! इस आत्मोन्मुखतामें होते हुए जो राग शेष रहते हैं उन रागोमें इतना बल हो जाता कि वे सातिशय पुण्यके बंध करने वाले हो जाते। किसी अफसरके साथ रहनेवाले चपरासीमें इतना बल हो जाता है कि उसे बड़े सेठ तक मनानेका मन करते हैं। इस ज्ञानकी आत्मविभूतिके साथ शेष रहे रागका इतना बल है कि उस रागके कारण विशिष्ट सातिशय पुण्य कर्मो का बन्ध बन जाता है। पर उसकी दृष्टि क्यों होगी ? उस बाह्य दृष्टिमें वह बड़ा नहीं हो सकता है।

जीव परमार्थसे चैतन्य प्राण करि जीवित है पर अनादि कालसे प्रसिद्ध लगी हुई जो कर्म उपाधि है उसके सान्निध्यमें में जीव जिस परिस्थितिमें है वह परिस्थिति है व्यवहार जीवपने की। अर्थात् द्रव्य प्राणों करि जीवनेकी। वे ४ प्राण कौन है जिसके जीवनेके कारण इसमें व्यवहार जीवपना आया उस जीवपनेका वर्णन करते हैं —

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥

प्राण १० होते हैं। ५ इन्द्रिय प्राण, ३ बल प्राण, एक आयुप्राण और एक श्वासोच्छ्वास प्राण। इस तरह संसारी जीवोंके याने जब तक मुक्ति नहीं होती है तब तक जीवोंके यथा संभव १० प्राण होते हैं। प्राण वे कहलाते हैं जो कि पदार्थो की जान हैं। जिसके ये प्राण न रहें तो वह नहीं रहता। जैसे मनुष्यके १० प्राण हैं! यदि ये प्राण न रहें तो मनुष्य नहीं रहता। ये जीवके परमार्थभूत प्राण नहीं हैं कि ये प्राण न रहें तो जीव न रहेगा ये संसारी जीवके प्राण हैं। प्राण न रहें और संसार में रहें यह कैसे हो सकता है ? जिसका जो प्राण माना गया है उसी में यह बात घटाना चाहिए कि ये प्राण न रहें तो यह न रहेगा।

जीव के भावात्मक भावप्राण त्रिकाली हैं : द्रव्य इन्द्रिय नहीं—जीव का परमार्थसे चैतन्य प्राण हैं। यदि चैतन्य प्राण न हो, (यह कल्पना की है, न रहें ऐसा तो हो ही नहीं सकता, पर न हो तो फिर जीव कुछ नहीं है। ये १० प्राण हैं जिसमें पहिले पंच इन्द्रियोंका वर्णन है स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पंचेन्द्रिय

प्राणोंसे मतलब द्रव्येन्द्रियसे नहीं है। यहाँ शरीरमें प्रकट होनेवाले इन द्रव्येन्द्रियों को नहीं लेना है; किन्तु भावेन्द्रियके प्राणोंको लेना है, कल्पनाके लिये यदि किसी की नाक कट जाये, आंख फूट जाय तो उसमे उस मनुष्यका जीवन (प्राण) नहीं मिट गया। अतः यह सिद्ध है कि द्रव्य इन्द्रियमात्र जीवके प्राण नहीं हैं, किन्तु भावेन्द्रिय ही जीवके प्राण हैं। आँख फूट जाय पर यह भावेन्द्रिय गटावाली आँख नहीं है सो वह मनुष्य नहीं मिटता। भले ही कुछ मर्म साधन ऐसा है कि जिसका इनका आधार न होनेपर इस जीवका मरना सम्भव है अर्थात् यह भावेन्द्रियसहित यहाँ से निकल जाता हैं, तो भी प्राण शरीरके अंग नहीं होते किन्तु वे भावेन्द्रिय ही प्राण हुए।

सयोग केवली में केवल ४ प्राण क्यों—जैसे पूछा जाय कि सयोग केवली भगवानमें कितने प्राण होते हैं ? तो ४ प्राण होते हैं। एक वचनबल एक कायबल, श्वासोच्छ्वास और एक आयु ये ४ प्राण माने हैं, छह कौनसे क्यों छूट गये ? पांच इन्द्रिय प्राण और एक मनोबल ये ६ प्राण छूट गये। इन्द्रिय प्राण क्यों छोड़ दिए गये यद्यपि इन्द्रिय सब हैं ? किन्तु, इसलिये वे छूट गये कि द्रव्येन्द्रिय प्राण नहीं। देखो भैया ? एक साधु साधक अवस्थामें है पूर्वोपार्जित कर्मविपाकसे उसका हाथ लचक गया, नाक कट गयी या पैर टूट गये फिर भी वे साधु ही तो हैं, साधना तो कर रहे हैं। साधनासे यदि उनको केवलज्ञान प्राप्त हो जाये, वे केवलज्ञानी भगवान बन जायें तो वे नष्ट भ्रष्ट वे इन्द्रियाँ सब सुन्दर स्थितिमें हो जाती है। अर्थात् तब फिर अङ्ग छिन्न-भिन्न नहीं रहते है कान, नाक, हाथ आदि अवयव कटे नहीं रहते हैं, ऐसा केवल ज्ञानका अतिशय है। उनका वह शरीर परमौदारिक शरीर हो जाता है।

इन्द्रिय प्राणों से प्रयोजन क्या—सो भैया ! इन्द्रिय प्राणोंसे प्रयोजन द्रव्येन्द्रिय से नहीं है, भावेन्द्रिय से है। भावेन्द्रियका अर्थ है द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे तद्विषयक ज्ञान का उपयोग होना। केवलीके इन्द्रियावरणका क्षयोगसम नहीं है, क्षय है क्योंकि उनके केवल ज्ञान है सो उस जातिके उपयोग नहीं है इसलिए वहाँ भावात्मक प्राण नहीं रहते हैं। शरीर है इस वजह से द्रव्येन्द्रिय होते हैं।

द्रव्य इन्द्रियोंके प्रयोजनमें अन्य उदाहरण—दूसरा उदाहरण—जैसे कोई एकेन्द्रिय मरा और मरकर मनुष्य हुआ है तो मृत्युके बाद मनुष्य गतिमें जीवको एकेन्द्रिय कहा गया कि पंचेन्द्रिय ? पंचेन्द्रिय कहा गया। एकेन्द्रिय नहीं कहा जायगा एकेन्द्रियका भव तो मिट चुका अब विग्रहगतिमें रहनेवाला जीव या जन्मस्थान पर पहुँच कर अपर्याप्त अवस्थामें रहने वाला जीव पंचेन्द्रिय कहा जायगा, यद्यपि उसमें द्रव्येन्द्रिय नहीं प्रकट होती। विग्रहगतिमें तो द्रव्येन्द्रियके योग्य आहार वर्गणावों को भी नहीं ग्रहण किया गया, फिर भी वह जीव पंचेन्द्रिय है तथा अपर्याप्त

अवस्थामें यद्यपि आहारवर्गणाओंको ग्रहण किया है परन्तु पूर्ति तो नहीं हुई है। प्रश्न फिर आप उन्हें पंचेन्द्रिय क्यों कहते हैं? उत्तर—उन्हें इस कारण पंचेन्द्रिय कहते हैं कि उनके पाँचों भावेन्द्रिय हो गये है।

स्पर्श गुणकी सामान्य विवेचना—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंका साधारण वर्णन इस प्रकार है, स्पर्शन-जिसके द्वारा स्पर्शका ज्ञान हो उसे स्पर्शन कहेंगे। स्पर्श पुद्गलगत पर्याय है। तद्विषयक ज्ञान जीवगत ज्ञान है। वस्तुतः जीव स्पर्शका ज्ञान नहीं करता है, किन्तु जैसा स्पर्श है, जैसा वह ज्ञेय है उस आकाररूप अर्थात् तद्विषयक ज्ञानरूप यह जीव परिणमता है, तब कहते हैं इसने स्पर्शका ज्ञान किया। स्पर्श तो पुद्गलगत गुण और पर्याय हैं। एक गुण अपनी क्रिया दूसरे द्रव्यमें नहीं प्रयुक्त करता है पर हमें सभी स्पष्ट जानकारियां होती हैं कि यह ठंडा है, इसमें गर्मी है। आत्मामें ठंडेपनका परिणमन नहीं जाता, किन्तु यह ठंडा है, इत्याकारक जो जानन है उस जाननपरिणतिसे हमने अपनेमें अपने आपका प्रयोग किया है।

स्पर्श विषयमें द्रव्योंकी प्रयक्ता—पुद्गलमें स्पर्श चार होते हैं—स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण। ये समस्त पुदगल द्रव्योंम पाये जाते हैं। एक साथ दो पाये जाते हैं स्निग्ध रूक्ष में एक व शीत उष्ण में एक। जब उन पुद्गल द्रव्योंकी व्यंजन पर्याय होती है याने वे स्कंध बनते हैं तो उनमें ४ अवस्थायें और प्रकट होती हैं। हल्कापन, भारीपन, कोमल और कड़ापन ये चार अवस्थायें पुद्गल द्रव्यमें स्वयं स्वरूपगत नहीं है! कोई पुद्गल कोमल, कोई कड़ा, कोई वजनदार और कोई हल्का होता हो, ऐसा नही है। पुद्गलका आशय एक-एक अणु से हैं, जो अपना एकत्व लिए हुए हैं। पदार्थ जितने होते हैं वे अपना एकत्व लिए हुए हैं, अपना निजस्वरूप लिए हुए हैं। स्कन्ध एकत्व विभक्त नहीं है तो स्कंध अवस्थामें ये चार अवस्थायें और प्रकट हो जाती हैं। चूँकि ये चार अवस्थायें भी स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ज्ञात होती हैं इसलिए इन्हें भी स्पर्श कहते हैं। इस प्रकार ८ प्रकारका स्पर्श जिस इन्द्रियके द्वारा जाने जायें उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं।

रसना विषयमें द्रव्योंकी स्वतन्त्रता की विवेचना—रसना इन्द्रिय—५ प्रकार के रस खट्टा, मीठा, कड़ुआ, चरपरा और कषायला ये पांच प्रकारके रस जिस इन्द्रियके द्वारा जाने जाते हैं उसे रसनाइन्द्रिय कहते हैं। रसना इन्द्रियके ये ही पांच विषय हैं। रस पुद्गल पदार्थोंका गुण है, परिणमन हैं। तद्विषयक जो बोध होता है उससे ज्ञानका उपचार हम बाह्य पदार्थोंमें करते हैं। हमने रसको जाना सो उसके ज्ञेयभूत पदार्थका उपचार करके कहा करते हैं कि हमने रसका ग्रहण किया। यह व्यवहारमें अत्यधिक आयी हुई चीज बन गयी है, पर वस्तुस्वरूपको

देखें तो पुद्गल अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं। जीव अपनेमें अपना परिणमन कर रहा है। यह हुई रसनाकी बात।

घ्राण विषय में द्रव्यों की स्वतंत्रता—घ्राण इन्द्रिय-जिसके द्वारा गंध जानी जाय उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। देखो कि स्पर्शन इन्द्रिय तो बहुत व्यक्त है, समझ में आ रही है, आंखों देख रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रियको आंखोंसे देखनेपर ऐसा लगता है कि यह सारा समूचा जितना अंग है वह सब स्पर्शन इन्द्रिय है। इस समूचे अंगमें जो स्पर्शके ज्ञान करनेकी मायावाला तत्त्व है वह स्पर्शन इन्द्रिय है। यह व्यक्त इन्द्रिय समझमें आती है पर रसना इन्द्रिय नहीं नजर आती है। जीभ निकाल कर बता देगें तो वह छूनेमें आती है ठंडी है कि गर्म है सो स्पर्शन है। रसके ग्रहण की माद्दा वाला जो तत्त्व है वह रसना इन्द्रिय है। यह नाक स्पष्ट समझमें आती है कि इससे गंध आती है। नाकके अन्दर रहनेवाले किसी स्थानके पर्देसे यह गंध आती है। सो वास्तविक घ्राण इन्द्रियका स्थान विज्ञात नहीं होता। वह कुछ और विलक्षण चीज जैसे है? जो गंध ज्ञान करनेका माद्दा रखता है ऐसा जो कोई तत्त्व है वह घ्राण इन्द्रिय है। इसी कारण स्पर्शन इन्द्रियको ही व्यक्त शब्द से कहा है।

चक्षु इन्द्रियोंके विषय में रूढि—चक्षुइन्द्रिय—जिसके द्वारा पांच प्रकारके रूपका ज्ञान हो उसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रिय देखनेका काम नहीं करती किन्तु जाननेका काम करती है। आंखके द्वारा जो देखा जाता है उसे व्यवहारमें देखना कहते हैं और देखनेकी रूढियां हो गयीं हैं। देखना शब्द तो दर्शनगुणके परिणमनके लिए बोलना चाहिए, किंतु चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानका दर्शनगुणके परिणमनरूप देखनेके साथ समानता है सो देखने शब्द कहनेकी रूढि हो गई है। जैसे दर्शनमें कोई तरंग नहीं उठती है और एक जैसा है तैसा अवलोकन मात्र है। सो दर्शनगुण के परिणमनकी तरह ही तो नहीं, किन्तु समझमें कुछ यह आता है कि चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो कुछ भी जानना होता है वहां आँखोंका वश नहीं चलता। दूर दूर ही अवलोकनमात्र है। ऐसी कुछ समता है दर्शन गुणके परिणमनमें और चक्षुदर्शनमें। आंखोसे दूरकी चीज देखते हैं तो देख लिया, और कुछ उसमें उद्योग नहीं चलता। जैसे हाथसे कोई चीज छू ली तो उसे तोड़ा मरोड़ा। रसना इन्द्रिय से कोई चीज चुरा ली, चबाली या उसकी विडम्बना बना ली, तथा घ्राण इन्द्रियसे गंध कैसी लगती है और उसमें भी कुछ विडम्बना जैसा अपना उद्योग बना है। इस तरह आंखोंसे देखी हुई चीज में वश कुछ नहीं चलता है। अगर वश चलता तो फिर क्या है। बहुत से साधन न हों तो भी काम चल जाय। जैसे रोटी बन रही है और आग जल नहीं रही है, तो तेज आँखोंसे देखो तो आग जल जाना चाहिए। यों क्या आग जल जायेगी? नहीं जलेगी। यों क्या रोटी पक जायगी? नहीं।

चक्षु का एक काम केवल जानना भर है। जानना तो सभी इन्द्रियों का काम है मगर व्यवहारमें जहाँ कुछ प्रतिभास सा नजर आता है। उसके आधारपर व्यवहार से आँखोंसे जाननेका काम देखना बताया है, पर आंखोंसे देखा नहीं जाता है। आँखों से तो जाना जाता है! सभी इन्द्रियोंसे देखनेका काम नहीं होता, जाननेका काम होता है। तो चक्षु इन्द्रियको कहते हैं कि जिसके द्वारा पांच प्रकारका रूप जाना जाता है उसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। रूप पाँच प्रकारका ही होता है। काला, पीला, नीला, लाल, सफेद। देखनेमें हजारों रंग आते हैं पर वे सब क्या हैं कि इन पाँचों रँगोंके हल्कापन व तेजपन होनेसे विभिन्न रूपक हैं तथा परस्परके मेलके रूपक है। जैसे परस्परमें पीली हल्दी और सफेद चूना मिल जाता है तो लाल हो जाता है। सो जिस प्रकार हरा रंग स्वयं कुछ नहीं है। नीला पीला रंग मिल जानेसे हरा रंग बन जाता है। इसी प्रकार इन रंगोंके मेल व रंगोंकी तीव्रता मंदतासे अनेक भेद हो गये हैं पर मूलमें जातिमें रूप पांच प्रकारके हैं। इनके जानने का निमित्त चक्षुइन्द्रिय है। श्रोत्र इन्द्रिय जिस इन्द्रियके द्वारा शब्दका ज्ञान हो उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं। यह शब्द पुद्गल द्रव्योंका गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्यकी व्यंजन पर्याय है, द्रव्य पर्याय है।

इन्द्रिय, मन वचन और कायबल का मोह प्रसार—ये पंचेन्द्रिय प्राण तीन बल मनोबल वचनबल और कायबल। ये प्राण बल, बल प्रतीत हो रहे हैं और इन बलों से जीव अपनेको बलिष्ट समझते हैं याने अन्य शब्दोंमें, इनका अहंकार करते और इन प्राणोंके मोहसे प्राणोंके अनुरागसे अपने परमार्थ शुद्ध चैतन्य प्राणका तिरोभाव कर देते हैं। ये मोही जीव एक यथार्थ और परमार्थको भुलाकर अत्यन्त निस्सार अयार्थ पदार्थको सर्वस्व मानते। अहो यह कितना मिथ्या आशय और मिथ्या अहंकार हैं। हे भगवन् आत्मन् अपनी इस गम्भीर भूलपर दृष्टि तो कर। जीवका चैतन्य बल इतना विशिष्ट तत्त्व है कि जिस विकाशके द्वारा यह जीव समस्त विश्व तीन लोक और तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक समयमें यथावास्थित स्पष्ट परिपूर्ण जानता हैं? इतना विशिष्ट बल तूने इन प्राणोंके अनुरागमें तिरोभूत कर दिया है। देख देख! और जो इन प्राणोंके रहते हुए इनकी दृष्टि छोड़कर, परमार्थ चैतन्य प्राणों की दृष्टि करते हैं उनमें से शुद्ध बल स्वयमेव प्रकट होता है। इन प्राणोंके अनुरागसे हम मोही जन वास्तविक निधिको तिरोभूत कर रहे हैं।

मन, वचन, काय बल का कार्य—ये मनोबल वचनबल और कायबल क्या है? बहुत अच्छी कल्पनाएं कर सकें, जान सकें, समझ सकें, वह मनोबल है। वचन बल-वचनों को बोल सकें, यही वचनबल है और कायबल–जैसी कि शक्ति दीखा करती है; शरीरमें काम करनेकी, शरीरसे ठहरनेकी, स्थिति रह सकनेकी आदि यह सब

कायबल है इस प्रकार पाँच इन्द्रिय तीन बल ये आठ प्राण हुए और ९ वां प्राण कहलाता है आयु। जो भवोंके धारण करनेमें निमित्त भूत हो वह आयुबल प्राण है।

आयुबल और उसके उत्पाद व्यय की विवेचना—भैया जब तक आयु रहती है एक विशिष्ट भाव रहता है। आयुक्षय होनेपर दूसरा भाव हो जाता है जैसे किसी जीवके ८ बजकर दो समय तक मनुष्य आयुका उदय है और ८ बजकर तीसरे समयमें देव आयुका उदय हो तो आयुका क्षय किस समय कहेंगे। क्या आप दूसरे समयमें मनुष्य आयुका विनाश कह सकते हैं? वहाँ तो मनुष्यायुकी सत्ता है, विपाक है, सो नाश नहीं कह सकते हैं। मनुष्य आयुके क्षयका जो समय है वही देव आयुके उदयका प्रथम समय है। जो देव आयुके उदयका प्रथम समय है वही मनुष्य आयुके क्षयका समय है। जैसे मिट्टीका घड़ा बना तो घड़े का उत्पाद और लोंदेका विनाश ये दोनों एक समयमें है। यों घड़ा फोड़ दिया तो खपरियोंका उत्पाद और घड़ेका विनाश दोनों एक ही समयकी चीजें हैं खपरियोंके उत्पादको ही घड़ेका विनाश कहते हैं। ऐसा नहीं है कि घड़ेका विनाश हो और खपरियोंका उत्पाद न हो। इसी प्रकार मनुष्यायुका विनाश और देवायुका उत्पाद एक चीज है। जो देव आयुका उत्पाद है उसीको कहा जाता है मनुष्यायुकी समाप्ति हो गई।

आयु के सम्बन्ध में लोकोक्ति—भैया! जैसे लौकिक जन कहते हैं कि मनुष्य मर गया, मगर जब तक १०-२० आदमियोंको न खिला दे, पंगत न कर दे तब तक जीव डोलता रहता है सो ऐसा नही है। मरण जन्मका ही नाम है। जन्मके प्रथम समयमें पूर्वभवका मरण है। मरण होते ही दूसरी गतिमें जन्म हो जाता है। जब पेटमें ९ महीने रहे और पश्चात् बाहर उत्पन्न हुआ तो उसे जन्म कहते हैं, यह बहुत मोटी बात है। जन्म तो आयुके विलीन होते ही इसका हो गया। विग्रह गतिमें दूसरा जन्म लिए हुए जीव है। उसे तलाशनेके लिए नहीं डोलना पड़ता है। जीवका दसवां प्राण है श्वासोच्छ्वास श्वासका लेना; फेकना, श्वासोच्छ्वास प्राण है। संज्ञी अवस्थामें जीव इन दस प्राणोंके द्वारा व यथासम्भव प्राणोंके द्वारा जीकर रहते हैं। इन प्राणोंका यही कार्य है।

जीवमें क्षयोपशमानुसार प्राण—प्राण ११ होते हैं। ये प्राण अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार जीवोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे पाये जाते हैं। जैसे ऐकेन्द्रिय जीवोंमें चार प्राण होते हैं। जीवोंमें प्राणोंकी संख्या समझनेके लिए हम प्राणोंके चार भागोंमें विभक्त कर लेना चाहते हैं। इन्द्रिय प्राण बल प्राण, स्वासोच्छ्वासप्राण और आयु प्राण अच्छा, एकेन्द्रिय जीवकी प्राणसंख्या बनाना एकेन्द्रिय जीवमें एक तो इन्द्रिय, स्पर्शन, एक बल कायबल, आयु और स्वासो स्वाच्छ्वास ये चारों प्राण हैं।

किन्तु अपर्याप्त अवस्थामें एकेन्द्रिय जीवमें स्वासोच्छ्वासको छोडकर केवल तीन प्राण ही हैं।

दो इन्द्रिय जीवके प्राणोंके नाम व संख्या—दो इन्द्रिय जीवके ६ प्राण होते हैं। यथा दो इन्द्रिय प्राण और दो बल प्राण वचनबल और दूसरा कायबल श्वासोच्छ्वास व आयु। दो इन्द्रिय जीवके जिह्वा है जिससे वचन बोलता है और वही दो इन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्थामें है तो उसके चार प्राण रहते हैं। वचन बल और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं रहते हैं।

तीन, चार और पांच इन्द्रिय जीवो में प्राणों की संख्या व नाम—इसी प्रकार तीन इन्द्रिय जीवमें एक इन्द्रियप्राण बढ़ गया ७ प्राण होगये, तीन इन्द्रिय जीवमें अपर्याप्तमें वचन बल और स्वासोच्छ्वास नहीं है। चार इन्द्रियमें चार इन्द्रिय दो बल श्वासोच्छ्सोवास और आयु है। चतुरेन्द्रिय जीवके अपर्याप्त अवस्थामें छः प्राण हैं असंज्ञी पंचेन्द्रियके मनोबल बिना ९ प्राण हैं। यदि वह अपर्याप्त है तो वचन बल श्वासोच्छ्वास और मनोबल नहीं। सो असैंनी पंचेन्द्रिय जीवके अपर्याप्त अवस्थामें ७ प्राण हैं। संज्ञीके १० प्राण हैं और यही संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त होते हैं तो ७ प्राण हैं। मनोबल, वचन बल और श्वासोच्छ्वास नहीं होते हैं। अब प्राण शब्दकी निरुक्ति द्वारा यह बतलाते हैं कि प्राण जीवत्वके हेतुभूत है और वे प्राण पौद्गलिक हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणापुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ १४७ ॥

प्राणोंसे जीवकी सिद्धि—जो प्राणसामान्यसे जीता है, उसे जीव कहते हैं। यह व्यवहार प्राणकी अपेक्षा बात कही है, इन १० प्राणोंमें यथासम्भव कितने ही प्राण होनेपर जीता है सो जीव है। प्राण सामान्यके मायने चार प्राण पाये जाते हैं। एकेन्द्रिय हों तो, और पंचेन्द्रिय हों तो चार प्राण हुआ करते हैं। अतः जो यह प्राणोंकर जीता था, जी रहा है, जीवेगा उसे जीव कहते हैं। सिद्ध भगवानका यह लक्षण भूतकालकी अपेक्षा हुआ। इन प्राणोंकर जीता था, संसारी जीव भूत व बर्तमानकी अपेक्षासे है। जो इन प्राणोंकरि जीता था और जीवेगा उसे जीव कहते हैं। सो अनादिसे यह जीव प्राणयुक्त चला आया हैं और तीनों समयोंमें जीव प्राणयुक्त रहने वाला है उसके प्राण सामान्य जीवके जीवत्वके हेतुभूत है ही। यहाँ प्राण सामान्यसे मतलब इन चार प्राणोंसे है अर्थात् जीवके जीवत्वके हेतुभूत ये चार प्राण हैं, ये पहिलेथे, अब हैं व आगे रहेंगे।

प्राण से जीवके स्वभावकी सिद्धि नहीं—यद्यपि ये प्राण सब संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं लेकिन ये जीवके स्वभाव नहीं होते हैं अर्थात् यह इन्द्रिय प्राण, बल और आयु, स्वासाछ्वास आदि ये सब पुद्गलरचित होनेसे जीवके स्वभाव नहीं बन

सकते । ये पुदगल द्रव्योंके द्वारा कैसे रचे गये हैं, । इस बातपर आगे विचार करेंगे। यहां यह निर्णय करलेना योग्य है कि इन प्राणोंमें हम आप जो फसे हैं, इनमें फसे हुए होकर भी हम अपनी योग्यतासे सदुपयोग भी कर सकते हैं यानी हम कुछ अपनी उन्नति कर सकते हैं और दुरुपयोग कर अवनति भी कर सकते हैं।

प्राणोंके दुरुपयोग के प्रकार—इन्द्रियोंका दुरुपयोग क्या है कि पंचेन्द्रियके विषयोंमें जुटकर निरंतर इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयसाधन जुटाना और इन्द्रियों को बलवर्द्धक बनाकर विषयोंकी पूर्ति और नवीन नवीन खोटे खोटे व्यसनों में वृद्धि करना यह सब मनोबलका दुरुपयोग है। स्वेच्छानुसार वजन बोलना परके पीड़ाकारक, हानिकारक, क्षोभकारक या खराव वचन बोलना ही वचन बलका दुरुपयोग है। असावधानी पूर्वक शरीरसे दूसरोंको पीड़ा देना यह काय बलका दुरुपयोग है । श्वासोच्छ्वासका दुरुपयोग क्या है ? खोटे-खोटे कामोंमें अपना उद्यम करना, हाँपते रहना आदि और स्वासोच्छ्वासका दुरुपयोग हो सकता है।

प्राणोंके सदुपयोग का ब्योरा—इन प्राणोंका यदि सदुपयोग करें तो किस तरहसे कर सकते हैं ? चाहे बिषयप्रवृत्ति करो, चाहे तीर्थपूजन आदि करो ऐसी क्रिआओंको करेंगे तो इन अंगोंका सदुपयोग बता सकोगे।जिव्हा इन्द्रियसे वचन बोलनेकी अथवा रसलेनेकी बात है। रसमें तो आशक्ति न रक्खो और अच्छी वाणी बोलो, भगवानके गुणगान करो धर्मकी बात करो, । जिह्वाका और क्या सदुपयोग हो सकता है ? समता भाव रक्खो गंधकी अनाशक्ति और प्राणायाम करके अपने आपका शौर्य बढ़ाओ और अन्तर बलको बढ़ाओ यह घ्राणका सदुपयोग है चक्षु इन्द्रियका सदुपयोग क्या है कि हम प्रभुमूर्तिके दर्शन करें, आँखोंसे ऐसी चीज़ निरखें जिससे कि हमें धर्मकी प्रेरणा मिले। यह चक्षुका सदुपयोग है कान का सदुपयोग यह है कि हम मोक्षमार्गकी बातोंकों सुनें,जिनागमके सदुपदेशोंकों सुनें ।

बल, आयु व श्वासोच्छबास का सदुपयोग—मनका हम कैसा सदुपयोग करें ? हम सभी लोगोंका हित सोचेकि सबको सुख हो, सबका भला हो, सबका उत्थान हो। सब जीव एक समान हैं, प्रभु स्वरूप है। जिन पुरुषोको अपने धर्मकी प्रीति होती है वे दूसरे धर्मात्माओंकी वृत्तिको देखकर प्रमुदित होते हैं। धर्मस्वाभावी तो सब ही हैं फिर सब सुखी हों तो यहाँ विगाड़ क्या है ? सबके सुखी होनेकी भावना हो तो अपना चित्त स्वच्छ रहता है,. निर्भय रहता है। दूसरोंका बुरा सोचनेपर चित्तमें स्वयं भय हो जाता है। यदि किसीको कुछ खोटा कहें तो अपनेको बोलने के लिए बड़ा बल लगाना पड़ता है मनोवृत्तिका सदुपयोग यह है कि अपने तत्त्वके चिंतनमें लगो, बचनका भी यही उपयोग है कि शुद्ध, सत्य हितकारी वचन बोलो। कायका भी यही उपयोग कि शरीरसे हितकारी अच्छी अच्छी चेष्टा करें। यदि हमने अपने

ज्ञानसाधनामें कुछ क्षण विताए तो यही श्रायुका उपयोग हैं, स्वासोच्छ्वासका यही उपयोग है कि धर्मसाधना हो और सहज श्वासोच्छ्वासके निरोधमें मंदगमनसे अपने मन को स्वस्थ वनाना, एकाग्र वनना यही श्वासोच्छ्वासका सदुपयोग है।

साधना—भैया! धर्मसाधनाके लिए पूर्वमें अनेको उपाय हैं मगर उन उपायोंमें से एक इस प्राथमिक उपायको देखो। धर्म साधनाके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक होता है कि आसन दृढ़ वनाकर वैठें, पद्मासनमें वैठें; टेढ़े मेंढ़े न वैठें। और कोई ज्यादा तत्त्व चिन्तन न कर सकें, तो इस तरहसे एक मोटा अभ्यास करें कि पहले अपनी श्वासको देखो। स्वासका आना और जाना जो मालूम पड़ता है वही उसका देखना है। श्वास दिखती नहीं हैं मगर मालूम पड़ता है कि यह श्वास आगयी, स्व स निकल गयी। यह तो प्रयोग व उपयोगसे मालूम होता है, आँखें नहीं दखती है। केवल अंदाज रहता है कि यह स्वास फेंकीजा रही है और यह स्वास आरही है मगर ऐसी श्वासोंके देखनेका प्रयोजन क्या है? मनकी एकाग्रताकी साधनामें यह वात कह रहे हैं। स्वासका लेना और छोड़ना, आप इस क्रमको मंदरूपसे रक्खें, इससे क्या होगा विकल्पों का करना यह सव कमहो जायगा इस ओर ही ध्यान आजायगा।

श्वासोच्छ्वास प्राणोंकी क्रिया व परिज्ञान—श्वासोच्छ्वासको देखनेके और भी आगे चलो तो जिस समय हम श्वासको ऊपर ले रहे हैं उस समय "सो" शव्द आता है किन्तु जव वाहरमें श्वास फेंकते हैं उस समय है "शव्द आता है। जिस समय वाहरसे श्वास आती है उस समय सो जानो और जिस समय श्वास वाहरको जाती है उस समय अहं जानो। इस प्रकार श्वाससे "सोहम्" शव्द निकलता है। श्वासके आनेमें सो और श्वासके निकालने पर अहं ऐसा शव्द निकलता है। यह अन्तर्में जल्प करना है। इसका मतलव यह है कि जो सिद्धावस्था है जैसा सिद्ध है वैसा मैं हूँ। सिद्धके स्वरूपको जानकर अपना स्वरूप देखो और जैसा आत्मस्वरूप है उसको देखकर सिद्धका जो स्वरूप है उसका चिन्तवन करो। और तव श्वास लेने और वाहर करनेकी प्रधानता न देकर अहं का जो स्वरूप है उसके विचारनेमें लगजावे हम श्वासोच्छ्वास वाहर से लावें और फिर वाहरको फेंके यह यत्न न करें सव स्वयं होने दो। इस तरहसे हम अपनेको स्थिर वना लें। यही हमारे प्राणोंका सदुपयोग है।

प्राणोंके सम्वन्धमें चिन्तन — हम इन प्राणोंके सम्वन्धमें इस प्रकार आत्महितके लिए विचार करें कि प्राणकी चीजें विनाशीक हैं और मुझ पर लादी गयी हैं, जिसमें यह फसा हुआ है उसमें तो दुःख ही है। इस अपने स्वरूपको छोड़कर तुम कहाँ भटक गये हो। ऐसी कठिन परिथितिमें हमें क्या करना चाहिए?

हमारे उपयोगोंमें यह सामर्थ्य है कि सब परिस्थितियोंको पार करके अन्तरंगमें जो गुप्त नित्य प्रकाशमान चैतन्य स्वभाव है उसका उपयोग किया जा सकता हैं। जिस समय चैतन्यस्वभावका उपयोग होता है, दर्शन होता है, परिणति अभेदरूप होता है लक्ष्य से भिन्नता नहीं रहती है, उस स्वभावको व ज्ञान पर्यायको एक अभेद रूप कर दिया जाता है याने इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जैसे लौकिक जनोंके प्राणोंमें किसी वाह्य अर्थोमें अधिक आशक्ति होती, ऐसी लीनतासे उन वाह्यपदार्थोसे हटकर स्वयंको एकाकी देखना, विचारना वने तो उस समय उसके लिए कुछ वाधन, हनन नहीं रहता है। केवल उसकें उपयोगमें एक सहज स्वभावकी वात रहती है। वंधघक लीनताके सथ, जिसने अपने ज्ञान स्वभावका उपयोग किया, सत्यका आग्रह किया। अन्य किन्हीं भी समागमोंसे, उसकी आत्माको किन्हीं भी वातोंसे लाभ नहीं मिलता न मिल सकेगा इस कारण इसी क्षण संसारके समस्त वाह्य पदार्थों को मैं त्यागता हूँ, विकल्पोंको मैं त्यागता हूँ ऐसा संकल्प करके वाह्य पदार्थोका आश्रय न लो, जितना वन सके उतना अपने पुरुषार्थमें लगो, असत्यको छोड़ दो, सत्य तुम्हारे सामने अवश्य आ जायगा। और जो सत्य आयगा, स्वरूप आयगा वह अपने आप ही आयगा। इस प्रकारके अनुभवमें आनन्द है इससे यह इतना तृप्त होगा, इतना संतुष्ट होगाकि फिर वह किसी दूसरे किस्मके आनन्दको न चाहेगा और इस तरहसे अपने आत्म कल्याणकी वृत्तिको अधिक वढा सकेगा।

समागमों की विचारों से प्रेरणा— भैया! हम आप सव जो इस स्थितिमें हैं ऐसे समागममें हैं, विचार तो करें क्या ये समागम सदा रहेंगे? क्या यह स्थिति सदा रहेगी? क्या इस जवलपुरका निवास सदा रहेगा? अरे कभी तो अपना अन्त आयेगा हो। क्या यह धन वैभव सदा मिलता ही रहेगा? सव विछुड़ जायेंगे। शरीर भी विछुड़ जायगा। केवल जो सुख दुःख किया करते हैं: ऐसा जो परतत्व है यह तत्व भी अलग हो जायगा, विछुड़ जायगा। जो चीज विछुड़ जानेकी है उस चीजमें ममत्व करके अपनेको केवल वरवाद किया जा रहा है। जिसको हम देखते हैं, जिसको हम जानते हैं, जिनका परिचय है वे भी मेरेको कुछ न कर सकेंगे। वे पदार्थ स्वयं सत् हैं। वे किसीका कुछ करते नहीं। कोई किसीका शरण वनता नहीं।

वाह्य पदार्थ स्ववल में प्रयोजनीयनहीं—ये चीजें अपने वलमें उपयोग करने, यूज करनेके लिए नहीं हैं। इनका परिणाम इनमें ही निकलता है। मेरा जुम्मेदार तो मैं ही हूँ। इन वाहरी पदार्थोसे मुझे सावधान रहना चाहिए। और अपने आपकी अभेदवृत्तिसे अपनेमें घुलमिल जाना चाहिए। यह सोचो और इस तरहका ही उद्यम हो तो, इस परिस्थितिमें आकर अपने आप का अभेद वन सकता है क्योंकि दुर्लभ नरजन्म श्रेष्ट कुलका लाभ अपनी दृष्टिपर निर्भर है। वाह्यमें आकार कैसा है,

क्रिया कैसी है ? परिणाम क्या है, यह सब दृष्टि पर निर्भर होता है।

पवित्र दृष्टिकी प्रेरणा—भैया अपनी दृष्टिको पवित्र रखते है तो कहीं धोखेमें न पड़ सकेंगे। यदि हम अपवित्र दृष्टि रखते हैं तो हम धोखेमें ही पड़े हैं अंधेरे में पड़े हैं। इस कारण बाह्य पदार्थोंमें ममत्व न हो, भीतरमें यह दृढ़ विश्वास रखो कि ये सब कुछ मेरे नहीं हैं। कोई रंच भी मेरे लिए शरण नहीं है। भैया ! आत्म-स्वरूपमें संतोष करके अपने हितके मार्गमें लगें। इसका प्रथम उपाय है कि इन समस्त द्रव्य प्राणोंको अपने परमात्मस्वरूपसे भिन्न भावें। ये प्राण पौदलिक हैं। इनकी प्रीतिमें हित नहीं है। अब प्राण पौद्गलिक होते हैं इसकी सिद्धि करते है।

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहि कम्मेहि।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहि कम्मेहि ॥१४८॥

ये प्राण जिनमें हमारो प्रीति हो जाती है वे विकार हैं, पौद्गलिक हैं, दुःखों के साधन हैं पर आत्माके शुद्ध ज्ञान स्वरूपको न जाननेके कारण इन पौद्गलिक प्राणोंमें अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। ये प्राण पौद्गलिक हैं क्योंकि ये जीव प्राणों में कब फस जाते हैं जबकि यह पौद्गलिक कर्मोका बंध बंधता है। पौद्गलिक कर्मों की उपाधि हुए बिना प्राणों से यह बंधा हुआ नहीं हो सकता।

जीवमें विजातीय विकारोंकी सिद्धि— यह जीव किन्हीं विजातीय सूक्ष्म उपाधियोंसे बँधा हुआ है इसका प्रमाण यह है, कि इसमें मोहादिक रागादिक विकार है ? किसी भी पदार्थके स्वभावके विरुद्ध यदि काम होता है तो उसको कारण किसी परपदार्थका संयोग होता है। यदि परकी उपाधिका सम्बन्ध नहीं होता तो पदार्थोमें स्वभाव विरुद्ध भाव नहीं हो सकता। हाँ स्वरूपकी बात वहां भी यही है कि जो विकृतत हो रही है। वे पदार्थ एकाकी केवल अपने प्रदेशोंमें विकृत परिणमन कर रहे हैं, पर वह विकृत परिणमन किसी परकी उपाधिके सम्बन्ध बिना, निमित्त बिना नहीं होता। इस तरह हम लोगोंमें नाना विकार दीख रहे हैं।

स्वभाव विकारका सिंहावलोकन—क्या ये विकार मेरी आत्माके स्वभाव हैं ? यह चंचलताकि किसी समयमें कुछ मन, कुछ समयमें कुछ मन हो ऐसी विरुद्धकार्यशीलता, जो हमपर आपत्ति रूपमें घटित है क्या ये सब मेरा स्वभाव है ? नहीं, यह स्वभाव नहीं। स्वभाव होता तो इनसे दुःख न होता अपने स्वभावसे अपनेको दुःख नहीं उत्पन्न होता है। दुःख तो इन विकारोंसे होता है। यदि स्वभाव ही दुःख उत्पन्न करने लगे तो स्वभाव ही मेरे विनाशका कारण बन जाता और मैं तो कभीका ही नष्ट होगया होता। स्वभाव दुःखोंके लिए नहीं होता, विकार दुःखोंके लिए होता है। स्वभावमें यह मैं हूँ, ऐसी प्रतीति आनन्दको ही बढ़ाने

वाली होती है। और विकारमें यह मैं हूँ ऐसी प्रतीति दुःखकोवढ़ाने वाली होती है। जिन्हें अपनी भलाई करनी है उनको इन दो वातोंका निश्चय भीतर अपने आप पर दया करके रखना चाहिए। एक तो यहकि मेरा मात्र मैं ही हूँ, मेरेको छोड़ कर वाकी जितने भी पदार्थ हैं वे चाहे अपने घरमें वस गये हो, चाहे मित्र मंडलीमें आ गये हों चाहे यथा-तथा परिचयमें आये हों, वे सव पदार्थ, वे सव जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। उनमें यह छटनी नहींकी जा सकतीकि ये दो चार जीव तो मेरे हैं। इसवातको सुनकर मोहीजीव चौक जाता है कि कैसे ये मेरे नहीं हैं, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र हैं, मेरे अमुक हैं, मेरे दमाद हैं, मेरे भतीजे हैं। ये कैसे मेरे नहीं हैं? अरे ये तेरे नहीं हैं जितने भिन्न जगतके अन्य पदार्थ हैं, अन्य जीव हैं। उतने ही भिन्न ये ४-६ परिचित घरके सज्जन भी अत्यन्त भिन्न है।

स्वप्ना नंद—हम सुखके लिए वाहरमें यत्न करते हैं और वाहरमें वहुत लगे रहते हैं। यहाँ यह काम करना है, यहाँ इसकी व्यवस्था करना है, वाह्य पदार्थो की व्यवस्थामें, यत्न करनेमें अपना संतोष मानते हैं कि मैंने भी कुछ किया जैसे एक सांड़ कोई खोटी चीजके समुदायको, घूरेको, खादको, गोवरको अपनी सींगों से पीठपर डालता है और कुछ समय वीच-वीच अपने पैरोंको पसार कर पूंछको लपेट कर सिरको ऊँचा करके उस घूरेको उछेलता है और अपना गौरव महसूस करता है कि मैंने वहुत आनन्द प्राप्त किया, वहुत पुरुषार्थ किया, वहुत ऊँचा काम किया। इसी तरह मोहमें प्राणी अपने आपके स्वरूपसे वाहरी पदार्थोका विकल्प करके, यत्न कर अपना गौरव समझते हैं कि मैंने वहुत उन्नति कर ली है, वहुत ही उत्कृष्ट काम कर लिया है, जो औरोंसे वनता नहीं है ऐसा काम कर लिया है। ऐसा भाव करके अहंकारके साथ अपना गौरव अनुभव करते हैं, मगर हे आत्मन्! एक अपने आपके स्वभावदर्शनको छोड़ कर वाकी जितने भी कार्य हैं, जितने भी यत्न हैं वे सव घूरे खुरेचनेकी तरह है। उन कार्योंको करनेके सम्वन्ध से मोहीजन अपनेको वरवाद कर देते हैं। उस मोह विषका जो उवाल निकलता है वह क्षोभ को लिये हुए ही है, उस मोहका उद्योग न करो।

ज्ञानवलसे उपयोगपर नियंत्रण—भैया! अपने ज्ञानवलसे अपने उपयोग को यथासम्भव यथाशक्ति अपने आपके आधीनस्थ करो और विकार कम हो सके उसका यत्न करो और जो विकार होता भी हो तो भी उनमें विवेक रक्खो कि हम तो यह घूरा खुरेचनेका जैसा काम कर रहे हैं। इतना विवेक वनाना ही चाहिए। यदि यह विवेक नहीं वनाते और उल्टा यह विश्वास रखतेहै कि मैंने वड़ा ऊँचा काम कर लिया, वड़ा उत्कृष्ट काम कर लिया तो चाहे वह देश भर के शासन चलाने का काम क्यों न हो, ऊँचे पद वाला क्यों न हो, चीफमिनिस्टर, प्राइममिनिस्टर और

भी ऊँचा से ऊँचा पद क्यों न हो, यह ध्यान रहे कि वे सब धूरा उलेचनेके ही काम किए जा रहे हैं। इस मर्मको साधारण जन नहीं जान सकते।

चारित्रमोहके विपाकमें कषायवेदनाका प्रतिकार—ऐसा आत्मर्मके कहनेवालों के प्रति ऐसा लोग कह सकते हैं कि ये सब कायरताकी बातें हैं। देशको नहीं सम्हाल सकते, परिवारको नहीं सम्हाल सकते तो फिर क्या कर सकते हैं ? अरे जो सम्हालते है उनको भी अपने कषायकी वेदना होती है सो उन कषायोंकी वेदनाका प्रतिकार किया जा रहा है। बाहरमें काम नहीं किया जा रहा है, घरमें रहते हुए भी इस गृहस्थ ज्ञानीको चरित्रमोहके विप्यकमें एक कषायवेदना उत्पन्न होती है। वे वहाँ जितने भी यत्न करते हैं वे अपनी कषायवेदनाका प्रतिकार करते हैं; लड़कोंको कौन सम्हालता ? दूसरोंका पोषण कौन करता है ? जैसे हम अपनी समझमें बड़े हैं वैसे ही वे बच्चे भी बड़े हैं। वे भी भाग्यवान हैं जो कुछ हम करना चाहते हैं जैसे कर डालते हैं, जो कुछ बड़प्पन अपनेमें सोचा है, क्या जगतके अन्य जीवोंमें वह बड़प्पन न होगा। अरे आपसे भी अधिक उनका बड़प्पन हो सकता है, जब अपने ही पुण्य पापके फलसे वे सुखी रहते हैं तो तू उनकाकाम नहीं करता। सब केवल अपनी कषायवेदनाका इलाज करते हैं।

विश्वमें ज्ञानी प्राणी संत योगी—जो संत, जो ज्ञानी, जो आत्मप्रेमी अपने में यह अनुभव अमृत पिये हुए हैं वे कृतार्थ होते हैं। क्या ? कि हम केवल इतना ही ज्ञान कर रहे हैं कि यह अमृततत्त्व सत् है और परिणमता है और इस समय भी इन-इन भावोंरूप परिणाम रहा है। केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना अपना भी प्रधान कर्तव्य है। जैसे बाहरमें किसीसे लड़ाई होती है तो केवल उसके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रह जाते हैं। थोड़ी सी उस लड़ाईको देखनेकी रुचि रहती है मगर कोई बड़ी रुचि नहीं होती है कि हम लड़ाईके मामलेमें प्रैक्टिकल पड़ जायें। ऐसा बहुत-बहुत जीवन में चलता है। इसी प्रकारसे अन्तरमें युद्ध है बुद्धि का और भाव कर्मोंका। परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धमें यह अपनी-अपनी जगह विभिन्न-विभिन्न परिणमन चल रहा है, यह ज्ञानी जीव उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता है। कदाचित कुछ शोक भी उत्पन्न होता है, कुछ उन विकारोंमें बह बह भी जाता है तो किसी हद तक, किन्तु यह मेरा है, यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि करके उनमें नहीं लग जाता है। यदि कोई अपने आत्मतत्त्व का ध्यान देता बना रहे तो समझो अपनेको उसने बहुत सुधार लिया है, वह मोक्षमार्गमें बिल्कुल निशंक सही रास्तेपर बराबर बढ़ रहा है। अभी से इस पर ध्यान देनेकी जरूरत है यदि अपने आपकी दया पसंद हो। अपने आपको आगे सदा आनन्दमें रखनेका यदि प्रोग्राम बनाया हो तो यह निर्णय रखना बहुत जरूरी है कि जो विकार होता है वह उपाधिके सम्बन्धसे निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक होता है, उनका करने वाला मैं नहीं हूँ।

विकल्पोंको टालनेकी प्रेरणा— भैया ! जैसे कोई पुरुष बीमार हो जाता है तो बीमार पुरुषको शुरूसे अंत तक वही दवा नहीं दी जाती है। दवाको बीच-बीचमें बदलते रहते हैं। जब गर्मीका अंश बढ़ जाता है तो शीतलताका उपचार किया जाता है और अगर रोग मुड़ गया, कुछ शीत व्याधि ने पकड़ लिया तो थोड़ा सा उष्णका उपचार करते हैं। और फिर जैसा रोग है वैसा ही उपचार किया जाता है। यहाँ निश्चयके और व्यवहारके विकल्पोंके रोगियोंका उपचार होरहा है। जहाँ जीव ने यह मानाकि मैंने इसे कर दिया है, घर बनवा दिया है, दूकान बनवा दिया है, पुण्य करता हूँ, पाप करता हूँ, मैं जीवको दुःखी करता हूँ, जीवोंको जिलाता हूँ, मारता हूँ अमुक व्यवस्था बनाता हूँ। जिसने ये नाना विकल्प किए हैं उनके सम्हालने के लिए निश्चयकी औषधि दी गयी है अरे भैया ! कोई किन्हींको कैसे सम्हाल सकता है। तू तो केवल परिणमन कर रहा है, अपने परिणामोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा है। अरे तेरे हाथ पैसा भी तो नहीं हैं तू अमूर्तके नातेसे भी किन्हीं दूसरे पदार्थोपर गड़बड़ी कैसे कर सकता है। ऐसा निर्णय तो करकि यह आत्मा अमूर्त है तो फिर किसी पदार्थको छू भी कैसे सकता है। जो आत्मा अमूर्त है तो उस अमूर्तकी क्रिया क्या होगी ? जो अमूर्त है उसका हाथोंसे क्या सम्बन्ध, पैरों से क्या सम्बन्ध ?

इच्छा और आत्मा कंपन अविताभावी—सम्बन्ध तो निमित्त नैमित्तिक भावों से चल रहा है। तूने एक इच्छा उत्पन्नकी वह इच्छा बढ़ी और एक बेचैनी पैदा की उस, प्रसंगमें यह समूचा आत्मा उस इच्छाके अनुकूल हिल गया, कप गया, डुल गया। अब क्या हुआकि आत्मप्रदेश इच्छाके अनुकूल डुल गया, कप गया, योग हुआ तो उसका निमित्त पाकर चूंकि यह देह एक क्षेत्रावगाहमें है और निमित्त नैमित्तिक बंधनमें है तो उस योगका निमित्त पाकर देहकी वायु चल उठी। जब देहकी वायु चल उठी तो फिर उस देहके अंग चल उठे।

निमित्तनैमित्तकपरंपराजन्म प्रवृत्तिमें सततकंता की प्रेरणा—ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी परंपरामें चलते हुए लोगोंको यह कहा जाता है कि मैं यहाँ गया, मैंने अमुकको झाड़ दिया आदि नाना प्रकारके व्यवहार चलते हैं। व्यवहार वचन रहने दो, उनसे कुछ नुकशान नहीं है पर भीतरमें यह विश्वास तो करोकि मैं आत्मा एक अमूर्त पदार्थ हूँ यह मैं अमूर्त अन्य कुछ कर क्या पाता हूँ। केपल भाव और अपना हलन चलन ही कर पाता हूँ। इतनेके सिवाय, योग और उपयोगके सिवाय किसी भी कामके करनेकी मेरेमें शक्ति नहीं है। भैया। सबकी परिणति होती ही रहेगी, यह वस्तु की बिल्कुल सत्य बात है और इसके अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध मानना वस्तुकी सीमाको तोड़ देना है। सो कोई सीमा नहीं टूटती, तोड़ने वाला खुद ही टूट जाता है। अर्थात् आनन्दसे टूट कर क्लेशयुक्त हो जाता है।

जिसकी रुचि उसका उत्साह—ये जो प्राण लग उठे हैं उन प्राणोंमें अभिरुचि है, जिन प्राणोंके पीछे यह सारा जजाल बढ़ा रक्खा है और जो अपनेको उन प्राणों में फसा अनुभव करता है उसको सत्य बात सुननेका उत्साह ही नहीं। धनको तो सम्हालनेका अवसर है, पर अपने आपके सत्य पोषण करनेकी उत्सुकता ही नहीं होती। इतना इन प्राणोंसे फस गये हैं। ये प्राण तेरे स्वरूप नहीं हैं। ये पौद्गलिक हैं। ये इसकारण पौद्गलिक है कि जीव पौद्गलिक कर्मोंसे बँधकर अपने प्राणोंको धारण करता है और पौद्गलिक कर्मोंके विपाकमें ये सब प्राण उत्पन्न होते हैं। कैसी क्या क्रिया होती है उसको स्पष्टमें कैसे बतायें।

परभवमें स्थूल शरीर ग्रहण करना—भैया! एक जीव एक भव छोड़कर दूसरा भव ग्रहण करनेके लिए जाता है, तो स्थूल शरीर तो छूट गया अब वह जीव सूक्ष्म शरीरको लेकर याने तैजस शरीर और कार्माण शरीर, इनको लेकर यहाँ अन्य भवके जन्मस्थानपर पहुँचता है। वहाँ योनिभूत पुद्गल पड़ा हुआ है। वहाँ पहुँचा हुआ उस स्थूल शरीरका बीज कैसे ग्रहणमें आगया कैसे एकमेक कर डाला। जैसे भोजन किया है तो चबा डाला, खा डाला, एकरस कर डाला वैसे ही मानों यह सूक्ष्म और स्थूल शरीर एकमेक हो जाते हैं, बँध जाते हैं, ये सब पदार्थोंके परिणमनकी कलावोंके परिणाम हैं। ये होते हैं, पर वहां जीव क्या करता है? जीव तो केवल अपने भावपरिणमन कर रहा है, विकार कर रहा है पर वह विकार उपाधि बिना नहीं होता, निमित्त बिना नहीं होता, सम्बन्ध बिना नहीं होता। होओ यह सब, फिर भी आत्मा अपने ही चतुष्टयमें विद्यमान है। उसका पर से रंच लगाव नहीं है।

रोगनिवारक नयदृष्टियां—सो भैया! इतनी निश्चयनयकी औषधिको कोई पी ले तो उसे हर जगह यह विश्वास हो जाय कि क्रोधका करने वालामें ही हूँ, शान्तिका करनेवाला मैं हूँ। कोई अहंकार करे कि घरका बनानेवाला तो मैं ही हूँ। तो इस व्यवहारके रोगका इलाज तो निश्चयनयकी औषधिसे किया गया था। उस निश्चयनयकी औषधिको कोइ एकान्ततः पी डाले कि मैं ही तो क्रोध करने वाला हूँ, मेरा ही तो क्रोध करनेका काम है ऐसा यदि एक दूसरा रोग उत्पन्न हो जाय तो फिर उसे व्यवहारकी औषधि दी जाती है अथवा विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि दी जाती है कि तेरा कुछ करनेका काम दुनियांमें नहीं है। होना है वह होता है। कौन बात किस जगहपर कैसे प्रकट होती है सो समझलो?

दृष्टिमें शान्ति अशान्ति—क्या आग पानीको गर्म करती है? अरे करनेका तो कहीं नाम ही नहीं। करनेकी क्रिया व्यवहारकी बात है। होनेकी क्रिया निश्चय की है आगका निमित्त पाकर पानीकी गर्म परिणति हो जाती है यह तो सत्य है किन्तु आग पानीको गर्म करता है यह उपचार कथन है। परका परमें कुछ करनेका कोई वस्तु

स्वरूप ही नहीं है यह तो हुआ एक पदार्थमें और दूसरे पदार्थके सम्बन्धमें करनेकी निषेधकी बात, पर मैं ही खुद या कोई पदार्थ अपनी मात्र सत्ता व स्वभावके कारण रागादि विकार करता है ऐसा आशयका रोग लग जाय तो यह भी कुछ सत्य नही है । पदार्थ हैं और परिणमते हैं, यह बात तथ्यकी है । होनेका क्या अर्थ है, और करनेका क्या अर्थ है, कौन कैसे करते हैं, किसके द्वारा करते हैं इसका समाधान तो अन्तमें करेंगे ।

कर्तवाच्य विष व भाववाच्य अमृत—मैं कुछ करता हूँ नहीं, यह कर्मफलका परिणमन है इसेमैं करनेवाला नहीं हूं। ऐसा सोचे तब इन रोगोसे शान्ति मिलती है ।

कर्म व कर्मफलके अपनानेके रोगोंसे छूटा व आगे जब चला तब एक रोग और हो गया। कि मैं जानकार हूँ। इसमें भी अहंकार भरा है । देखो ना, मैं इतने विश्वको जानता हूँ, इतनी भाषाओंको जानता हूँ ऐसा दूसरा एक रोग ज्ञानके करनेके अहंकार का लग गया । मैं जानकारी करता हूँ बजाय इसके, यदि यह कहने लगे कि इसमेरेमें यह जानना होता है तो इतने वचनसे ही कितना अहंकार खतम हो गया । एक कुछ प्रतीतिकी भी बात है और कुछ इसके प्रतिकूल शब्द योजनाकी यह बनायी भी बात है । कितना भी समाला जाय कुछ न कुछ अहंकार रहता है । मतलब यह है कि कतृ वाच्यके प्रयोगमें कुछ अहंकार सा होता हैं और कर्मवाच्यके या भाववाच्यके प्रयोगमें निरहंकारता, की ओर ढलाव होता है । जैसे कहाकि मैं दुकान लगा रहा हूँ, मैं मन्दिर बना रहा हूँ आदिक ऐसा बतानेमें कुछ न कुछ अहंकारकी बात है। और कर्म विाच्यके प्रयोगमें जैसे भैया यह मन्दिर किया जा रहा है, यह अमुक काम किया जा रहा है । के मेरे द्वारा किया जा रहा है। इतना भी कह दिया तब भी मैं कर रहा हूँ इसके सेंन्समें और मेरे द्वारा किया जा रहा है इस आशयमें कुछ ऊधम की कमी है। और, मेरे द्वारा किया जा रहा है इसकी अपेक्षामेंतो निमित मात्र हूँ। यह काम होना था, हो रहा है अपनी परिणति से। इसे आशयमें कर्मवाच्य की अपेक्षा और भी अधिक निरहंकारता है ।

स्वभावकी साधना, मक्ति और बंधन—यह जीव अपने स्वभावसे चिगकर बहुत भेदोंमें बढ़ चुका है । यह उन भेदोंसे हट- कर।जैसे-जैसे अभेदमें आयगा, अभेदमें आकर अपने स्रोतमें रह जायेगा । तो यह अपना कल्याण कर सकता है । ये प्राण हैं जिनसे कि यह जीव बंधा है । यह जीव पौद्गलिक कर्मोके बंधनमें बँधा है और ये पौद्गलिक कर्म मोहादिक विकारोंके होने के कारण हैं । चूंकि प्राणोंमे निवद्ध होनेके कारण पौद्गलिक कर्मोको भोगता हुआ यह जीव चलता है । इस कारण वह फिर भी पौद्गलिक कर्मोसे बंध जाता है और देखो यह प्राण पौद्गलिक कर्मोकी क्रिया हैं क्योंकि पुद्गलक कर्मों से बँधा हुआ यह जीव न होता तो ये प्राण भी इसको न प्राप्त होते इस कारण ये प्राण पौद्गलिक कर्मोकी क्रिया है। इन जीव प्राणोंमें ही बंधकर कर्म

फलोंको भोगता है, सो नवीन कर्मोंके द्वारा वँध जाता है। यों उन पौद्गकलिक कर्मों के कारण ये प्राण वन गये।

प्राणों की ममता—भैया! ये प्राण तो माध्यम हैं पुद्गल कर्मोंके कार्य हैं और पुद्गल कर्मोंके कारण हैं याने नवीन कर्मोंके कारण हैं और पहले कर्मोंकी क्रिया है। ऐसे इन वन्धनकारक प्राणोंमें इतना मोह है कि मरना कोई नहीं पसन्द करता। कल्पना करो एक कोई बुढ़िया है विलकुल जर्जर शरीर वाली हो गई है चल नहीं पाती है और रात दिन भगवानसे यह प्रार्थना करती है कि भगवान-जल्दी उठालो, मुझे उठालो भगवान, ऐसा जब तब अनेक वार कहती रहती है। वालक वालिका वगल के कमरोंमें बुढ़ियासे यह सव इच्छा सुनते हैं, पोते सुनते हैं। पर यदि कदाचित् कोई साँप बुढ़ियाके पासमें निकल आवे या साँप दिख भर जावे तो वह चिल्ला उठती है कि अरे भाई दौड़ो, साँप निकल आया है, मुझे खालेगा। जब वगलके कमरेमें खड़े हुये वच्चे सुनते है तो वे बुढ़ियासे कहते हैं कि तू तो रोज-रोज कहती थी कि भगवान मुझे उठाले। अब तेरी प्रार्थना सुनकर ही भगवान तुझे उठानेके लिये सर्परूपमें आ गये है, तव क्यों व्याकुल होती है। देखो भैया प्राणोंकी ममताकि कोई नहीं चाहता है कि इन प्राणोंका वियोग हो। इन प्राणोंमें कितना मोह है। ये प्राण कर्मोंके कार्य है और कर्मोंके कारण है और इन्हीं प्राणोंके जरिय कर्म फल भोगे जाते है। इन कर्मोंके कारण हम अपने शुद्ध परमार्थ स्वरूपको भूल गये है। जिसकी दृष्टि विना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। उसको देखो, प्राणों की ममता छोड़ो।

यहाँ तक यह सिद्ध किया है कि प्राण पौद्गलिक ही है, क्योंकि प्राण पुद्गल कर्मोंकी तो क्रिया है और पुद्गल कर्मोंके कारण है। अब अगली गाथामें यह वताना है कि प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारण कैसे है। इसका उन्मीलन करते है। कहने के अर्थकी कई धातुयें है, कहीं लिखा है कि आवेदन करते है, कहीं अभिनन्दन करते है, कहीं उन्मूलन करते है, कहीं विवरण करते है, कहीं प्रकाश करते है कहने के अर्थ में नाना धातुयें इस ग्रन्थमें आयीं। तो उन सव क्रियायोंका जुदा-जुदा मर्म उस-उस प्रकरणमें है। यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि प्राणोंमें पौद्गलिक कर्मोंकी कारणता है, उसका उन्मीनल करना है। जैसे आँखमें दृष्टिकी शक्ति और दृष्टिका सव कर्म मौजूद है अव वंद हुई आंखको खोलते है इसी प्रकार आचार्य देवके हृदयमें सव समाया हुआ है वह ज्ञान, वह वर्णन, वह उपाय सव स्पष्ट ही है पर उसका उन्मीलन करना है, उदघाटन करना है माने वर्णन करना है दूसरोंको भी मालूम पड़े ऐसा प्रयत्न करना है।

पाणावाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि वंधो णाणावरणादिभावेहिं ॥ १४९ ॥

प्राण और कर्मका सम्बन्ध—इसमें यह बताया गया कि पौद्गलिक कर्म जो बँधते हैं उन बँधनेवाले पौद्गलिक कर्मोंका मूल कारण क्या है ? उस सम्बन्धका मूल कारण प्राण है । अब वैसे देखो तो मूल कारणका हल जिसपर चाहो फेंक दो। वैभवपर फेंक दो, अज्ञानपर फेंको, प्राणोंपर फेंको क्योंकि सब कारणप्रवाह हैं, पर जिस-जिस प्रकरणमें जो-जो दीखता है, जो कहना अभीष्ट है, उसकी मुख्यता रहती है। पौद्गलिक कर्म जो बने हैं उनके कारणभूत तो प्राण हैं। इस तरह ये जीव प्राणोंके द्वारा ही कर्म फल भोगते हैं। बहुत युक्तिपूर्वक वर्णन है और अनुभवमें ऐसा आता है कि जितना भी कर्मफलका भोगना होता है, प्राणों द्वारा होता है।

आत्माके स्वरस रूपी आनन्दका उजाड़—भैया सुखका भोगना, दुखका भोगना दो ही तो चीजें यहाँ संसार में हैं। कर्मफलमें दो ही चीजें मुख्य हैं। सुख और दुःख तो मुख्य फल स्वरूप हैं, पर जितना भी राग है द्वेप है, संक्लेश है, विकलता है वह सब कर्मोंका फल कहलाता है। कर्मफलका भोगना प्राणोंके द्वारा होता है, प्राणोंमें इन्द्रियाँ प्राण हैं, इन इन्द्रियोंके द्वारा सुख भोगे जाते हैं। यदि इन्द्रियोंको असुहावना लगे कुछ, तो दुःख भोगा जाता है। और सुहावना लगे तो सुख भोगा जाता है। तो ये सुख-दुःख प्राणोंके द्वारा भोगे गये हैं। उन कर्मफलोंको भोगता हुआ यह जीव मोह, राग, द्वेषको प्राप्त होता है। कर्मफल भोगनेमें रागद्वेप ये दो चीजें आतीं हैं। और रागद्वेष उत्पन्न हो तो उसके कारण जीव अपने व दूसरोंके प्राणोंका आघात करता है। अपने प्राणों का आघात तो निरन्तर होरहा है; शुद्ध चैतन्य स्वरूप जो कि सहज है, स्वरसतः है उसमें लीन नहीं हो सकता। और स्वयं जो स्वभावतः आनन्दमय है उस आनन्दका अनुभव नहीं होसकना यही तो अपना घात है। सो अपना आघात यह जीव निरन्तर कर रहा है। कहीं चित्त है, कहीं संक्लेश है, कहीं कुछ मौज है, इन परिणामों से आत्माका धैर्य समाप्त होजाता है, आत्माका ज्ञान और आनन्द विकसित हो ही नहीं सकता ।

प्राणघातकी विवेचना—चैतन्य स्वरूप जीवका प्राण है, अतः चैतन्य तत्त्वमें बाधा आना यह तो अपना आघात है और वास्तवमें यही दूसरोंका भी आघात है। पर दूसरोंके आघातमें आघातकी रूढि है, क्योंकि प्राणाघात होते समय जीवको बड़ा संक्लेश होता है। उन संक्लेशोंमें निश्चयप्राण घाते जाते हैं। सो यह जीव मोह और द्वेषके कारण अपने और पराये प्राणोंका आघात करता है। यहाँ एक विचारणीय बात है कि दूसरे जीवोंका प्राणाघात हो जानेसे बुराई क्या हुई। जीव अलग पदार्थ हैं, शरीर अलग पदार्थ है, जीव एक देहको छोड़ता है और दूसरे देहको प्राप्त कर लेता है! जब उसे दूसरा शरीर मिल ही जाता है तो उस जीव का क्या बिगाड़ हुआ ? प्राणोंके वियोग करनेसे उसका घात क्या

हुआ जबकि दूसरा शरीर उसे मिल जाता है । शरीर मिटनेके बाद दूसराशरीर मिले और यह शरीर पानेके लिए तड़फता रहे तो कह सकते हैं कि नुकशान है, जब तुरन्त दूसरा शरीर मिल गया तब फिर क्या नुकशान हुआ ? हिंसा क्यों लगती, क्यों यह पाप कहलाता ? तो इसका परमार्थ दृष्टिवाला यह उत्तर हैं कि यह हिंसा इस लिए पाप कहलाती है, कि दूसरे जीव जिस स्थानमें आज हैं जैसे मनुष्य हैं. अच्छा विवेक है, ज्ञान है, मोक्षमार्गकेलायक उसका स्थान है तो इस स्थानसे अगर निम्न स्थानमें पहुँच जाये तो जीवकी हिंसा कहलाई ना।

एक दृष्टान्त द्वारा परमार्थ हिंसाका स्पष्टीकरण—जैसे आज मनुष्य हैं और मर कर बैल होगये तो जीवकी हिंसा कहलाई या नहीं ? जैसे अभी बैल हैं और मर कर कीड़ा मकोड़ा बन गये तो यह जीवकी हिंसा हुई ना ? यों यदि कोई निम्न स्थानपर पहुँच जाय तो उसे हिंसा कहेंगे कि नहीं ? सो अवनतिका नाम मान लो, इस दृष्टिको छोड़ दें कि जीवका एक शरीर मिट गया इसमें क्या नुकसान हो गया ? बिल्कुल पुराना जीर्ण शरीर मिट गया और नया हिंसा है बढ़िया उन्नति करता हुआ शरीर आजाता है। मर जायेगा तो उसे क्या नुकसान हुआ, नुकसान यह हुआकि जीव जिस पदवीपर हैं उस पदवीसे गिरकर निम्न पदवी में रहता है तो यही जीवका नुकसान है। और उस पदवी से अगर ऊँची पदवी मिलती है तो उस जीवका कुछ नुकसान नहीं है । सो जिन जीवोंका प्राणघात किया जाता है तो प्राणबाधाके समय उनका संक्लेश परिणाम होता है और उस संक्लेश परिणामके कारण उनकी गति नीची होती है मनुष्य यदि मर कर दो इन्द्रिय जीव बन गया तो उस जीवका कितना बड़ा नुकसान होगया । उस जीवके प्राणोंका वास्तविक आघात होना एक हिंसा कहलाती है । तो व्यवहारमें जिसे हम हिंसा कहते है इस हिंसा ? मारनेवालेको क्या नुकशान हुआ और मरने वालेको क्या नुकशान हुआ ? बतावो, मारनेवालेको तो यह नुकसान हुआ कि उसने अपनेमें संक्लेश परिणाम बनाया, मारने जैसी प्रवृत्ति हो गयी तो मारनेवालेने अपने संक्लेश परिणामोंसे अपने प्राणोंका आघात किया । और, मरनेवालेने उस प्राणघातके समय जो संक्लेश परिणाम किया उसके कारण निम्न दशा प्राप्तकी, मोक्षमार्गसे और दूर चला गया, यह मरनेवालेका नुकशान है । जीवोंका वास्तविक नुकशान मोक्षमार्गसे दूरचला जाना है। यही हिंसा घातक और वध्यको लग गई। बस एक ही बात है कि मोक्षमार्गसे पृथक होना; यही हिंसा है। मोक्षमार्गमें चल रहे हैं यही अहिंसा है। तो प्राण पौद्गलिक कर्मोके बंधनके इस तरह कारण बने रहते हैं कि प्राणोंका कर्मफल भोगा, कर्मफल भोगते हुए द्वेष किया और राग द्वेपके कारण यदि किसी

के प्राणोंका आघातका भाव किया है तो उसके प्राणोंका आघात हो चाहे न हो, मगर बाधा डालनेवालेने तो अपने भावोंसे अपने प्राणोंमें बाधा डाल ही दी। राग द्वेष करनेके कारण भावप्राणका तो आघात कर ही लिया।

प्राणघातमें द्रव्य कर्मों का सम्बन्ध—जब यह जीव अपने प्राणघात करता है तो ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मोंका बंधन होता है। तो इन कर्मोंका कारण यह प्राण है। यही प्राण हमारी सारी अवनतिका कारण है। इस तरह ये प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारण बन जाते हैं। जैसे कोई आदमी दूसरेपर क्रोध करता है और वह उस समय लोहारकी दुकानपर है तो क्रोधातुर होकर उसने इतना जबरदस्त क्रोध कियाकि वहाँ तपा हुआ जो लोहा था उसे उठा कर वह मारने लगा। लोहा दूसरेके लगे चाहे नहीं, पर जिसने उठाया उसका हाथ तो जल ही गया। इसी तरह दूसरे जीवोंके बारे में कोई कुछ अशुभ सोचता है तो यह जीवको पाप हुआ या नहीं? उसका बुरा होना तो उसके पापके आधीन है, मगर यह बुरा सोचनेवाला तो नियमसे कर्मों से बँध गया।

अनिष्टचिन्तन घोर अविवेक—अहो! यह महान अविवेक है कि हम किसी भी जीवके बारेमें अनिष्टचिन्तन करें, यह बहुत बड़ी अयोग्यताका परिणाम है। इस जगतमें हम आप सभी एक बड़ी विपत्तिमें फँसे हैं, वह विपत्ति क्या है कि निरन्तर संक्लेशोंके अनुसार बाह्यवृत्तिमें जुता करते हैं। हम संक्लेश क्यों करते हैं? उन संक्लेशोंका कारण है द्रव्यकर्म और नोकर्मोंका सम्बन्ध। द्रव्यकर्म व नोकर्मोंमें हम फँसे हुए हैं जिसका निमित्त पाकर निरन्तर दुःखी हो रहे हैं, सो अपने दुःख मिटानेका यत्न करें और यह उदडता न करें कि जिस चाहे जीवके बारेमें अनिष्ट सोचने लगें, उसके नुकसानका एककार्यक्रम बनाने लगें। यह कितना बड़ा भारी पागल-पन है। अरे अपनी जलती हुयी डाढ़ी तो बुझा लो। खुदके दैन्यस्थिति में हो सो अपनेको बचालो। इतना ही अपना करनेका काम पड़ा हुआ है, अपने ही उद्धारकी बात करने कों पड़ी है सो आत्महितमें लगो। उन जीवोंका अनिष्ट चिन्तन इस चित्तमें रंच भी न हो ऐसा ज्ञानोपयोन करो।

अनिष्ट चिन्तनसे दूर होनेका महान आत्मबल—यदि हितचिन्तनकी बात आती है इस अपने जीवनको उन्नतिमें समझो। बड़ा बल चाहिए इसके लिये। कोई जीव सामने ही गाली दे रहा है अथवा कोई विरुद्ध बोल रहा है, कोई मेराअनिष्ट का यत्न कर रहा है बो भी भाई, अनिष्टके यत्नपर भी गुस्सा न आये ऐसा ज्ञानोपयोग बनाओ। यों अपनेमें अहंकार भरा हैं, पर्याय बुद्धिता बसी है और अपने ही ज्ञान के विपरीत उपयोगसे अज्ञानी बने हैं, उससे हमें गुस्सा आती है। अरे! गुस्सा क्या करते हो? पहिली बात तो यह है कि अपनी विपत्ति तो दूर कर लो, गुस्साको दूर करनेका

यत्न करो। दूसरे जीवोंके बारेमें क्या अनिष्टचिन्तन करना है और दूसरोंका कितना ही अनिष्ट चिन्तन किया जाय, क्या हमारे चिन्तनसे दूसरोंका अनिष्ट होता है ? क्या कौवाके कोसनेसे गाय मर सकती है ? मानों कोई गाय नींन बैठी है, कौवा वृक्षपर बैठा है, वह सोच रहा है कि गाय मर जाय तो मैं आंखें नोंच खाऊं, मांस नोंच खाऊं, किन्तु उस कौवेके सोचनेसे गाय नहीं मर जाती है। क्या मेरे अनिष्ट चिन्तनसे किसी दूसरेका अनिष्ट होता है ? नहीं, बल्कि और दुःख बढ़ जाता है। हम सोचते हैं कि उसकी अवनति हो, पर होती है उन्नति, होता है उसका भला तो ज्यों-ज्यों किसीकी उन्नति देखते हैं त्यों त्यों संक्लेश बढ़ता है। दूसरोंके अनिष्टचिन्तनसे इस जीवको हानि ही हानि है।

आत्मबलकी वृद्धिका चिन्तवन—हे आत्मन्, तुम्हारा बल तब बढ़े, जब अपने को एकाकी देखो। तू केवल अपने ही प्रदेशमें है और जो कुछ करता है और भोगता है तो वह सब अपनेमें ही। तेरा तो तेरेसे बाहर कुछ नहीं है, तुम्हारा किसी बाहरी पदार्थसे कुछ विपत्ति ही नहीं है। बाहर कुछ भी हो, कैसी ही होन बने, कितना ही बाहरका परिणमन होने, पर अपने आत्मस्वरूपका ही उपयोग रहे, अपनेमें सहज आत्मस्वरूपको निरखो तो क्या बुराई हो सकती है। जब मेरा किसी अन्यसे सम्बन्ध ही नहीं है तो दूसरे मेरा क्या कर सकते हैं, वे कुछ भी मेरा करनेके लिए समर्थ नहीं हैं। फिर मेरा अनिष्ट करनेका क्यों विचार हुआ। मेरे अनिष्ट विचारने से खुदका अनिष्ट जरूर होगा। क्योंकि अनिष्ट विचारनेका परिणाम अशुभोपयोग है और दूसरे अनिष्टचिन्तनसे अपनेको आकुलताएं होती हैं इसलिए दूसरोंका अनिष्ट सोचनेमें अपनी ही हानि है। यह जीव पौद्गलिक कर्मोंसे कैसे बंधा है उसका वर्णन चल रहा है। इन प्राणोंसे जीव कर्मफल भोगते हैं, रागद्वेष करते हैं, रागद्वेषोंसे अपने और परके प्राणोंका आघात करते हैं। अपना प्राण क्या है ? निर्विकल्प स्वसम्वेदन कर रहा जो ज्ञाता स्वभाव है वह अपना निश्चय प्राण है। जहाँ हमने अपने प्राणपर आघात किया वहाँ आकुलताऐं होती ही हैं।

अतीत चिन्तन—अनन्तकालसे अब तक भटकते २ कितने ही परिवार हो गए हैं और कितने ही बार राजा महाराजा हो गये हैं, कितने ही बार देवोंका उच्च साम्राज्य भी मिल चुका है, यह जीव अहमिन्द्र भी बन चुका है; फिर भी आज अपने को गरीबका गरीब अनुभव कर रहा है। यहां भी साधन कम है इसलिए धन वैभव प्राप्त हो जाव इस तरह बाह्य अर्थों की ओर दृष्टि देकर अब भी दीनता बताई जा रही है। सो इस जीवपर यह कितना बड़ा संकट है कि रहना तो इसके साथ कुछ नही है मगर कुछ ऐब ऐसा पड़ा है कि रागद्वेष किये बिना, पदार्थोंको इष्ट अनिष्ट सोचे बिना इस जीवको चैन नहीं आती।

हितकारी चिन्तन—निर्विकल्प स्वसंवेदनवृत्तिरूप जो ज्ञान है वही ज्ञान मेरा शुद्ध प्राण है। इस शुद्ध प्राणका आघात किया सो पौद्गलिक कर्मोंका बन्धन होने लगा। इन पौद्गलिक कर्मोंके उदयमें फिर प्राण होते हैं। इस प्रकार ये पौद्गलिक कर्मोंके कारण प्राण हैं। तथा प्राणानुरागमें कर्मबन्ध है। यों प्राण एक ऐसे माध्यम तत्त्वको लिए हुए हैं कि कर्मोंके फलमें प्राण मिले और प्राणोंके फलमें कर्म बंधे। ये प्राण दोनोंका ऐसा जोड़ करते हैं जैसे किसी अद्भुत मशीनमें हो। यह विकार परिणमन कैसी अद्भुत मशीन है, तारसे गुथे हैं। परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस प्रकारसे फसा हुआ यह जीव यदि अपनी परिस्थितियोंसे दृष्टि देता है तो निकल नहीं सकता है। संकट कितने ही हों, पर सब संकटोंसे निकल जानेका उपाय यह एक है—सहज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें केवल सहज ज्ञानमात्र हूं, ऐसा जो अपना दर्शन है, दृष्टि है वही जीवके कल्याणका उपाय है। सो पौद्गलिक कर्मोंका कारण बताकर अब यही मालूम करते हैं।

प्राणों की घटाबढ़ी व सम्बन्धका चिन्तन—यह एक सीधा नक्शा खींचते हैं कि इन पौद्गलिक प्राणोंकी संगति चलती रहनेका वास्तविक कारण क्या है? आज मनुष्य हैं तो प्राण हैं, दूसरे भवमें गये तो प्राण मिलेंगे। तो प्राणोंकी संगति चलती जा रही है। भले ही कभी १० प्राण हैं तो कभी ६ प्राण मिल गए, कम हुए, ४ प्राण मिल गए, कभी कितने ही प्राण मिल गए। भिन्न-२ प्रकार के प्राण हैं, लेकिन मिलते ही चले जा रहे हैं। तो प्राणोंका मिलना कहां खतम होगा? इन प्राणोंका हेतु क्या है जिससे कि ये लगातार बने रहते हैं। देखिए—इन्द्रिय प्राण और आयु प्राण और कायबल ये तो निरंतर आजतक संततिरूपमें चलते आये हैं इनमें अन्तर नहीं पड़ा। श्वासोच्छ्वासमें अन्तर पड़ गया। कितने ही बार बीचमें श्वासोच्छ्वास नहीं रहा, विग्रहगतिमें अपर्याप्त अवस्थामें श्वासोच्छ्वास नहीं रहा और इस अवस्थामें वचन-मनमें भी अन्तर पड़ गया। मगर इन्द्रियप्राण किसी क्षण न रहा हो ऐसा आज तक नहीं हुआ। विग्रहगतिमें हो तो वहां यह प्राण, अपर्याप्त अवस्थामें हो तो वहां प्राण, इस प्राणमें एक क्षणका भी कभी अन्तर नहीं पड़ता। हमारे साथ भावेन्द्रियका तो संकट जबरदस्त है जिससे मेरी आदत खण्डज्ञानकी हो गई है। हम खण्ड-खण्ड ज्ञानमें तो रहते हैं, और अखण्ड ज्ञानकी दृष्टि ही नहीं करते हैं यह सबसे बड़ी आफत लगी है।

सामान्य विशेष में महत्व किसका—भैया! देखो एक विचित्र बात कि लौकिकजन विशेषज्ञानमें तारीफ समझते हैं, विशेष परिस्थितिमें अपना महत्त्व समझते हैं। सो लोक व्यवहारमें तो विशेषका महत्त्व है किन्तु इस कल्याणमार्गमें सामान्यका महत्त्व है, अभेदका महत्त्व है। जैसे-जैसे यह जीव उपयोगमें परसे निवृत्त होकर अपनी

ओर आए और अपनेमें ही द्रव्यकर्म, नोकर्म व भावकर्म इनको पार करे और छुटपुट ज्ञानपरिणमनको पार कर अन्तरंगमें शुद्ध अपरिणामी, अहेतुक, शाश्वत परम पारिणामिकभावमय चैतन्य स्वभावतक आये और वही अपना लक्ष्य करे तो इस जीव का कल्याण हो। आत्मकल्याण सबसे महत्त्वकी चीज है।

अपरिचय में कहने का अवकाश कहां ?—भला सोचो तो सही कि जगतके जिन जीवोंमें हम आदर चाहते हैं, जिनसे हम अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं,उन जीवों ने मुझे जाना भी है कि नहीं ? मैं हूँ ज्ञायक स्वरूप, मैं हूँ चैतन्यमात्र एक अमूर्त प्रतिभासमय। इस अमूर्त तत्त्वको जगतके जीवोंने जाना है कि नहीं ? बताओ, यदि इन जीवों ने इस मुझ ज्ञायकस्वरूपको नहीं जाना तो वे मेरी प्रशंसा ही क्या करेंगे, मेरे बारे में क्या कह सकेंगे। कुछ भी तो नहीं कह सकेंगे। यह जैसा सहज ज्ञायक स्वभाव मैं हूँ इस प्रकारसे यदि उन जीवोंने मुझे जान लिया है तो वे स्वयं ही ज्ञानी बन गए, जाननेवाले बन गये तो वे स्वयं ही अपने शुद्धज्ञानस्वरूपका आनन्द लेने लगेंगे। वे मेरेको क्या कहेंगे ? यदि कोई मुझे जानता है तो मुझे क्या कहेगा और यदि कोई मुझे नहीं जानता है तो मेरे को कहेगा कैसे ?

प्रत्येक जीवकी निजवेदनानिवारणार्थ प्रवृत्तियां– जीव जो कुछ भी करता है वह अपने ही कषायकी वेदनाका प्रतिकार करता है, किसी दूसरेका कुछ परिणमन नहीं करता है। यह स्वयं निःसंग अमूर्त आत्मा है, इसके अमूर्तत्वपर ही कोई ध्यान दे तो यह निर्णय कर सकता है कि यह जीव दूसरेका कुछ कार्य नहीं कर सकता है। प्रतीतिकी बात है भैया ? यह चेतनातत्त्व आकाशके मानिन्द अमूर्त है। अच्छा यह आकाश किसी पदार्थका कुछ करता है क्या ? क्या यह आकाश किसी चौकीको जला देगा ? क्या चौकीको उठाकर फेंक देगा। बस आकाशकी ही तरह अमूर्त आत्मा है। क्या इस चौकीको आत्मा जला देगा ? क्या कोई परमें कुछ काम कर देगा ? नहीं, अरे भैया ! आकाशसे विशेष बात आत्मामें एक चैतन्य गुणका सद्भाव है सो क्या इसने कसूर किया है चैतन्य स्वरूपके सद्भावका ? जिससे कि इसपर कर्तापन लादा जा रहा है। आकाशकी तरह आत्मा अमूर्त है, स्वयं सत् है। इसका तो किसी से स्पर्श भी नहीं हो सकता, करनेकी बात तो दूर रहो।

परिणमन में कला—बस तो, यह सोचनेमें आजाय कि आत्मा अमूर्त पदार्थ है निज स्वरूपमात्र है। वह किसी दूसरे अमूर्त या मूर्तका क्या करेगा ? यह तो अमूर्त पदार्थ है और परिणमता रहता है। पर हां, इतना जरूर है कि पर उपाधिका सम्बन्ध पाकर यह विकाररूप परिणम जाता है। सो किसका निमित्त पाकर कैसी योग्यतावाला जीव किस रूपसे परिणम जाय उसमे कला उपादानकी है निमित्त की नहीं। निमित्त तो अनुकूल सान्निध्यमें होता है। हम किसी चौकीको पाकर इस

तरह बैठ जायें इसमें कला हमारी है कि चौकीकी है ! चौकी या कोई ठोस पदार्थ न हो तो हम इस तरहसे नहीं बैठ सकते, सो बैठनेमें यह निमित्त है, मगर इस स्थितिमें भी जो मेरी यह क्रिया होती है वह निमित्तकी परिणतिसे नहीं होती है मेरी परिणतिमें ही होती है। आप सभी लोग बैठे है और हम ऐसे क्रमपूर्वक शब्द बोलते जारहे हैं। यह बात निश्चित है कि आप सब यदि न बैठे होते तो मैं यहाँ ऐसा न बैठा होता, ऐसे हाथ पाँव न हिलाता, सो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है , किन्तु जो बोल रहे हैं, जो हाथ हिला रहे हैं तो क्या यह सब किसी अन्यकी परिणतिसे कर रहे हैं ? नहीं, हम अपनी ही परिणतिसे बोल रहे हैं, कह रहे हैं इसमें आपका और हमारा अपने अपनेमें अनुकूल उपयोग है, ध्यान है तो मेरा सिलसिले से यह परिणमन चल रहा है। मगर इस वक्त भी हम केवल अपनी ही परिणतिसे अपना समस्त परिणमन कर रहे हैं इसी प्रकार इस आत्मा और द्रव्यकर्मकी बात है।

अचेतक अचेतकमें ही विकारकी निमित्तनैमित्तिकता—एक विशेष बात और भी देखो कि जीवमें दो प्रकारके गुण हैं एक चेतक गुण और दूसरा अचेतक गुण। ज्ञान, दर्शन तो चेतक हैं और श्रद्धा चरित्र वगैरह गुण अचेतक हैं। अर्थात् ये चेतक नहीं हैं, जानते नहीं हैं। तो उपाधिके विपाकका निमित्त पाकर अचेतक गुणके विकार होता है, चेतकगुणका विकार नहीं होता है चेतक गुणका तो तिरोभाव होता है, दब गया, प्रकट नहीं होता है। ज्ञानावरणका यह प्रसाद हैं कि ज्ञान दबतो गया पर ज्ञान उल्टा नहीं परिणम सका। तो विकार हुआ अचेतक गुणमें और विकारका निमित्त हैं अचेतन कर्म। सो अचेतक अचेतनका निमित्त पाकर विगड़ रहा है। चेतन साहब अब भी अपने स्वरूपमें बैठे हैं। बस, इतनी हानि है कि उनका विकाश कम है। सो जैसे यहाँ जल और अग्निका परस्पर निमित्त नैमितिक सम्बन्ध है इसी प्रकार यहाँ आत्मामें भी कर्मविकारका व अचेतक गुणविकारका परस्पर निमित्त नैमित्तिक ही सम्बन्ध है।

विकार परिणमनमें मात्र निमित्तनैमित्तिकके सम्बन्धका दृष्टान्त— भैया, पौद्गलिक प्राणोंकी यह परम्परा अनादिसे चली आयी है और जब तक आत्म-सावधानी न होगी तब तक यह परम्परा चलती रहेगी। इस परम्पराके चलनेका कारण क्या है ? अब इस बातका इस गाथामें वर्णन करते हैं।

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
जाव ण जहदि ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ १५० ॥

यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध है; भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित है। नोकर्म तो स्थूल भिन्न पुद्गल हैं और द्रव्यकर्मका आश्रय करके, द्रव्य कर्मका निमित्त पाकर जो आत्मामें भावकर्म प्रकट होता है वह भावकर्म भी स्वभावमें मिला नहीं है।

यह भावकर्म आत्मामें होता तो है पर स्वभाव नहीं है ।

विकारपरिणमनमें निमत्तनैमित्तिकसम्वन्धका दृष्टान्त—जैसे कि लाल पीली वस्तुका निमित्त पाकर स्फटिक लाल पीला होजाता है । उस स्फटिकमें लाल पीलापना दीखता है । और दिखता क्या है, उस कालमें लाल पीला परिणमन होता है पर उसका परिणमन ऐसा विलक्षण है, उसमें ऐसी अद्भुत प्रकारकी स्वच्छता है कि उपाधिके हटते ही वह लाल पीला परिणमन मिट जाता है जैसे कि दर्पणमें कोई चोज या हाथ सामने करके या मुख देखते है तो दर्पण उस मुखादिकी छायारूप परिणम जाता है, परिणत हो गया । उस समय उसे दर्पणमें मुखादि प्रतिभासता है, सिर्फ केवल दिखता है और वहां छायारूप परिणमन नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु उपाधिका सम्वन्ध पाकर उस दर्पणमें छायारूप परिणमन होता है ।हां, वह इस प्रकारका विचित्र परिणमन है कि हाथ हटाया और तुरंत परिणमन मिट गया । इसी प्रकार स्फटिककी वात है । दर्पणमें भी तो यदि लाल वस्तु सामने हो तो लालरूप छाया वनती है ना ? वनती है। मुख दीखता है तो वाल काले हैं तो कालारूप परिणमन दर्पणमें भी होता है । होता है वह छायारूप व्यंजन पर्यायके आधारपर । कैसी विलक्षण वात है ।

विकारपरिणमनकी वर्तमान अस्तित्वरूपता—देखो भैया, लाल चीज दर्पण के सामने आयी तो दर्पण बताओ लाल हुआ या नहीं , क्या उत्तर दोगे ? दर्पणके सामने जैसी चीज है उस रूप परिणमा कि नहीं ? तो इसके उत्तर दोनों आते हैं। लालरूप परिणमा और लालरूप नहीं परिणमा । लालरूप परिणमा, क्योंकि छायारूप परिणमा और वह लालरूपमें ही छायारूप परिणमा तो छायाकी दृष्टिमें देखा जाय तो लालरूप परिणमा मगर, ऐसा कैसे परिणमन गया ! अगर दर्पण ही लालरूप से परिणम गया तो एक आधा सेकेण्ड तो वहांपर लाल परिणमन भी वना रहे । किन्तु निमित्त हटनेपर वहांसे लाल परिणमन भी हट जायगा यदि वह कांचका ही रूप थायों परिणम गया तो फिर भी कुछ तो लालरूप परिणमा हुआ ठहरना चाहिए किन्तु जरा भी नहीं ठहरता । दूसरी वात यह है कि दर्पणका स्वच्छ स्वभाव है उस पर दृष्टि दो तो वह स्वच्छ ही है इसलिए नहीं भी परिणमा । इसो प्रकार पुद्गल कर्मोंका उदय आनेपर आत्मामें जो रागद्वेष आदिक परिणमन होता है वह दर्पणके, स्फटिकके छायाके मानिन्द परिणमन होता ही है । उस कालमें आत्मा क्रोधमय है, रागमय है , जो जो विकार हैं उन उन विकारोंमय हैं । ऐसा उसका परिणाम है, फिर भी उपाधिसन्निधिके हटते ही वह परिणाम हट जाता है । कर्मनिषेकके उदय का समय एक समय हैं और आत्मामें विकार होनेका भी समय एक समय हैं । तो यह आत्मा कैसा विचित्र परिणम गया कि अभी परिणमा, लो, अव उपाधिके हटते ही तुरन्त उसमें अव वह वात कुछ नहीं रही ।

चिद्विकारोंकी चिदाभासता—भैया ! आत्मामें विकारका स्वभाव नहीं है, वह रागद्वेषादिक भाव स्फटिकमें छायारूपकी भाति परिणम रहे है, छायाके मानिन्द परिणम रहे हैं, इसी कारण उन विकारोंको चिदाभास कहते हैं । चित्स्वरूप नहीं है। किन्तु चिदाभास है। सो यद्यपि यह आत्मा कर्मोंसे रहित भावकर्मोंसे रहित शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है, और वह अहेतुक है, सनातन है, स्वभाव रूप है, ऐसा शुद्ध चैतन्य होनेपर भी कर्म उपाधिके सम्बन्वके वशसे ये कर्ममलीमस बनते रहते हैं। इनकी मलीनता उतनी ही बड़ी समझना चाहिए जितना कर्मोंके अपनानेका भाव रहता है। एकता आत्मामें विकाररूप कर्मोंका होना, और दूसरे उन विकारोंको आत्मसात् करना, कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, यों आत्माके इन दो मलीनताओंमें कितना अन्तर है। इन विकारोंको आत्मरूपसे ग्रहण करना महान् अन्धकार है। इसमें मोक्षमार्ग है ही नहीं । इन परिणामोंके रहते हुए धर्म होता ही नही। पुण्य और पापमें भी भाव अलग है। और धर्मका भाव अलग है । धर्म का सम्बन्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और उसही प्रकारके आत्माचरणसे है।

पुण्य, पाप व धर्मका आश्रय—पुण्य पापका सम्बन्ध परका आश्रय करके होनेवाले विकारभावोंसे है, किन्तु धर्मका संम्बन्ध स्वके आश्रयसे है। अब अपने आपमें यह विश्लेषण करें कि अपने आपका आश्रय करते हुए हम कितने क्षण बिता रहे हैं और परका आश्रय करते हुए कितने क्षण बितारहे हैं। जो काल, जो पर्याय स्व के आश्रयमें होता है वह तो धम है। और जो परिणति परका आश्रय करके होता है वह या तो पुण्य है या पाप । धर्म नहीं । तो मामला तो सब ठीक है, पदार्थ स्वयं सत् हैं, पदार्थ अपने स्वभाव रूप हैं। बात तो सारी ठीक है पर अड़चन एक यह आगयी। भैया! लेकिन, किन्तु, पर, मगर, परन्तु ये सारे शब्द बने बनाए मामलेको बिगाड़ने वाले हैं । आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, किन्तु कर्म उपाधि के वशसे आत्मा विकृत हो रहा है । और इन विकार भावोंमें यह जीव नाना प्राणोंको धारण कर रहा है।

प्राणप्राप्ति प्राणप्रियता पर निर्भर—भैया ! यदि ये प्राण पसंद न हों तो इन से दूर होनेका उपाय सोचिये। यह प्राणोंके धारण करनेकी वृत्ति कबतक रहती है ? जबतक यह जीव देहप्रधान विषयोंमें, शरीर में, इन्द्रियोंमें, वैभवमें, अन्य पदार्थोंमें, ममत्वका त्याग नहीं करता तब तक प्राण धारण करने की वृत्ति चलती रहेगी। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि जब तक हमारी शरीरमें ममता रहेगी तब तक प्राणोंका धारण करना भी चलता रहेगा, ये प्राण हमें प्रिय हैं तो ये मिलते ही रहेंगे । और जब प्राण प्रिय न रहेंगे तो ये प्राण भी हमसे छूट जावेंगे।

यद्यपि इस आत्माकी वृत्ति स्नेहरहित चैतन्य चमत्कारकी परिणति रूप है यह तो सत्त्वके कारण अपनी चैतन्यात्मक परिणतिको ही करता है, फिर भी जबतक यह जीव ममत्वको नहीं छोड़ता तब तक इस जीवकी वृत्ति विभिन्न विभिन्न बदलेगी, ममत्वरूप होगी।

परमें ही परका सर्वस्व — देखिये ये सब चीजें उन्हीं-उन्हींके स्वरूप में हैं। मेरे सोचनेसे कोई चीज खिसक नहीं आती मेरी ओर। मेरे स्वरूप में तो वे प्रदेश ही क्या करेंगी! बाह्य चीजें मेरे सोचनेसे जरा सा भी नहीं खिसकती। किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थपर असर नहीं होता, किन्तु ये पदार्थ स्वयं अनुकूल निमित्त पाकर अपनेमें असर उत्पन्न कर डालते हैं, सो इन जड़ कर्मोंने इन जीवोंमें अपनी परिणतिसे विकार नहीं करदिया किन्तु ऐसा ही विलक्षण निमित्तनैमित्तक योग है कि मलीमस आत्मा कर्मविपाकको निमित्त पाकर अपनी परिणतिसे विकृत हो जाता है।

निमित्तकी निमित्तता—कर्म दिखते नहीं हैं, जिससेकि ऐसा हो सके कि द्रव्य कर्मका आश्रय करो तो विकार हुआ और न करो तो न हुआ। यों समझ लिया जाय इस सम्बन्धमें और ऐसा समझना चाहिए कि विकार जो होता है वह आत्माके अचेतक गुणमें होता है। चेतन गुणमें नहीं होता है। और विकार होनेका जो निमित्त है वह है अचेतन पदार्थ। पुद्गल कर्म अचेतन हैं, उनका निमित्त पाकर जो विकार होता है वह श्रद्धा, चरित्र, आनन्द आदिक अचेतक गुणोंमें होता हैं। जैसे यहाँ भी अचेतक अग्निका निमित्त पाकर अचेतक जल गर्म हो जाता है इसी प्रकार यहां भी अचेतक कर्मविपाकका निमित्त पाकर अचेतक गुणोंमें विकार हो जाता है, जैसे जल अग्निका आश्रय नहीं करता, अग्निकी ओर नहीं झुकता किन्तु अग्निको निमित्तमात्र पाकर जल शीत पर्यायको छोड़ कर गर्म बन जाता है तभी तो यदि कुछ गर्म जल हो तो जरासी देरमें तेज गर्म हो जाता है गर्म न हो तो कुछ देरमें तेज गर्म होता है। इसमें कारण अन्तरङ्ग तो उपादानकी योग्यता है और बाह्यमें निमित्तका सन्निधान है ही। इसी प्रकार यह आत्मा भी द्रव्य कर्मकी ओर नहीं झुकता, द्रव्यकर्मका लक्ष्य नहीं करता; किन्तु अपने ही कालसे द्रव्यकर्मका उदय होनेपर उसका निमित्त पाकर यह जीव स्वयं रागादिक भावरूप परिणम जाता है।

ज्ञान और दर्शनकी अविकृतता—यह ज्ञान और दर्शन स्वरूप आत्म-स्वभाव अविकृत ही रहता है। अनादिसे अनन्त कालतक ज्ञानका सर्व जीवोमें एक ही काम रहा। क्या? जानन। जानन चाहे अल्प हुआ हो या विशाल। ज्ञानका आवरण तो हो गया, किन्तु विकार नहीं हुआ। ज्ञानमें जो मिथ्यापनका

लेश है वह मिथ्यात्व प्रकृतिके कारण होनेवाले श्रद्धाविकारके सम्बन्धसे है। ज्ञानके नातेसे ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं है, चाहे वह किसीमें कितना ही कम प्रकट हो। ज्ञानावरण है, कर्मके उदयके निमित्तसे आवरण तो है, विकार नहीं। बस यह एक गनीमत भी जीवके उद्धारका कारण है कि विकृत तो हो रहा है श्रद्धा चरित्र और आनन्दादि किन्तु ज्ञान सर्वत्र अविकारी है। सो किसी अवसर में, किसी योगमें यह ज्ञान कला ही वृद्धिगत हो जाय तो स्वपरपरिच्छेदन होने लगता है जिसके प्रतापसे श्रद्धा और चारित्रके विकारमें भी अन्तर पड़ने लगता है।

भावदृष्टिसे आत्मावलोकन—भैया ! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। सो ज्ञानके ही नातेसे अपने आपको पूरा देखता हूँ तो वहाँ विकार भी कुछ नहीं है। जैसे एक पुरुष जो मुनीम भी है, पुजारी भी है, बच्चोंको पढ़ाता है तो शिक्षक भी है पर वह पुरुष जब अपनेको केवल मुनीमके नातेसे देखता है अर्थात् मुनीमी करते हुए की हालतमें मुनीमका ही अनुभव करता है तो उसके केवल मुनीमपनेका ही ज्ञान है और-और ख्याल नहीं है। इसी प्रकार बिल्कुल इसी तरहसे और इससे भी अधिक महत्त्वके ढंगसे यह जीव अपनेको ज्ञायकस्वरूप देखता है तब यद्यपि उसमें चरित्रका विकार चल रहा है, आनन्दगुणका विकार चल रहा है इतनेपर भी ज्ञान तो बर्त ही रहा है ना, सो ज्ञानके नातेसे ही अपनेको देखो तो यह आत्मा रागी, द्वेषी, दुःखी, सुखी होते हुए भी इन सब भावोंको छोड़कर केवल ज्ञायक रूपमें ही अनुभवा गया।

ज्ञानानुभूतिकी प्रेरणा—यों यह जीव अपने आपमें एक ज्ञानका ही स्वाद लेता है और वहाँ उसे विकार कुछ भी नहीं नजर आता। ऐसा अविकारी ज्ञान स्वभावरूप अपने आपको देखो। यों अपने आपको देखनेका अभ्यास चले तो हम आप क्यों मोक्षमार्गमें सफल न होंगे। पर हम।आप तो अपना पुरुषार्थ अपना लेखा-जोखा बाहरी विभूतियोंमें लगायें चले जा रहे हैं, सो इसमें तृष्णाका तो अंत है ही नहीं। बाहरी व्यवस्था करके कब निवृत्ति पा सकते हैं ? कभी नहीं। बाहरमें तो बात अधूरी ही छोड़नी पड़ेगी।

वस्तुकी सदा परिपूर्णता—भैया ! अधूरा तो कुछ भी नहीं होता, सब चीजें पूरी-पूरी है, उनमें अधूरापन नहीं है। पर हमने अपनी कल्पनाओंसे जो काम मान रक्खा, जैसा परिणमन कर देना सोच रक्खा है वैसा परिणमन नहीं होता तो उसको अधूरापन कहते हैं। काम अधूरा कभी नहीं होता। पदार्थ हैं और परिणमते हैं। पूर्ण परिणमते हैं, अधूरे नहीं परिणमते हैं, पर अपनी कल्पनाके अनुसार परिणमन न देखनेको अधूरापन कहा करते हैं। सो कभी भी हो अधूराको अधूरा ही छोड़कर आत्महितके कार्यमें लगना होगा। जब भी कोई आदमी हितके कार्यमें लगेगा तब वह सब कामोंको अधूरा छोड़कर ही लगेगा। कामको पूरा करके कोई निवृत्त

होता हो, ऐसा नहीं हैं। अथवा वास्तवमें तो सब पूरे-पूरे कामोंको छोड़कर ही निवृत्त होते हैं।

प्राणोंकी ममता एक विकट संकट—यह आत्मा शरीर और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थोंमें जबतक ममत्व करता है तबतक यह प्राणोंको धारण करता रहता है। और इन प्राणोंको धारण करनेमें ही इस जीवपर सारे संकट हैं। अरे प्राण जा रहे हैं, बड़ा दुःख है, क्या दुःख है ? ये प्राण जा रहे हैं। यदि ये प्राण तुम्हें मिलते ही नहीं, तुम प्राण बिना ही होते तो तुमपर ये संकट आते क्या ? कहाँसे आते। जैसे किसी इष्टका वियोग हो गया, इष्टके मर जानेपर हम दुःखी होते हैं। हाय बड़ा बुरा हुआ। क्या हुआ ? यह अमुक गुजर गया, इसका वियोग हो गया। किन्तु भैया ! यदि जो वह चीज मिलती ही नहीं पहिलेसे, तो क्या वियोगको अवसर आता ? नहीं आता यदि अपना प्राण बिना होते तो अनन्त आनन्द होता।

प्राणप्रसक्तिमें कर्तव्य—अब कहे कोई कि मिल तो गया प्राण, अब क्या करें, अरे मिल भी गया तो उसे तुम न मिलनेकी तरह ही समझो, तो वियोग होनेपर दुःख न होगा। और मिला भी कुछ नहीं है। माना है तो मिला है और नहीं माना है तो नहीं मिला है। बाहरी चीज नहीं मिलती किन्तु अपनी कल्पना बना लेनेका ही नाम मिलना है और किसी कल्पनाके ही बना लेनेका नाम बिछुड़ना है। इस देह में, जो कि प्राणमय है, दसों प्राण इस देहके सम्बन्धसे ही तो हैं। इन प्राणोंकी जबतक ममता रहती है तब तक ये प्राण मिलते ही रहेंगे। ये प्राण, प्राण लेनेके लिए ही मिलते हैं, प्राण बचानेके लिए नहीं मिलते।

आत्माका परमार्थ प्राण—मेरा वास्तविक प्राण है शुद्ध चैतन्य धातु। धातु, उसे कहते हैं कि जिससे नाना प्रकारकी चीजें बनाते जायें, जैसे लोहा, सोना, चाँदी ताँबा आदि धातु हैं इनकी जो चाहे चीज बनाते जावो विभिन्न-विभिन्न, आकारकी बनाते जावो। उन सब पर्यायोंमें वह धातु वही की वही है। अथवा धातु जैसे व्याकरणमें होती है उससे जितने चाहे शब्द बनाते जावो, संज्ञा बनालो, विशेषण बनालो, क्रिया बना लो, जो चाहो शब्द बनाते जावो, उन शब्दोंका मूल वह धातु है। ऐसा कोई सा भी शब्द नहीं है जिसका मूल धातु न हो। किसीमें मालूम पड़ता है किसीमें नहीं। मनुष्य क्या ? जो माने जानेसो मनुष्य इसमें मनु अवबोधने धातु आती है। जन, जो उत्पन्न हो सो जन, इसमें जनी प्रादुर्भावे धातु आती है इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं उन सबकी मूल धातु है। इसी प्रकार जितनी भी सृष्टियाँ हैं चाहे वे शुद्ध सृष्टियां हो, चाहे अशुद्ध सृष्टियाँ हों विभिन्न सृष्टियाँ हों, समान सृष्टियाँ हों उन सब सृष्टियोंका मूल यह चैतन्य स्वभाव है, चेतन द्रव्य है। इस कारण इस चेतनाको धातु कहते हैं। इन चेतन प्राणोंकी जबतक स्वीकारता

नहीं होती है और इन शरीरगत प्राणोंकी ममता रहती है तबतक प्राणोंकी संतति चलती ही रहेगी। प्राणोंपर दृष्टि होनेसे प्राणोंके वियोगका भय रहता है।

दृष्टिके अनुसार सृष्टि—कल्पना करो कि मैं केवल निज शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को ही देख रहा हूँ, ज्ञायक स्वभावका ही अनुभव कर रहा हूँ इस निज स्वरूपको उपयोगसे अभेद बना रहा हूँ ऐसी स्थितिमें आयु पूर्ण हो जाय, शरीरका बियोग हो जाय यह कितनी उत्कृष्ट बात है। क्या वहाँ कुछ घबड़ाहट होगी? यह तो बहुत उत्तम बात है। घबड़ाहट तो वहाँ होती है जहाँ अपने शुद्ध प्राणोंको अलग करके इन विभाव प्राणोंपर पौद्गलिक प्राणोंपर दृष्टि रहती है याने यही मैं हूँ ऐसा मानते हैं। अपना सुख दुःख आनन्द सब कुछ एक इस विश्वासपर निर्भर है कि मैं क्या हूँ। अपने आपमें जो अपना विश्वास बना होगा कि यह मैं हूँ, बस, उसी विश्वासके माफिक अपनेमें क्रिया चलेगी।

विश्वासके विरुद्ध व्यवहार करनेमें अड़चन—मान लिया कि मैं जमीदार हूँ तो जमीदारके विकल्परूप क्रिया चलेगी, मान लिया कि मैं पुरुष हूँ तो पुरुषके अनुरूप क्रिया चलेगी, और मान लिया कि मैं स्त्री हूँ तो स्त्रीके अनुरूप क्रिया चलेगी। अभी किसी पुरुषको कोई नाटकका पार्ट दिया जाय, स्त्री का पार्ट दिया जाय तो वहाँ वचनोंमें तो यों बोला जायगा कि मैं जाती हूँ, मैं खाती हूँ, मैं नहीं रहती हूँ, मैं नहीं करती हूँ। तो इन शब्दोंके बोलनेमे उसे थोड़ा समय सीखनेमें लगता है, नहीं तो बोलते नहीं बनता और स्त्रीसे कहो कि १०-५ मिनट बोलो पुरुष जैसा, तो इन शब्दोंमें बोलना पड़ेगा कि मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं यों करता हूँ, तो उसे बोलनेमें अड़चन पड़ेगी। सो भैया जैसा विश्वास बनाया है उसके माफिक परिणति चलती है। जैसे ज्ञानी पुरुष अपने आपमें यह विश्वास बनाता है कि मैं तो ज्ञान मात्र आत्मा हूँ तो उसकी ज्ञानवृत्ति चलेगी, विभावों की, विकल्पोंकी वृत्ति न चलेगी। इस कारण जो अपनेको प्राणरूप समझते हैं, देहसे ममत्व करते हैं उनकी तो प्राणसंतति चलती है और जब ममत्व छोड़ा, अपने आपको ज्ञानरूप माना तो इस वृत्तिसे प्राणोंकी संतति छूट जाती है।

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संतति दूर होनेका अंतरंग कारण ग्रहण कराते हैं। पहिले यह बतलाया था कि ये प्राण जो इस जीवको लग रहे हैं और लगते चले जा रहे हैं, इसकी परम्पराका कारण क्या है? आज यह कह रहे हैं कि वे पौद्गलिक प्राण जो कि जीवके चले आ रहे हैं उनके विनाश होनेका वास्तविक कारण क्या है।

जो इंदियादिविजई भवीय उपओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सोण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ १५१ ॥

जो जीव इन्द्रिय आदिक पर द्रव्योंका विजयी होकर अपने आपको केवल

ज्ञान दर्शन उपयोगात्मक ध्याता है वह जीव कर्मोंसे राग नहीं करता। फिर कारण के दूर होने पर बतावो उसके ये प्राण कैसे पीछे लगते रहेंगे।

प्राणोंके विनाशका अन्तरङ्ग कारण——यहाँ इन प्राणोंके विनाशमें अंतरंग कारण यह बतलाते हैं कि यदि इन प्राणोंको आप चाहते हो तो इन प्राणों का स्नेह जोड़ो। यह जीव तो ऐश्वर्यशाली है ना। तो जिसमें रुचि करेगा उसको वह चीज मिलती जाती है। यदि यह असुद्ध में रुचिकरता है तो उसे अशुद्ध भाव ही, अशुद्ध वातावरण ही मिलता चला जाता है और यदि यह शुद्ध स्वरूपमें रुचि करता है तो उसको शुद्ध स्वरूप मिलता चला जाता है इन पुद्गल प्राणोंकी संतति निवृत्त हो जाय इसका अंतरंग कारण है पौद्गलिक कर्मोंके मूल निमित्त कारणभूत उपरक्तता का अभाव। राग पौद्गलिक कर्मों के बंधनका कारण हैं और पौद्गलिक कर्मोंका जब उदय होता है तब यह फल भोगता है। और जब यह फल भोगता है तो उसमें कर्म बंध होता है। इस संततिमें इसके प्राणोंका चलना रहना भी बना रहता है सो जो जीव जितेन्द्रिय बने हैं अर्थात जो इन्द्रियज सुखकी उपेक्षा करते हैं वे ही निजस्वभाव को ध्या सकते हैं। इन्द्रिय सुखोंकी उपेक्षा तब तक नहीं बन सकती जब तक अतीन्द्रिय आत्मानंदका अनुभव न हो।

अतीन्द्रिय आनन्द की उत्सुकता—प्रत्येक जीव सुख चाहता है, उसे तो आनन्द चाहिए। यदि स्वाधीन शांत, सास्वत, शुद्धानन्द मिलता है तो फिर क्या कोई बुद्धि-मान भी होगा जो उत्कृष्टानन्दका अनुभव करके भी पराधीन, विनाशीक असार, काल्पनिक सुखको चाहेगा। तो अतिन्द्रिय आत्मासे उत्पन्न होने वाले आनन्दामृतका संतोष हो तो उस संतोषके उपयोगसे ही इन्द्रिय सुखकी उपेक्षाकी जा सकती है। और जब तक इन्द्रिय सुखकी आशक्ति नहीं मिटती तब तक प्राणोंकी संतति दूर नहीं हो सकती। इसलिए इस जीव का प्रथम बड़ा पुरुषार्थ कल्याण मार्गमें यह है कि वह इन्द्रिय विजयी हो। इन्द्रिय सुखको इष्ट और हितकारी न माने।

इन्द्रियज सुखमें क्लेशका संकेत—रसीली चीज खाली, रसों का स्वाद आ गया। वह स्वाद कितनी देरको है और जिस वक्त भी रस स्वाद आ रहा है उस वक्त भी यह कषायमें क्षोभमें पड़ा हुआ है। रसको ग्रहण करनेकी विह्वलता कितनी लगी होती है और आगे पीछे इसका परिणाम क्या निकलता है। परिणाम यह निकलता है कि वह किसी न किसी संकटमें फस जाता है बहुतसे स्वादिष्ट व्यजनोंका संग्रह करनेके लिए संकट उठाना पड़ता है। असंतोष होनेके समय उसका मनोबल भी घट जाता है। हानि ही हानि है इन्द्रयोंकी आशक्तिमें। इस प्रकार एक ही इन्द्रिय की बात क्या। पंचेन्द्रिय के विषय के उपयोग में इसका आत्मबल घट जाता है।

प्रभुता के दुरूपयोग की प्रभुता—भैया इस जीवमें जो शक्ति है। उस शक्ति का

उपयोग दो तरह से होता है। एक तो अपनी शक्ति ववदिकर डालनेमें के लिये अपना मटियामेंट कर डालने के लिये और दूसरा उपयोग अपनी शक्तिका विकाश कर लेने के लिये, क्यों न हो दोनों तरहका उपयोगी, आखिर यह प्रभू ही तो है। जिस बात में यह उतारू हो जाय उसमें डटकर बढ ही तो सकता है। यदि अपनेको यह वर्वाद करनेमें उतारू है तो यह अपने को उतना अधिक वर्वाद कर सकता है कि जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म शरीर रह जाय, अक्षर का अनन्तवा भाग ज्ञान रह जाय, निगोद जीव बन जाय इतना तक यह अपनेको वर्वाद कर सकता है। इसमें शक्ति होनी हैं। यह अपनेको टर्वाद करने के उपयोगमें लगा है तो अधिक ही वर्वाद कर डालता है।

प्रभुता के सदुपयोग की प्रभुता—यही जीव जव अपने विकाशके प्रयोगमें लग जाता है तो इतना विकाश कर डालता है कि समस्त विश्व, तीन लोक, तीन काल समस्त पदार्थ इसके ज्ञानमें एक समयमें ही एक साथ ज्ञात हो जाते हैं। और इतना सर्व विश्वज्ञात हो जानेपर भी यह अपने आनन्दरसमें लीन रहता है। यह ईश्वर विकास करता है तो इतना अधिक विकाश कर डालता है और जो यह ईश्वर विगड़ता है तो इतना अधिक विगड़ता है कि ज्ञानकी ओरसे जिसे देखा जाय तो यों लगता है कि जड़ सा ही हो गया है। तो यह जिस उपयोगमें रमता है, उस उपयोगको बनाता है उस तरहकी सृष्टिको करता रहता है। यह अपनी भली बुरी सृष्टि करनेमें स्वयं समर्थ है।

प्राणसंततिकी निवृत्तिका प्रथम उपाय—यह आत्म कल्याणार्थी पुरुष क्या कि इन प्राणोंकी संततिकी निवृत्ति करदे अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त करे। सिद्धावस्था प्राण रहित अवस्था है। वहाँ दसों प्रकारके प्राणोंमेंसे कोई भी प्राण नहीं हैं। निष्प्राण अवस्था है और परमार्थभूत जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसका आत्यंतिक चरम विकाश हो तो उस निष्प्राणावस्थाको प्राप्त करनेका मूल अंतरंग कारण क्या है और उसके पुरुषार्थमें उद्यम क्या शुरु किया जाय। उस ही वातको यहाँ कह रहे हैं कि हम इन्द्रिय विजयी होगें।

संकटोंका कारण भोग—सर्व साधारण लोग कह सकते हैं कि वाह रे जैन संयम ! घरमें सब सामग्रियाँ मौजूद हैं और खाया नहीं जाता। सर्व प्रकारके पुण्य साधन हैं और उनका त्याग किए किए फिरता है। भले ही जन साधारणको ऐसा लगे पर सोचो तो सही कि पुण्य साधन मिले, भोग साधन मिले और उनमें पड़े रहें, रूचि करते रहे तो अंतरंगमें कितना विगाड़ हो रहा है। भोग रूचि है ना ? भोगों में उपयोग है ना ? उस उपयोगके कारण यहाँ आत्मबल घट रहा है। आत्मस्थिरता दूर होती चली जा रही है। शुद्ध आत्मीयानन्दका विघात हो रहा है।

भोग और योग के मार्ग की भिन्नता—भैया ! उपयोग दो तरह एक समयमें नहीं

चल सकता। भोगमें और योगमें। या तो भोगमें चले या योगमें चले। सो जिस समय यह इन्द्रिय विषय की पुष्टि करने में लगा है उस समय इसका बोधि में उपयोग नहीं है। पर यह तो निर्णय करलो कि हित किसमें है? भोगों में हित है या बोधि में। यह ख्याल लोग करते हैं कि इसने भोगोंको बहुत भोगा पर हुआ क्या? कि भोगों के विषयभूत जो जड़ पदार्थ हैं वे तो ज्योंके त्योंही रहे आये। उनका कोई भी विगाड़ नहीं होता, स्थानान्तर या परिणमनान्तर हो गया है पर उनका बिगाड़ नहीं हुआ। इसने भोगोंको नहीं भोगा किन्तु भोगोंके द्वारा वह भुग गया बर्बाद हो गया। हम बल हीन हो गये, सुख हीन हो गये। तो ये इन्द्रिय विषय आत्मा के हितकारी नहीं हैं। सो विषयत्याय करना कर्तव्य ही है।

अज्ञानीके त्यागसे संतुष्टका अभाव—सम्यग्ज्ञान रहित पुरुष यदि इन बाह्य चीजोंका त्याग कर जाता है तो वहां लाभ कुछ नहीं मिलता। याने तृप्ति नहीं मिलती संतुष्टि नहीं मिलती। क्योंकि संतोषका आधार जो आत्म स्वभाव है उसका तो स्पर्श ही नहीं कर पाया। जो ज्ञान हीन पुरुष, वस्तु स्वरूपके सच्चे अवगमसे रहित है वह पुरुष वाह्य त्याग करके भी संतुष्ट नहीं रह सकता। वहां ज्ञान हीनतामें बाह्य त्यागी को बाह्य त्याग प्रवृतिमें कहीं गुस्सा अधिक आ जाय, अमुक काम यों नहीं हुआ, अमुक ने छू लिया, अमुक बँधा देता है, कुछ ना कुछ कल्पनाएँ करके दुःखी विशेष हो जायगा। और ऐसी स्थितिमें झटपट कल्पनाएँ होना प्राकृतिक है क्योंकि उन ज्ञान हीन बाह्य त्याग करने वाले पुरुषके अंतरमें यह गौरव यह अहंकार बना है कि मैं ठीक कर रहा हूँ। मैं धर्मका ऊँचा काम कर रहा हूं और ये सब लोग अभी हम जैसा नहीं बन पाये हैं। ऐसी भेद बुद्धि होनेके कारण जरा-जरासी बातोंमें क्रोध आ जाना यह प्राकृतिक बात है।

ज्ञाताके शान्ति न्याय प्राप्त—जिसे सम्यग्ज्ञान है। आत्महितकी दृष्टिमें धुन है, या जिसके उपयोग में दृढ़ निर्णीत है कि यह आत्मा ही आनन्दमय है। इनके उपयोगकी वृत्ति स्वयं आनन्द और ज्ञानसे भरी हुयी अवस्थाको लेकर चलने वाली है, मैं स्वयं कृतार्थ हूँ, परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ। मेरा करनेको वाहरमें कुछ काम नहीं है। ऐसे ज्ञाता पुरुषके शान्ति होना न्याय प्राप्त ही है। ये संयम वृत, तप आदि भी मुझ ज्ञायक स्वभावीके करनेको काम परमार्थतः नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। मेरा कांम तो ज्ञान वृत्ति है। वस जाननहार बना रहना है इतना ही इसका काम है इससे बाहर इसका जो कुछ भी परिणमन है। वह कषाय का फल है। कोई प्रवृत्ति तेज कषाय का फल है। कोई प्रवृत्ति मंद कषायका फल है। पाप तीव्र कषायमें होते हैं और वृत, तप, संयम ये मद कषायमें होते हैं।

ज्ञान और चरित्रका कार्य—भैया! ज्ञानके ही कारणसे ज्ञान गुण के

परिणामन से तप, व्रत हो जाते हों सो नहीं। ज्ञानके कारण तो ज्ञान वृत्ति होती है। यह सब कषायोंकी विवधिताका फल है कि कोई अव्रतमें कोई व्रतमें है। हां इतना अन्तर है कि जिसके धर्मकी रूचि जग गयी है ऐसा पुरुष चूंकि बड़े तीव्र कषायमें था तो अब उसका कषाय मंद होने लगा है। और मंद कषायोंके कारण उसकी प्रवृत्तिमें अन्तर आने लगा है। वह तप व्रत, संयम रूप हो गया मगर गुणका विश्लेषण करके तो देखो कि यह व्रत का परिणमन किस गुणसे उठा हुआ है और किस स्थितिमें उठा हुआ है। यह व्रतका परिणमन चारित्रगुण से उठा है। और चारित्रावरण के क्षयोप-शमके निमित्तसे उठा हुआ है।

उपाधि न रहनेपर संयम असंयम असंयमासंयम रहित अवस्था—यदि उपाधि निमित्त न हो, चरित्रमोहावरणका क्षयोपशम उदय आदि न हो अर्थात् चरित्र मोहका अभाव ही तो उसके चरित्रका तो वह विकाश हो गया जिसे हम संयम भी नहीं कह सकते, असंयम भी नही कह सकते, किन्तु स्थिर ज्ञान वृत्ति कहेंगे। तो ऐसा मेरा स्वभाव है। यही मेरा स्वभाव है। यही मेरा काम है। सो इस उपयोगात्मक अपनी आत्माका ध्यान करनेवाले पुरुषको जो अतिन्द्रिय आत्मीयानन्दका अनुभव होता है इस अनुभवके बलसे वह इन्द्रिय सुखसे उपेक्षित हो जाता है। जो समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यमें विजयी बनता है क्रमसे विजयी होता जाता है, वह समस्त आश्रयभूत पदार्थोंकी अनुवृत्तिसे अलग हो जाता है अर्थात् पचेन्द्रियोंके साधन, आश्रयभूत विषयभूत जो स्पर्श, रस, गंध वर्णादिक जो परिणमन है उनकी ओर जैसे पहिले झुकाव होता था, उसकी ओर जैसे पहिले लगता था, उस लगन की निवृत्ति हो जाती है और तब केवल अत्यन्त विशुद्ध उपयोग मात्र आत्माको, उपयोगमें बसा लेता है। अपने उपयोगमें ऐसा स्वच्छ ज्ञानदर्शनात्मक अपने आपको रख लेता है। सो जैसे स्फटिक मणि स्वयं अत्यन्त स्वच्छ है अपने आपके कारण। इसी प्रकार स्वयं सहज अपने आपके रससे जो मात्र ज्ञायक स्वरूप है ऐसे आत्मतत्त्वको अपनेमें ज्ञानी पुरुष बसा लेता है।

पौद्गलिक प्राणोंकी निवृत्तिका हेतु परमार्थजीवत्वकी दृष्टि—जब इस जीवमें पौद्गलिक कर्मोका बन्ध नहीं होता है और जब द्रव्यकर्म और भावकर्म नाशोन्मुख होने लगता है तो इन नोकर्म प्राणोंका भी अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि आत्माको सबसे अत्यन्त जुदा केवल निजसत्तामात्र सिद्ध करना चाहते हो तो व्यवहारजीवपनेके कारणभूत जो पुद्गल प्राण हैं सो वे पुद्गल प्राण इस उपायसे विनष्ट हो जावेंगे। मोहमें बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि होती हैं और बाह्य पदार्थोंमें कुछका कुछ कर देनेके यत्नमें वह अपनेको बड़ा पुरुषार्थी महान कार्य करने वाला मानता है किन्तु हो क्या जाता है कि जितना ही यह बाह्य-

अर्थ में फसता जाता है, उतना ही यह बलहीन होता है। जैसा-जैसा यह अपनेको बाहरी चीजोंसे बड़ा माननेका उद्योग करता है उतना ही यह भीतरमें निस्तेज, बलहीन होता जाता है।

आत्मानुभूतिकी चरित्रसाध्यता—आत्मोपयोगी होनेका काम चरित्र द्वारा साध्य है। चरित्र माने अंतरंग चरित्र। अर्थात् अपने उपयोगको ऐसा बनाएँ कि बाह्यमें सबको असार जानकर, सबको भिन्न अहित जानकर, उनसे इसमें कुछ भी सुधार सुख शान्तिकी कल्पनाकी बात नहीं आये। वस्तुस्वरूपको ज्ञानबलसे निर्णय करके उन सब असत्योंका आग्रह छोड़दो। क्रांतिके कारण दो उपाय हैं एक असहयोग और दूसरा सत्याग्रह।

क्रांतिके दो उपाय—यदि अपने आपके विकाशकी क्रांति करना है तो इन दो उपायोंको करके ही कर सकेंगे। [१) असहयोग और (२) सत्याग्रह। जितने यहाँपर पर द्रव्य हैं, जितने यहाँपर पर तत्त्व हैं उनसे तो असहयोग करो और जो अपने आपमें सत्य है, अनादिसे है अनन्ततक है, स्वतन्त्र है, निज स्वरूप है ऐसे सत्य का आग्रह करो। असहयोग किन-किनसे करना है। कहाँ तक दृष्टि डालें परपदार्थ अनन्त हैं, किन-किन का नाम लें। इस चंचल मनने क्षण-क्षण में तीव्र गतियोंसे किन-किनको विषयभूत कर डाला है। कितने पदार्थ हैं, किनका-किनका नाम लें। एक ही शब्दमें कहा जासकता है कि जो पर पदार्थ हैं और परभाव हैं उनका तो असहयोग करना है और आग्रह सत्यका करना है। आग्रहके लायक एक ही तत्त्व है केवल, वह है ज्ञान स्वभाव, चैतन्य भाव, परम पारणामिक भाव, सहजभाव, उसका आग्रह करना है कि मैं यही हूँ, इतना मात्र हूँ ऐसा सत्यका आग्रह करना है और जितने भी इन्द्रियोंके विषय हैं उनका असहयोग करना है।

विषयाविरक्तिका अभ्यास ज्ञानविकासका साधन—यह मेरा परिवार है, पुत्र है, मित्र है, यह किसका विषय है ? यह मनका विषय है। पंचेन्द्रिय और छटवाँ मन, इनका विषयभूत बाह्य पदार्थ होता है निज पदार्थ नहीं होता है। मनका विषयभूत निज पदार्थ भी है मगर वह निजपदार्थ जबतक मनका विषयभूत है तब तक वह अनात्मतत्त्व है, आत्मतत्त्व नहीं है। और जब निज आत्मतत्त्व मात्रका ही विषय रह जाता है, ऐसी स्थितिमें जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मतत्त्वका ज्ञान कराता है। यह मैं आत्मा हूँ, इस निजतत्त्वके लक्ष्यसे अनुपरक्तता होती है यह विरागभाव प्राणोंकी संततिका छेद करता है तो उसकी संततिके विनाशका उपाय यही है कि हमें अपने जीवनमें इस बातका अभ्यास करना चाहिए कि जो पुण्यके फल मिलते हैं उन साधनोंमें ही हम न बह जायें, किन्तु उनसे विरक्त होनेका अभ्यास बनाते रहें विरक्तिका अभ्यास हमारे ज्ञानविकाशका प्रबल साधन है।

इन्द्रियविजयकी आवश्यकता—इन्द्रिय विषयोंके विजयमें जैसे रसनाका विजय करो, सात्विक भोजनसे किसी चीजका त्याग न कर सको तो कमसे कम जो न मिले उसकी भी तो कल्पनाएं न करो। जो रसीला नहीं मिलता है तो उसकी भी अभिरुचि न करो। हाय; आज यह चीज नहीं है। इस प्रकार उसकी भी वासना को छोड़ दो। मतलब यह है कि पाये हुए वैभवमें भी राग न करो, न मिले हुएकी वाञ्छा न करो। जो उन पौद्गलिक पदार्थोंमें ही राग करते हैं उन्हें प्राण मिल जायेंगे और जो राग नहीं करते उनके प्राणोंकी संतति निवृत हो जायगी सो ये जो पौद्गलिक प्राण हैं ये हमारे व्यवहार जीवपनेके कारण हैं हम निश्चय जीव रह जायें, परमार्थभूत सत रह जायें, व्यवहार जीव न रहें। यही हमारे हितकी बात है।

व्यवहारजीवत्व—इस व्यवहार जीवपनेको कहीं तो यह भी कह दिया कि यह पौद्गलिक तत्त्व हैं। जैसे परमाणुओंके सम्बन्ध में जो व्यञ्जन पर्याय बनती है वह एक स्कंध है। जुदा उसका परिणाम है, जुदा उसका उपयोग है। अब शुद्ध अणु नहीं रहा। इस प्रकार जीवका और कर्मका जहाँ बंधन है श्लोक है वहाँ पर जो कुछ बन जाता है वह क्या बन जाता है। जो बना वह जीव नहीं है। कहीं तो यह कह दिया कि यह जो व्यवहार जीव है ना, यह जीव नहीं है और कहीं यह कह दिया कि जो व्यवहार जीव है वह पौद्गलिक है।

व्यवहारजीवत्वका आधार प्राण—मतलब यह है कि व्यवहार जीवपना अशुद्ध है, अमृतरूप नहीं है। यह व्यवहार जीवपना तब मिटता है जब प्राणों का उच्छेद हो। जिनसे राग हैं, मोह है, विनासके वे ही कारण हो रहे हैं। यह भीतरी बात है और ऊपर में भी देखो तो देशमें जितने लोग हैं इन सब लोगों की प्राय: एकसी ही वृत्ति चल रही है कि अपने कुटुम्बकाख्याल करते पोषण करते, राग करते, अपना बनाकर रहते। यह बात घर-घरमें चल रही है पर इससे खुदको कितनी परेशानी है, खुद को कितना क्लेश लगा रहता है इन बातों पर भी ध्यान दें तो यह भी दिख जायगा कि बड़ा क्लेश है, बड़ी व्यग्रता है।

आत्मा का शत्रु मोह—अनेकों धनिक पुरुष लेटे-लेटे ही व्यग्र हो जाते हैं। कहीं परिग्रह सम्बन्धी बातों के प्रति कितनी विह्लता हो जाती है, जिसे कहते हैं कि हार्टफेल की नौबत आ जाती है। डाक्टर झट लग जाते हैं। यह हालत हो जाती है तृष्णा के कारण अज्ञान मिटे तृष्णा मिटे तो अभी दिल ठीक हो जाय। तो इतना अनर्थ करने वाला मोह भाव है, दूसरा कोई दुश्मन मुझ पर नहीं लदा है, यही तृष्णा और अज्ञान ही सिर पर चढ़ा हुआ है। इस संकटका नाश वस्तु स्वरूप के ज्ञान बिना नहीं हो सकता। वस्तु स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो अधिक वस्तु स्वरूपके ज्ञान रूप बने रहने में लगे रहना चाहिए।

वस्तु स्वातन्त्र्यके दर्शनकी प्रकृतिमें सर्वत्र एकत्वका दर्शन—यदि ध्यान अपना वस्तुस्वातन्त्र्यकी ओर लगायें, तो प्रत्येक जगह इसको एकत्व दीखेगा। स्कंध दीखे तो उसमें भी परमार्थतः एक-एक अणु है जो आंखोंसे नहीं दीखता पर समझमें आ रहा है·ऐसा स्कंधो को देखते समय वहां के एकत्वका, अणु-अणु का ध्यान रहेगा यह व्यवहारि जीव बन गये हैं उनमें जीव तो यह चैतन्य स्वभाव है चैतन्य स्वभाव मात्र यह जीव ही वहाँ भी एकत्व दीखेगा इसका यह जो रूपक बना है यह असमानजातीय पर्यायरूप व्यवहार है। जीव नहीं है। पौद्गलिक है! माया हैं, इन्द्रजाल है, इन्द्रजाल कहो या व्यवहार जीवपना कहो एक ही बात है। इन्द्र माने आत्मा। उसका जाल है। उसका विकार है उसकी गलत सृष्टि है। ऐसा सब जगह एकत्व देखने का अभ्यास बनाओ। सब जगह हमें वस्तु का स्वातन्त्र्य स्वरूप ही देखने का काम है। यही उपयोग बनें तो इस उपयोग से हमारा हित है इसी उपयोग से हमारी प्रगति होगी हमें सबसे पहिले इन्द्रिय विजयी होना है। उपभोगों में उपयोग किया है इससे क्या हित है, उनसे उपेक्षित हों तो इससे हमें हित और शान्तिका मार्ग मिल सकता है।

जो इन्द्रियविजयी होकर ज्ञानदर्शनमय उपयोग मात्र अपने आपको जानता है मानता है, ध्याता है वह कर्मोंसे, भाव कर्मो से, परिणमनोसे कर्म विपकोसे राग नहीं करता है फिर ऐसे शुद्ध ज्ञानी जीवको प्राण कैसे पछ्यावेंगे अर्थात् शुद्ध ज्ञानी जीवके साथ फिर प्राण नहीं लगे रह सकते हैं। प्राणों का अभाव हुआ तो सर्व उपाधियोंका अभाव हुआ समझिये। सर्व अन्तर्बाह्य मलीनताओंका अभाव ही सर्वसिद्धि है।

अब पर भावोंसे आत्माको जुदा दिखानेके लिए कि यह आत्मा समस्त परसे और परके निमित्तसे उत्पन्न होने वाले भावोंसे जुदा है, ऐसो जुदापन दिखानेके लिए व्यवहार जीवत्वके कारण भूत जो पर्याय है उनका स्वरूप दिखाते हैं। व्यवहार जीव कहते उसे हैं जो गति विशिष्ट है, क्रिया विक्रिया जिनमें होती है वे व्यवहार जीव कहलाते हैं और निष्क्रिय अविकारी जो जीव है वे निश्चय जीव कहलाते हैं अर्थात् मुक्त और संसारी जीवों को यहाँ व्यवहार जीव कहा हैं। व्यवहार जीवपने की जो पर्याय है उसका स्वरूप यहाँ दिखाते हैं—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो ॥
अत्थो पज्जायो सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ १५२ ॥

कोई भी पदार्थ हो स्वलक्षणभूत अपने स्वरूपके अस्तित्त्वमें ही निश्चित है, सो ऐसा किसी एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थमें जो कि वह भी स्वलक्षण भूत अपने स्वरूप के अस्तित्त्वमें निश्चित है, विशेष रूपसे कोई आत्म लाभ कर लेना संयोग होना परिणमन होना बस यही अनेक द्रव्यात्मकके पर्याय कहलाती है।

द्रव्यपर्यायकी सृष्टि—एक परमाणु जो अपने परमाणुके चतुष्टयमें निश्चित है, उस एकका दूसरेमें जो आत्मलाभ सम्भावित होता है, एक विशिष्ट सम्बन्ध होता है, बस वही अनेकद्रव्यात्मक पर्याय कहलाती है। सो पुद्गलकी यह बात समझमें आ जाती है कि यह परमाणु पुद्गल यद्यपि अपने अपने एकत्व में, अपने-अपने स्वरूपमें निश्चित है लेकिन एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलमें जो सम्बन्ध होता है उससे उनके स्थानादि उत्पन्न हो जाते हैं, आकार बन जाता हैं। चौकी है तो चौखूटी है, चीजका लम्बी इत्यादि जो आकार बन गया वह आकार उन परमाणुवोंके सम्बन्धका फल है। अनेक द्रव्योंके सम्बन्धका फल है विभिन्न आकार हो जाना।

जीवके संस्थानका हेतु—इसी प्रकार जीव भी अपने स्वलक्षणसे अपने स्वरूपमें निश्चित है। मेरा अस्तित्व मेरा ही है और पुद्गलोंमे उनका स्वरूप उनमें है, मगर जीवोंका और पुद्गलोंका जो आत्मलाभ हो जाता है, सम्बन्ध हो जाता है, निमित्त-नैमित्तिकबंधन हो जाता है तो जीवका भी नाना प्रकारके आकारसे सहितपनेरूपसे उत्पन्न हो जाना सम्भावित ही है। जैसे अणु-अणु सब एकस्वरूप हैं, एक प्रदेशी हैं अपने-अपने चतुष्टयमें निश्चित हैं लेकिन उन परमाणुवोंका जब सम्बन्ध होता है एकका दूसरेमें आत्मलाभ होने लगता है तो उनमें आकार उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार जीवका पुद्गलमें जब सम्बन्ध होता है आत्मलाभ सम्भावित होता है तो जीवके भी अनेक प्रकारके संस्थानोंसे सहितपना उत्पन्न हो जाता है। और इस प्रकारसे यह पर्याय उत्पन्न हो जाती है। यहाँ संसारका, संसार परिणमनका वर्णन चल रहा है। ये संसारी बन कैसे गये ? तो यह तो प्रदेशात्मक दृष्टिसे वर्णन है कि जीव अपने चतुष्टयमें स्थित है और पुद्गल अपने चतुष्टयमें स्थित हैं पर जीवका पुद्गलमें जब सम्भावित आत्मलाभ होता है तो जीव विभिन्न संस्थानोंसे विशिष्ट हो जाता है, अर्थात् विभिन्न देहोंका धारक हो जाता है।

भावात्मकदृष्टिसे आत्मयात्रा—भैया ! अब थोड़ा भावात्मक दृष्टिसे आत्मयात्रा करने चलें। क्या पावेंगे वहाँ ? इस जीवका जो स्वरूप है, जो ज्ञात होता है वह एक अद्वैत स्वरूप है अर्थात् अन्य कुछ नहीं है। वह तो वही है किन्तु जो ज्ञाता है वह अपने उपयोगमें उस सहज चैतन्य स्वरूपको प्रतिभास रहा है। उस ज्ञाताको केवल वह ही अनुभूत होता है वहाँ द्वैत कुछ नहीं है। यह आत्मा अखण्ड अपने स्वरूपमें अद्वैत निर्विकल्प चित् तेजोमय है, किन्तु सर्वप्रथम इसकी वृत्तिमें द्वैत उत्पन्न होता है तो इस ही में ज्ञाता और ज्ञेयका द्वैत उत्पन्न होता है। स्वभावसे देखा तो वहाँ द्वैत कुछ नहीं है। पर वृत्तिरूपसे देखा तो द्वैत उत्पन्न हुआ, ज्ञाता और ज्ञेय। मैं जानता हूँ, और इसको जानता हूँ अपने आपमें ही इसने पहिले द्वैत किया। तो जैसे लोकमें मिसाल है कि जब दो कानों बात पहुँचती है तो छह कानों और सैकड़ों कानों बात

पहुँच जाती है। सर्वपदार्थोंकी तरह अपने अद्वैत स्वरूपमें रहने वाले इस जीवने सर्वप्रथम अपने आपमें द्वैत उत्पन्न किया तो यह द्वैत विशेष रूपमें बढ़-बढ़ कर इतने द्वैतोंमें, इतने द्वन्द्वोंमें, दंदफंदोंमें यह फैला कि जिसका उदाहरण यही सब विभिन्न नाना सर्व लोक ही हुआ, क्योंकि वृत्ति में द्वैत उठा।

द्वैतसे अनेक द्वैतोंका प्रसार—मैं जानता हूँ, इनको जानता हूँ, इस द्वैतके बाद ही इस द्वैतबुद्धिके और फंसोंमें रागद्वेपका परिग्रह होने लगा। तब कर्ता, कर्म की बुद्धियाँ भी पसरने लगीं। मैंने यह किया, इन्हें किया आदिक बुद्धि फैलने लगी और बुद्धियोंके पसरनेके परिणाममें यह सब जगजाल, पौद्गलिक कर्मोंका बंधन, कर्मोंका उदय, भावोंका बदलना, संस्थानोंका परिवर्तन ये सब संकट इस जीवपर आ गये। इस जीवपर ये कोई संकट नहीं है कि कुछ धन कम होगया, अथवा हम कम धनी रहे, हम आगे विशेष न बढ़ सके आदिक बातें कोई संकट नहीं है।

जीवपर भावसंकट—इस जीवपर संकट ऐसा क्या और क्यों छा गया कि जिन संकटोंके कारण यह जीव शांत नहीं रह सका नाना विचित्र भवोंमें जन्म लेता रहा और नाना स्थितियाँ इसके संक्लेशोंकी बनती रहीं? अहो सबसे बड़ा संकट तो भाव संकट है। द्रव्यसंकटोंमें संकटोंका उपचार है। वास्तविक संकट तो जीवपर भावसंकट है यह भाव संकट इस द्वैतबुद्धिका परिणाम है। किसीके घरमें केवल एक ही बच्चा है तो उसे व्यग्रताएं नहीं होती। जितना धन है उसका उत्तरदायी यही तो है, धन जो कुछ है अब किसी और जगह देनेकी चिन्ता तो नहीं है। दो हों तो वे कभी जुदा भी होंगे, झगड़ेंगे भी, उनके अलग-अलग बँगले बनेंगे, अलग-अलग हिसाब बनेगा। लो, अब यों द्वन्द्वमें पड़ गये।

जीवके एकत्वमें अनाकुलता—कोई जीव एक अकेला ही है, पुत्रादिकका झगड़ा नहीं है तो और भी स्वाधीन है। अपने हितके लिए, अपने भलेके लिए जो कुछ भी उसे बात जची उसके करनेमें वह पूर्ण स्वतन्त्र है। और कोई यदि एक अकेला ही हो जाय, कारबार या संगम समागम इनसे भी परे हो जाय तो वह और अधिक आनन्द पानेका अधिकारी है। और कोई जीव इन सब अलाबलाओंके बीच भी द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्मके एक पिंडात्मक इस फंदके बीच भी सब परभावोंको पार करके मात्र एकाकी शुद्ध चैतन्यस्वभावमय ही अपनेको जाने तो उसका आनन्द और भी बढ़ जाता है। किन्तु यहां तो व्यर्थ ही भावसंकट छाया है। यह जितना संकट लगा है, वह संकट केवल अपने भावोंके कारण लगा है।

सुख और दुःखकी उपयोगपर निर्भरता—भैया! इस जीवका स्वयं उपयोग इस प्रकारका बना है कि ये सब दंदफंद जन्म मरण सारे संकट घिर आते हैं। किस तरह का उपयोग बनाएं कि ये सारे संकट टल जायें, इसीका ही तो निर्णय सम्यग्ज्ञान है।

हमें संतोष देनेवाला सम्यग्ज्ञान ही है। अन्य पदार्थोंसे संतोष, तृप्ति, आनन्द माननेका जो ख्याल है वही ख्याल आनन्दसे दूर कर देता है। इस जीवका यह कितना विचित्र परिणमन हो गया ? कितनी तरहके एकेन्द्रिय जीव, कैसे-कैसे पेड़, कोई छोटा कोई बड़ा, कोई चौड़ा कोई विस्तृत, कोई लता रूपमें, कोई पौधे रूपमें, कितना विचित्र परिणमन यह हो जाता है। ये सब बातें दूसरोंकी नहीं है, ये सब खुदकी बातें हैं। पहिले भव बीते तो कैसे-कैसे फैला, कैसे-कैसे बना यह कैसी इसकी स्थिति हुई।

असावधानीका फल—भैया ! उक्त सब बातें बीती और बीती ही नहीं, यदि अपनेको अब भी नहीं सम्हाल पाया; अहंकार, मिथ्यात्व, रागद्वेष और नाना विकल्पों के चक्रमें ही रहा अपने प्रभुकी उपासना न कर सका, विषयोंका मौज लेनेकी ही धुन रक्खी तो अब भी क्या है ? ऐसी ही पर्याय पेड़ वगैरहकी निगोदकी, कीड़ो की पर्याय मिल जाय तो क्या आश्चर्य है। मनुष्यभव बड़ी जिम्मेदारीका भव है। यदि सम्हले तो यहीं से संम्हल जाय और गिरे तो यहीं से ऐसा गिरे कि जितना अधिक गिरना हो सकता इस मनुष्यभवसे गिर सकता है। अन्य भवोंसे अत्यन्त निम्न पदमें गिरना कहीं तो असम्भव है और कहीं कठिन है। ये सब विचित्र संस्थान कैसे हो गये। तो ये सब अनेक द्रव्योंके सम्बन्धका परिणाम है। जो भोग रहे हैं, बीत रहे हैं। गुजर रहे हैं, वे सब बातें अशुद्ध वृत्तियां हैं, सब मिथ्याज्ञानका परिणाम हैं। इसलिए इन गुजर रही वृत्तियोंको अशुद्ध कहते हैं।

झगड़ा सच्चा, कारण भ्रम—देखो भैया ! मूल तो कुछ नहीं, झगड़ा सच्चा खड़ा हो गया जैसे दो चार आदमियोंके बीच बात तो कुछ न हो, किन्तु बात ऐसी बढ़ जाय कि वह बात बढ़-बढ़ कर एक बड़े झगड़ेका रूप रख ले। ऐसा घरोंमें प्रायः होता है कि झगड़ेकी जड़ तो कुछ नहीं है और झगड़ा बहुत बड़ा खड़ा हो जाता है एक दूसरेकी जान लेनेको उतारू होजाता। झगड़ा तो विकट खड़ा हो जाता है और कही कि भाई तुम दोनोंमें झगड़ा कैसे हो गया। तो कहेगा कि भाई हम दोनों में बुराई हो गयी। तो बात तो कुछ बतलावोगे इसने ऐसा किया, ? यों किया। तो यह भी इसने क्यों किया ? तो और मूलकी कुछ बात बतलायेगा। तो ऐसा भी क्यों किया ? इसका तो पता नहीं। अथवा कुछ भ्रम निकल आता है, अर्थात् बात कुछ भी नहीं थी कोरा एक भ्रम था। इसकी हमसे दृष्टि फिर गयी। इतना भ्रम हो गया। बात कुछ भी नहीं थी। बस दोनों ओरसे वृत्तियाँ थोड़ी बहुत ऐसी होने लगीं कि बहुत बड़ा झगड़ा खड़ा हो गया। बहुत बड़े झगड़ेकी जड़का निर्णय करने बैठे तो मूलमें कुछ बात नहीं निकली। निकला केवल भ्रम। मूल तो झूठा और झगड़ा सच्चा मारपीट तक होने लगी। रातदिन दुःख होने लगा, झगड़ा सच्चा बन गया किन्तु खोजको तो जड़ झूठी ही सारी निकली।

कारण केवल कल्पना, फल महती विपत्ति—इसी तरह हम आप लोगोंका तो झगड़ा बन गया सच्चा, जन्म लेते हैं, मरते हैं, विचरते हैं, द्रव्यकर्म नोकर्म आदिसे बँधने पड़ते हैं, अभी इसरूपसे अवस्थित है और मरणके बाद जैसा जो कुछ भव मिले उसीकी तरह फैल जाते हैं वैसे भाव हो जाते हैं, एक नया मोह बनाते हैं, नया परिचय बनाते हैं ये सब विचित्रतायें होने लगती है। झगड़ा सच्चा खड़ा हो जाता है। देखो सब दुःखी हैं कि नहीं ? कामके कर्तृत्वकी बुद्धि लगी है कि नहीं। सब प्रकारके संकट इस भवमें लाद लिए हैं कि नहीं ? चैनसे दूर होगये हैं कि नहीं। झगड़ा तो यह सब सच्चा बन गया है पर इस झगड़ेकी जड़का निर्णय तो करो कि जीवपर ये सब संकट क्यों छा गये हैं। इन नाना संस्थानोंमें यह जीव क्यों बँध गया है। "उस प्रकार कर्मोंका उदय निमित्त था ।"ऐसा उदय क्यों आगया? "ऐसे ही कर्म सत्तामें थे। ये कर्म इसतरह सत्तामें कैसे आये ? राग, द्वेष , क्रोध, मान, माया लोभ आदि विकार किया उसका निमित्त पाकर कर्मबन्धन हुआ"। इसने राग द्वेष क्यों किया ?"इसको पर इष्ट अनिष्ट जचा, "इसकी परमें ऐसी इष्ट अनिष्टपनकी बुद्धि क्यों हो गई। परसे अपना हित माना। देखो, मूल कुछ नहीं और फल अन्तमें निकला क्या कि आना जाना कुछ नहीं, लेनदेन कुछ नहीं है, केवल विपरीत श्रद्धा या भ्रम कर लिया था जिसका यह कुफल निकला।

जड़ तो झूठी, झगड़ा सच्चा—केवल इतना सोच लिया कि अमुक मेरा है और ऊधम कुछ नहीं किया, गड़बड़ कुछ नहीं किया, परमें हेर फेर कुछ नहीं किया करे क्या ? कर ही नहीं सकता है इसका वश पर पदार्थोंपर है नहीं। नहीं तो यह अज्ञानी इस सारे जगतको तोड़ मरोड़ कर अपने पेटमें ही रख लेता , इसकी तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। तो कर तो यह जीव कुछ नहीं सकता केवल अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें रहता हुआ परके प्रति केवल इतना मान लेता कि यह मैं हूँ , यह मेरा है। केवल इतनासा भावपरिणमन हो गया, जड़ और कुछ नहीं निकली। लेन देन कुछ नहीं निकला। सुधार विगाड़ परस्परमें कुछ नहीं निकला। किन्तु, केवल एक भाव ही बना कि देखलो भैया ! जड़ तो झूठी और झगड़ा सच्चा।

विपदा मिटनेका उपाय तो सुगम, किन्तु मानना कठिन—अब झगड़ेमें इतना तेज फस गये हैं कि अब झगड़ा दूर करनेकी उत्सुकता हो गयी है। चाहते हैं कि यह झगड़ा मिट जाय। हे भगवान ! मेरा कल्याण कैसे हो ? तो यह कल्याणकी बात भी, है तो सुगम, पर झगड़ा इतना बन चुका कि जैसा कभी दो आदमियोंमें भ्रमके कारण ही या कुछ यों ही बोल चाल बहुत दिन तक न होनेसे बोलचाल बंद हो गयी हो। छह महीने, सालभर बीत गये। अब उनका संकल्प विकल्प इतना दृढ़ बन गया कि उनसे कहो भाई बोल लो ; केवल बात ही तो करना है। तो ऐसी

अड़चन बोलनेमें क्यों आती है ? कि पहिले मैं क्यों बोलूँ। कुछ सन्धिकी बात आयगी तो इतनी आ जायगी कि पहिले यह दूसरा बोलदे तो उससे कई गुणा स्नेह जचाकर मैं बोल लूँगा, पर पहिले कैसे बोल लें। क्योंजी, बोल लेनेमें क्या भार आगया ? मगर भीतरमें भाव विकल्प ऐसे हैं कि बिल्कुल सरल बात भी बड़ी कठिन लग गयी। तो इसी प्रकार यह इतना बड़ा ऊँचा झगड़ा खड़ा हो गया है। इतना विचित्र बंधन हो गया है। अब यह बंधन मिटानेके लिए यदि कहा जाय कि भाई केवल भाव ही तो बदलना है, केवल शुद्ध आग्रह ही तो करना है। ऐसा मान लो अपने आपमें कि जैसा सहज स्वरूप यह है, जैसा परमार्थभूत सत् है, ऐसा अपने आपको मान लो तो देखो, सब संकट अभी मिटता है। किन्तु भैया ! इतना मानना भी कठिन हो गया है।

त्रुटिको त्रुटि समझना विवेकका प्रथम चरण—भैया ! इतनी विचित्र स्थिति हो गय है, इतना विचित्र बंधन हो गया है कि परके करनेकी बात तो अत्यन्त सरल लगती है मगर अपनी इतनी सरल भी बात नहीं की जा सकती। इतना क्यों झगड़ा बढ़ चुका है ? इतनी जो नाना विचित्र पर्यायें उत्पन्न हुई हैं इन सब नाना पर्यायों का कारण क्या है ? कि अनेक द्रव्योंके संयोगात्मक इन पर्यायोंमें इसने आत्मलाभ किया है। अनेक द्रव्यपर्यायको अनेकद्रव्यात्मक पर्यायरूपसे माने तो वहाँ अविवेक नहीं है। पर अनेकद्रव्यात्मकपर्यायको ही यह मोही मानता है कि यही मैं एक निज हूँ। मैं ही यह होता हूँ, ऐसा अन्तरङ्गमें प्रतिभासित हो रहा है जैसे स्वप्नमें देखी हुई बातपर यदि यह ध्यान आजाय कि यह तो मैं स्वप्नमें ही देख रहा हूँ तो यह स्वप्नकी बात नहीं कही जा सकती। स्वप्नकी बातमें स्वप्नको देख रहे हैं यह नहीं मालूम किया सकता। इसी प्रकार अनेकद्रव्यात्मकपर्यायोरूप यह मैं हूँ यह मोहमें ही मालूम होता है। अनेकद्रव्यात्मक पर्यायोंमें ये अनेक द्रव्यात्मक पर्यायें हैं इस तरहसे मालूम कर लेना यह मोह नहीं है। बुरेको बुरा जान लेना यह तो स्पष्ट ज्ञान है और गलतको सही जान लेना यह अविवेकमय बात है।

असत्य अनेक, सत्य एक—देखो भैया ! गलत जितना होता है वह विविध होता है और सही जो बात होती है वह एक होती है। जैसे स्कूलमें बच्चोंको गणितका सवाल दिया। उन्होंने सवालको किया। सवालका जो सही उत्तर आयगा वह तो एक ही उत्तर आयगा और गलत जो उत्तर आयगा वे नाना प्रकारके उत्तर आयेंगे। किसीने गलत जोड़ा, किसीने गलत घटाया, किसीकी विधि गलत हुई, गलतके नाना प्रकार हो जावेंगे। गलत उत्तर नानाप्रकार के होंगे और सही उत्तर एक होगा। पदार्थोंमें सत्यका जो विकास होता है अविर्भाव होता है वह एक ही प्रकार का होता है। जैसे शुद्ध विकास सिद्ध भगवानोंके एक समान है और जो पर उपाधिके सम्बन्धमें विकार चलते हैं, वे नाना प्रकारके चलते हैं, इन संसारी जीवोंमें। ये

सभी अनन्ते जीव प्रभु हैं। इनकी प्रभुता संसारमें संसारविलासरूप हो रही है और मुक्त जीवोंमें अपने शुद्ध तत्त्वके अनुभवरूप हो रही है। पर उस विलासमें क्लेश ही क्लेश है; किन्तु विकासमें आनन्द है। वह विकास मेरा इस उपायसे ही प्रगट हो सकता है कि मैं परभावसे भिन्न अपने आत्मतत्त्वको समझूँ।

अनेक द्रव्योंका संयोग होनेपर जो परिणमन प्रदेशोंमें होता है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं, अनेक पुद्गल द्रव्योंका संयोग होनेपर जो स्कंधपरिणति वनती है वह पुद्गल द्रव्यकी व्यंजन पर्याय है। जीव और द्रव्यकर्म इनका संयोग होनेपर जो संसारी भव वनता है वह जीवकी व्यंजन पर्याय है। अव उन्हीं पर्यायोंकी व्यक्तियोंको पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिखाते हैं।

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादु हि णामकम्मस्स ॥ १५३ ॥

जीवकी ये चार पर्यायें हैं संसारी अवस्थामें—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। सो ये पर्यायें नाना संस्थानोंके रूपमें अन्य अन्य प्रकारकी कैसे हो गईं ? कि नाम कर्मरूप पुद्गलकर्मका विपाक हुआ, उसके कारण अनेक द्रव्योंका संयोग हुआ, उसके परिणाममें ये विचित्र आकार हो गये।

संस्थानोंकी विचित्रतामें दृष्टान्त—जैसे अग्नि तो एक स्वरूप है मगर ईंधन के संयोगसे उस अग्निका भी नानाप्रकारका आकार वन जाता है। अग्नि किसका न म है ? गर्मीका नाम अग्नि है कि पिण्डका नाम अग्नि है ? जो भी पिण्ड होगा वह ईंधन है। गर्मीका नाम अग्नि है। तो उस गर्मीका विस्तार क्या ? वह तो भावात्मक है पर भावात्मक भी उस भावका कोई निजी सूक्ष्म आधारन हो यह नहीं हो सकता, मगर उस भावात्मक अग्निका जो निजी आधार है उस निजी आधारकी व्यक्ति स्थूल स्कंधोंके संयोग विना नहीं होती। सो कंडेमें अग्नि लगी है तो उसकी अग्नि कंडेके आकार है, लकड़ीकी अग्नि लकड़ी जैसे आकारमें है। अग्नि एकस्वरूप होकर भी काठ, पत्ता, तृण इनके आधारभेदसे भिन्न भिन्न आकारोंमें हो जाती है।

जीवका यथार्थ स्वरूप—इस प्रकार जीव क्या है ? एक ज्ञान, दर्शन, चैतन्य भावस्वरूप है। जव भी जीवका स्वरूप जानना चाहें तो एकदम भावात्मक दृष्टि करना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल इन तीन दृष्टियोंसे जीवका अनुभवात्मक सुपरिचय नहीं होता, अनुभवमें शीघ्र नहीं पहुँचता किन्तु भावात्मक जीवको देखा जाता है तो धर्मका एकदम सही काम वनता है। भावात्मक दृष्टिका अर्थ है कि यह मैं जीव चैतन्य स्वरूप हूँ, ज्ञानदर्शनात्मक, हूँ, चैतन्यप्रतिभास हूँ। जाननका क्या स्वरूप है इसके जाननेकी अधिकाधिक कोशिश करें और उसका जानन वना कर रहें जैसा कि यह जानन स्वरूप है। तो जो प्रतिभास जाननप्रतिभास करनेवाले ज्ञानमें आयगा तो

उसमें विकल्प न रहेंगे। मोह न रहेगा, चिन्ता और शोक न रहेगा। समस्त संकटों को दूर करनेका अमोघ उपाय यही है कि हम अपने सहज ज्ञान स्वरूपको ज्ञेय बनावें, इस ज्ञानज्योतिमें अपना उपयोग करें।

जीवके बाधक जीवके विभाव—जीवके ज्ञानमें, ज्ञानविकाशमें यदि बाधा डालने वाला कोई है तो वे हमारे मोह राग द्वेष, तृष्णा, कषाय, विकार ही हैं, अन्य कोई नहीं। जैसे रावणके वंशको उजाड़नेवाला मुख्य कारण रावणके परिवारका भेद भी हुआ। जैसे कहते हैं ना अपन कि यह तो आस्तीनका साँप है, याने खुदमें दुश्मन है जो परपदार्थरूप दुश्मन हो वह मुझको इतनी बाधा नहीं दे सकता, उससे हम सावधान हो सकते हैं. पर जो अपनेमें ही मिला हुआ हो और वह दगा देनेपर उतारू हो जाय तो उससे नहीं सम्हला जा सकता। उससे और अधिक बिगाड़ हो जाता। तो इसी तरह हमारे ज्ञान बिकाशमें जो बाधक हैं वे हमारे भीतर उत्पन्न होने वाले राग द्वेष मोह, आशा, तृष्णा आदि हमारे परिणाम ही हैं, ये हमारे ज्ञानविकाशमें बाधा डालते हैं। अभी यहीं अंदाज करलो इसी जीवनकी बातोंमें, कभी मोह ज्यादा सताये, कोई चिंता अधिक आजाय तो कहते हैं कि भैया! हमारा दिमाग नहीं काम करता है, दिमागके माने ज्ञान। भाई! क्यों दिमाग नहीं काम कर रहा? हम दूर बैठे हैं, तुम दूर बैठे हो, हम तुमको पीटते भी नहीं हैं, जो सुविधा चाहो सो सुविधा देदें। अब तो अपने दिमागसे अच्छा काम करा लो। पर भैया! कैसे काम करालें उसमें तो राग द्वेष चिता, तृष्णा आदि बाधक आ गये हैं।

राग द्वारा आघात—हम जितना ही राग बढ़ाते हैं उतना ही अपने पर अघात करते हैं। जितना ही कषाय बढ़ाते हैं उतना ही अधिक चेतन प्राणोंका आघात करते हैं। मेरा आघात करनेवाला जगतमे कोई दूसरा नहीं है। क्रोधकी जड़ कुछ नहीं है व्यवहारिक बातोंमें। मानकी जड़ भी अन्य कुछ नहीं है, मायाकी जड़ कुछ नहीं है। सबका मूल वह लोभ बैठा है। उसका भी मूल मोह बैठा है। इसके कारण ही क्रोध आता है, लोभके ही कारण मान माया आती है तो सर्व कषायोंमें विकट कषाय है लोभ। किसी चीजमें लोभ है ना, सो उसमें बाधा आये तो क्रोध होता है। क्रोधका असली कारण होता है लोभ, किसी न किसी लोभमें बैठे हो, या किसी समय मान किया जाता हो तो उस मानका क्या कारण हुआ? लोभ; परवस्तुका लोभ न सही, मगर अपनी कीर्तिका लोभ होगा, यही मानका कारण हुआ उस कीर्ति और यशके लोभके कारण झगड़ा हो जाता है, और क्रोध व घमंडके कारण झगड़ा बढ़ जाता है।

द्रव्यलोभ व कीर्तिलोभ—भैया! अपने जीवनव्यवहारमे, लोकके; जीवन व्यवहार में दो प्रकारके लोभ पाये जाते हैं। एक तो परपदार्थोंका लोभ, जैसे धनकी बात, पैसोंकी बात। और एक अपनी बढ़ाईका लोभ। परख लो यहाँ दो प्रकारके लोभ हैं। बढ़ाई

का लोभ और द्रव्यका लोभ। इन दोनों प्रकारके लोभोंमें से गृहस्थीके बारेमें सोचा जाय तो धनका लोभ तो कुछ थोड़ा काम भी आरहा है, न धन हो तो क्या खायें पियें! ठंढ हो तो कैसे रहें। धनका, लोभ तो एक कुछ कुछ आवश्यक यूजमें हो गया है, मगर वड़ाईका लोभ तो बिल्कुल अनर्थकी चीज है। न वड़ाईका भाव करो तो क्या गुजारा न चलेगा और धनका काम न करें तो अभी गुजारा न चलेगा। आत्माका तो गुजारा चलता है पर गृहस्थीका न चलेगा। तो अब इसमें तीव्रता देखी जाय कि इनदोनों प्रकारके लोभोंमें से कौनसा लोभ तीव्र कषाय है? यशका लोभ तीव्र कषाय है किसीने धनका भी त्याग किया, परिवारका भी त्याग किया, और उसके वड़ाईका लोभ लग गया तो वड़ाईका लोभ धनके लोभसे भी अधिक लोभ हुआ ना; और जो वड़ाईका लोभ वाला होता है वह आत्मानुभवका पात्र नहीं होता है।

लोभका मूल पर्यायबुद्धि—यह वड़ाईका लाभ, जो कि सब प्रकारके लोभ छूट जानेके बाद भी रहता है और जिस इस वडाईके लोभके त्याग होनेपर वह निर्विकल्प कहला सकता है ऐसा लोभ पर्यायबुद्धिके कारण होता है मनुष्यादिक पर्यायोंमें जो आत्म-बुद्धि लगी है, कि यह मैं हूँ, यह महा विष है, यह महा पाप है। इस जगतमें कोई किसीका रक्षक नहीं है, किसीसे अपनेको भला कहला लेना, किसीमें कुछ अपना पेठ बना लेना इत्यादि यत्न करनेसे लाभ कुछ नहीं है।

ज्ञानीका साहस व सन्तोष—दुनियां मुझे जाने या न जाने, इतना वड़ा साहस करके जो अपने आपके अनुभवसे अपने आपमें संतोष रहनेकी कला पा लेना है वही पुरुष धन्य है। उसको धन्य कहने वाला बाहरमें कोई नहीं है, क्योंकि कोई जनसाधारणमें उसकी वृत्ति नहीं होती, वह स्वयं पुरुषार्थी एवं मोक्षमार्गी होता है। वह स्वयं ही सहज रूपसे अपने आपमें रमनेका काम करता रहता, आत्मपोषण करता रहता है! ऐसी वृत्तिसे जो रह सके वे ही पुरुष पूज्य हैं, धन्य हैं। और, वे भगवानके स्वरूप है जैसे भगवान सारे विश्वका ज्ञाता होकर भी निज आत्मतत्त्वमें लीन रहता है उसी प्रकार यह ज्ञानी संत पुरुष भी अपने प्रयोजनभूत ज्ञेयका ज्ञाता रहकर अपने आत्मीयानन्दसे अन्तरङ्गमें संतुष्ट रहता है।

असन्तोषका कारण पर्यायबुद्धि—भैया संतोष न हो सकनेका कारण पर्याय-बुद्धि है जिन्हें हम सरल शब्दोंमें, सीधे शब्दोंमें कह सकते हैं कि पर्यायको द्रव्य मान लेना ही मोह हैं, पर्यायबुद्धि है, यही मिथ्यात्व है। अनित्यभावनामें यह कहते हैं कि ये सब विनाशीक हैं। तन, धन, यौवन, नारी, द्रव्य जीवन आदि आपका सारा वैभव विनाशीक है। इस थोथी बातको बतानेकी यहाँ क्या आवश्यकता थी? यों कि मोही जन इस विनाशीक पर्यायको द्रव्य मान लेते हैं सो उनके संयोग वियोगको संकट मान लेते हैं अपने विपरीत भावोंके कारण। सो जब यह समझ जायें कि यह पर्याय

है, विनाशीक होती है, और इस पर्यायका जो आधार है, जो द्रव्य है वह विनाशीक नहीं है, वह ध्रुव तत्त्व है इतनी बात समझलें तो पर्यायमें मोह न रहेगा।

अनित्यभावनाका मर्म—भैया ! अनित्य भावनाको प्रयोजन तब पूर्ण सिद्ध होता है जब अनित्यके चिन्तनके साथ नित्यकी भावना हो। अनित्य हैं, विनाशीक है आदि खूब विकल्प कर लिया जाय, किन्तु नित्य भी कुछ है या नहीं, इसका ज्ञान न हो तो यह उपयोग किस जगह रुकेगा। यह तो कुछ न कुछ जानेगा। विनाशीक, विनाशीक सब है। जहाँ गया वहीं जानने लगा। विनाशीक है लो ज्ञान लौट आया। दूसरे में पहूँचा विनाशीक है। लो ज्ञान फिर लौट आया, तीसरी जगह गया वहाँसे भी ज्ञान लौट आया। तो यह ज्ञान फुटवालकी तरह धक्के खाता रहे क्या ? विनाशीक-विनाशीक जान रहा है। यह ज्ञान कहाँ टिके। जबतक अविनाशी तत्त्वका बोध नहीं होता तबतक अनित्य भावना यथार्थ कार्यकारी नहीं है। जबतक नित्यपनेका पता न हो, जो सार रूप है, हित रूप है, उसका पता न पड़े तो अनित्यका ज्ञान करता रहे, इसी विकल्पमें घुलता रहे उससे इसको विश्राम नहीं मिल सकता। इन पर्यायोंका जो विशेष वर्णन किया जाता है, पर्यायोंका कारण बताना, पर्यायोंका स्वरूप बताना, पर्यायोंकी विशेषता बताना, यह सब है पर्यायोंसे मोह हटा लेनेके लिए।

इन जीवोंपर रागरंगका बड़ा विकट कठिन जमाव है और वे रागरंग भी कुछ-कुछ से करीब-करीब वैसे के वैसे ही विषयको लिए रहते हैं। १० वर्ष पहले भी जिस चीजसे राग था उस ही वस्तुविषयक आज भी राग है यह राग बदलता रहे, माने भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें चलता रहे तो भी मध्य-मध्य कुछ विश्राम तो मिले, एक वस्तुके रागमें जो विपत्ति और कष्ट होता है इतना न रहेगा किन्तु एकको ही विषय बना कर जो उपरक्त जीवन चल रहा हैं। जो आपका पुत्र है, जो आपका घर है, वही जीवनमें अंत तक रागका विषयभूत रहा है, तो वह राग और अधिक गहरा होता चला जारहा है। चला ही जावेगा, क्योंकि यह राग अपना विषय नहीं बदलता है। तीव्ररागोंमें वही उसका विषय रहता है, मोटे रूपसे बात कह रहे हैं। तो ऐसे चलते हुए जीवनमें रागकी अधिकता है।

मोहकी विभिन्नता—भैया ! सुनते हैं कि और देशोंमें न पुत्रोंका कुछ नाता है, न स्त्रीका कुछ नाता है। हालाकि वहाँ और तरहकी भाव विपत्ति है मगर परिवार जैसा राग और चिन्ता विह्वलता हो जानेकी बात उनपर नहीं गुजरती है। उनके पुत्रोंका नाता नहीं, स्त्री भी जिससे स्नेह है वह अगर तलाक कर दे तो उससे भी निश्चिन्त हो जावे। इस प्रकार से वहाँ चाहे अन्य सकट हो मगर जो एक गहरी चिन्ता हो जाती है, एकको ही रागका विषय बनाकर इतनी विह्वलता हो जाती है इस जाति की वहाँ बिपत्ति नहीं हो पाती है। वहाँ और प्रकारकी बातें हैं। स्वच्छन्दता हो गई, आत्मकल्याण करनेकी योग्यता कम है धर्मको अणुरूपसे भी पालें ऐसी बातोंका

अवसर प्रायः नहीं है ऐसी अनेक बातें तो हैं मगर, इस प्रकरणमें यह कहरहे हैं कि रागों के आश्रयभूत गिने चुने २-४ मोही जन होते हैं तो उनमें रागोंकी तीव्रता बहुत होती है, और जो राग आज इसमें हुआ, फिर छूट गया, फिर किसी अन्यमें हो गया तो उन रागोंकी गहराईका रंग नहीं रहता।

तीव्र रागका प्रयोग—तीव्र रागमें और क्या होता है कि जो पर्याय मिली, जो शरीर मिला, जो गृह मिला, जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त वही-वही पदार्थ रागोंका विषय बना रहता है। जो आपका घर है वह आपका न होता, दूसरेका होता, तो क्या आपका उसमें राग होता? नहीं होता। चीज वही है, आप यहां न उत्पन्न होते, और जगह उत्पन्न होते तो? ऐसा भी तोहो सकता था, यदि मनुष्य न होते, किसी पशु पक्षी इत्यादि की पर्याय में होते तो फिर तुम्हारे लिए ये सब जीजें होतीं क्या? कुछ नहीं होती। और कुछ दिनों बादमें ऐसा हो ही जाना है कि यह स्थान छोड़ करके और कहीं पहुचना है। तब फिर ये कोई चीजें तेरी या मेरी होंगी क्या? कुछ भी तेरी मेरी नहीं होगी, परन्तु अपनी जिन्दगीके इन समयोंमें इतनी हिम्मत बांधनी कठिन है कि जो चीजें १०-५ साल बादमें अपनेसे छूटेंगी तो उनको १०-५ साल पहिलेसे ही छूटा हुआ देखलें? उनसे मुक्त जीवन अपना बनालो ना? ऐसी कुछ हिम्मत कर सको। तो बड़ा लाभ है। केवल थोड़ेसे पीरियेडका ही तो अन्तर है। थोड़े समय बादमें तो सब चीजें अपनेसे छूट ही जावेगी।

अवश विघुज्यमानकी प्रीति छोड़ो—भैया! एक बार भले मनसे विवेक बनाकर सारी चीजोंको थोड़ा पहिलेसे ही छोड़दो, कम करदो तो उसमें तुम्हारी भलाई ही है, बुराई नहीं है। यह नारकादिक जीवोंकी पर्याय कैसी बनी है जिनके मोहको मिथ्यात्व कहते हैं, ये नामकर्मकी प्रकृतिके कारण बने। ये कैसे मनुष्य बन गये? कैसे इन विडम्बनाओंको एक पदार्थकी कला कहें। क्या केवल परमाणुमें स्कन्ध बन गया? कैसे बन गया, इसको नहीं बताया जा सकता है। जैसे ये वैज्ञानिक लोग बहुत अविष्कार करते हैं क्या मनुष्योंके शरीरका कोई अवयव जैसे खून या कोई भी अंग अच्छा बुरा कैसा भी हो या खून ही हो, क्या ऐसी चीज भी बना लेंगे। यही ऐसी बात हमारी समझसे कठिन हो गई। तत्सम और कुछ चाहे बना लें। परजो है सोई-वैसा ही बन जाय सो नहीं बनसकता है। ये निमित्तनैमित्तिकभावसे माया रूप होते हैं। इनमें राग न करो।

विधि विधान—जीवका, कर्मका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो सूक्ष्म शरीर का, स्थूल शरीरका संयोग हो, कुछ भी हो रहा हो तो वह अपने आप ही हो रहा है। करने बैठे तो कर नहीं सकते है पर हो रहा है। और प्रथम तो करने कोई बैठता ही नहीं है। कोई करता ही नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहो करता है। तो करनेका निमित्त उनमें क्या लगाया जाय और खुद-खुद की परिणतिको क्या करे।

खुदमें खुदकी परिणति होती है।

कर्तृत्व है कहां—यह तो द्रव्यका स्वभाव है कि खुदमें खुदका परिणाम हो रहा हैं। तो खुदके परिश्रममें करनेका शब्द कैसे लगाया जाय। करनेका शब्द दूसरे द्रव्यमें लगाया जा नहीं सकता है और करनेका शब्द अपने आपमें क्या लगाया जाय जैसे इस भीटपर जो सफेद खड़िया पुती है इस खड़ियाने क्या काम किया। कोई कहेगा कि खड़ियाने भींटको सफेद किया। कोई कहेगा कि खड़ियाने अपनीं खड़िया को स्वयं सफेद किया खड़िया भीटको सफेद कर ही नहीं सकती। खड़ियामें खड़िया है और भीटमें भीट है। खड़िया अपने आप ही भीटका आधार पाकर पानींका संयोग पाकर ऐसी फैल गई कि जिसको खुरच दें तो पतले-पतले धापड़से खिच आते हैं। तो खड़ियाने भीटको नहीं सफेद किया। भीट भी वहीकी वही है। खड़ियाने अपने ढेलेवाले रूपको छोड़कर ऐसे पतले रूपको पा लिया है। तो खड़ियाने खड़ियाको ही सफेद किया। तो इस खड़ियाने भीटको तो कुछ नहीं किया। तो इस भीटके प्रति भी करनेका नाम नहीं लगाना चाहिए और खड़ियाने खड़ियाको सफेद किया ऐसा कहना कुछ पागलके जैसे वचन मालूम होते। तो किया क्या ? उसे कहें कैसे ? खड़ियाका इस प्रसाररूपमें सफेदरूप परिणमन हुआ। सो खुदका खुदमें परिणमनका काम हुआ। सो करनेका शब्द ही बेकार है। करनेका शब्द व्यवहार चलानेके लिए है। वस्तुस्वरूप बतानेके लिए नहीं है तो यह पौद्गलिक नामकर्मके विपाक के कारणसे अनेक द्रव्योंका संयोगात्मकपना बनता है।

स्वभाव व उपाधि का वैचित्र्य—भैया ! यद्यपि यह जीव एकस्वरूप है, ज्ञायक स्वभाव है, लेकिन उस उपाधिके सम्बन्धसे ये नाना प्रकारके संस्थानोंके द्वारा अन्य-अन्य प्रकार हो रहे है। आज मनुष्य हैं, फिर इस मनुष्यभवको छोड़कर हाथी का भव मिलजाय तो सारा शरीर वदल जाय, और देखो मजेकी वात कि मनुष्य मरा जवलपुरमें और हाथी वना कलकत्तामें। तो रास्तेमें जो जीव विग्रहगति करके जायगा तो रास्तेमें आकार रहेगा मनुष्य जैसा, पर नाम रहेगा हाथीका। मरनेके वाद इस जीवका नाम हाथी हो गया रास्तेमें, क्योंकि हाथी उस योनिवाली तिर्यंच गतिका उदय है। तिर्यंचका तो नाम हैं मगर आकार मनुष्यका है। सारा मामला वदल जानेके वाद भी याने आयु वदल गयी, गति वदल गयी और उसके अनुकूल भाव परिणति भी वदल गयी, फिर भी आकार मनुष्यका रहा। इसका कारण यह है कि जीवका आकार वदल गया, पर आधार जो शरीर है उसे अभी नहीं मिला। वह कलकत्तामें जाकर शरीर वर्गणायें ग्रहण करेगा। अग्निके स्वरूपमें आकार कुछ नहीं है किन्तु अग्नि जैसे ईंधन में पहुँच जाय वैसा ही अग्निका आकार वनता है। इसी तरह जीवका स्वयंका आकार कुछ नहीं है, जैसा इसका आधार मिला वैसा ही इसका प्रदेश विस्तार होगया

पर यह उसके परमात्मद्रव्यके कारण यह भव नहीं हुआ इसमें निमित्त पर उपाधि है। यहाँ यह बात जानना है कि मेरे ही कारण मेरा बिगाड़ नहीं है। मैं तो आनन्द स्वरूप हूँ।

सांकर्य व स्वरूपास्तित्व—अब यह बतलाते हैं कि यह आत्मा अनेक द्रव्योंमें संकीर्ण है। अनेक द्रव्योंके बीचमें भिचा हुआ है। वहीं आत्मा है, वहीं पुद्गल है, धर्म है, अधर्म है, आकाश है, काल है, और कितना-कितना इस आत्माका अन्य पदार्थोंके साथ संयोग है, सम्बन्ध है। इतनेपर भी आत्माके पदार्थोंका निश्चय करानेवाला जो अस्तित्व है वह अस्तित्व आत्माका आत्मामें ही है। किसी दूसरे पदार्थोंसे इस आत्मामें किसी अन्य प्रकारकी परिणति नहीं होती, क्योंकि स्वरूप ही न्यारा-न्यारा है। इस जीवने खुद पर पदार्थोंके बारेमें विचार बनाकर और अपनी कल्पनाओंमें लाभकी बात मान ली थी कि इसमें इतने धनका लाभ है, इसमें इस कुटुम्बका लाभ है, इन कल्पनाओंको बना लेनेके कारण उस कालमें भी दुःख भोगता है और बाद में भी जैसी कल्पनाएं बनायी थो वैसी बात अन्यत्र नहीं पाते हैं तो दुःख होता है।

खुद की भूल का ज्ञान खुद को कठिन—इस जीवके दुःखी होनेका कारण बाह्य, पदार्थोंका सुधारना, बिगड़ना, जन्मना, मरना यह कारण नहीं है वहाँ भी मात्र अपनी कल्पनाएं जैसी बनायी उसके अनुसार अपना नाचहो रहा है इससे आगे दुनिया से कोई सरोकार नहीं। जीवका ऐसा नग्न चित्रण है तभी तो इसे अपनी गल्ती अपने आपको नहीं दिखती है। और दूसरोंकी गलतियाँ पाससे बहुत साफ नजर आने लगती हैं कि देखो यह पुरुष बिना काममें अमुकसे मोह कर रहा है। इसका है क्या? व्यर्थ राग कररहा है। व्यर्थकी बेवकूफी मूर्खता सब नजर आती है दूसरेमें परअपने आपकी भी ऐसी ही बेवकूफीकी मिथ्या कल्पनाएं हुआ करती है इस ओर दृष्टि ही नहीं। दूसरों पर कोई विपदा आ जाय। इष्ट वियोग हो जाय इष्ट बाधक का संयोग हो जाय तो ऐसी हालतमें तड़फते हुएमें दूसरोंको समझा देनेकी इसमें कला है। यह दूसरोंको तो समझाता है पर अपने आपपर जब कोई बात गुजरती है उस वक्त यह अपने आपको समझा सके ऐसा ज्ञान बल नहीं प्रकट हो पाता है।

कलेशका कारण स्वयंकी कल्पना—देखो भैया! पर के प्रति ममत्व करके व्यर्थ ही कलेश बनाता है यह जीव! बनाएं पर यहाँ कुछ भी संघर्ष नहीं है कि इसका इससे नाता है इसलिये इसका उससे ममत्व है जहाँ जिसके संयोगकी बात होगी मोहका उपादान होनेके कारण उस तरहसे ममत्व का प्रसार होने लगता है। कुछ ममता करने योग्य वस्तुओंमें व्यवस्था नहीं है कि यह चीज इसकी है इसलिए इसके ममत्व हुआ सम्बन्धकी बात तो कुछ संयुक्तिक नहीं है यह तो अटपटा कल्पित

जाता है। इसकी आदत मोह करनेकी है इस कारण जिसको पाया उसका विषय बनाकर मोह करने लगता है। जिस पदार्थमें मोह किया जा रहा है उस पदार्थसे कुछ सम्बन्धकी बात हो, जिससे यह कहा जा सके कि मोह करना ठीक ही तो है, ऐसा कुछ भी नहीं है। असल में पर चीज अपनी हो तो मोह कैसे न किया जाय ! पर ऐसा कुछ भी संयुक्तिक सम्बन्ध नहीं है।

पदार्थकी निजसत्त्वनिवद्धता—आत्मा जहाँ है वहांपर सभी पदार्थ हैं। उनमें ज्ञेयका होना यह अन्य चीज है। आत्माका जो सत्त्व है उस निज सत्त्वमें ही आत्मा निवद्ध है यह मैं अन्य अन्य पदार्थोंके सत्त्वसे निवद्ध नही हूँ। जीव पर यह बहुत वड़ा संकट है कि हैं तो पर द्रव्य अत्यन्त स्वतन्त्र पूर्ण स्वरूप किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई लेन देन भी नहीं चलता है। पर निमत्ति नैमित्तिक ऐसा योग है। कि अमुक योग्यताका पदार्थ अमुक-अमुक ढंगके पदार्थोका निमित्त पाकर वे अपनी परिणति से इस प्रकार परिणाम लेते हैं। ऐसा जगत में निमत्त नैमित्तिक योग है जिसके कारण और आगे वात चल उठी जो कि श्रद्धामें भी प्रभाव डालने लगी।

वस्तुतः प्रत्येक द्रव्यकी अपने सत्त्वकी सीमा ही ऐसी है। अनेक द्रव्योंका सांकर्य होनेपर भी प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने सत्त्वमे ही निबद्ध है। ऐसा पदार्थोके निजी स्वरूपका निश्चय करानेवाला जो अस्तित्व है उस अस्तित्वका उद्योत करते हैं देखो भैया ! "कहते हैं", की क्रियाके एवजमें उद्योतयति शब्द दिया है। जिसका भाव यह है कि वह अर्थनिश्चायक अस्तित्व पदार्थमें है, तुम जानो तो है, न जानो तो है, उल्टा जानो तो वही अर्थनिश्चायक अस्तित्व है, सीधा जानो तो वही है। जो है उसका अब प्रकाश करते हैं।

तं सब्भावणिवद्धं दव्वसहावं तिधा समक्खादं
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदव्वम्हि ॥ १५४ ॥

स्व और परके विभागका निर्णय किए विना जीवको शांति नहीं हो सकती और धर्मोमें धर्म प्राथमिक कदम पुरुषार्थ भी यही है धर्म पुरुपार्थ, ज्ञानमें यह स्पष्ट निर्णय हो जाय कि यह तो मैं हूँ, वाकी सब अनात्मा है, पर हैं। ऐसा स्पष्ट निर्णय बन जाय वस, यही धर्मपुरुपार्थ है और जन्मकी सफलताकी वात है, ज्ञानका ऐसा निर्णय वन सकता हो तो ये तीन खण्डके मकान, ये नाना प्रकारके वैभव क्या हैं ? ये मपर जीवके साथ जायेंगे या जब जीवका दुःख परिणमन हो रहा हो तव क्या उस दुःख परिणामनमें कुछ ये हेर फेर कर देंगे। सारा परिवार मिल गया, सारा वैभव मिल गया पर ये इस जीवको शांत नहीं कर सके। कैसे करेंगे ?

मिथ्या निर्णय से शान्ति असंभव—अमुक-अमुक प्रकारसे पर पदार्थ जुट

जायें तो हमें शांति होगी। ऐसा जो निर्णय है वह निर्णय मिथ्या निर्णय है। मेरा उपयोग मेरे को ग्रहण करेगा, सारे विकल्प तरंग शान्त होकर निर्विकल्प स्वच्छ ज्ञान स्वभावको, निजी तत्त्वका यह उपयोग ग्रहण करेगा तो निजी निधिमें शांतिका विकास होगा। शांति किन्ही अन्य पदार्थोंसे नहीं आ सकती, ऐसा जिनका निर्णय है वे ही शांतिका मार्ग मोक्षका मार्ग प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए इतना पहले काम है कि हम स्व और परके विभागोंका निर्णय करलें।

सम्यक् निर्णयकी महत्ता—सम्यक्के निर्णयका काम कितना बड़ा है। क्या यह काम हजारों लाखोंके मुनाफेका जहाँ प्रसंग हो उस कार्यसे भी क्या बड़ा है? देश भर का नेतृत्व मिलता है और काम करते हैं उतने बड़े कामसे भी क्या बड़ा है? अरे इस अपने आपके निर्णयके कामको कितना महान् बताया जाय, इसकी जगतमें उपमा नहीं है। इस अपने निजी काममें लगे हुए जीवको चाहे तीनों लोकके समस्त जीव भी न जाने उल्टा जाने, बुरा कहें ऐसी उनकी स्थिति बने तो भी यह ज्ञानी सम्यक दृष्टी जांव तो अमीर ही हैं। और वह अपनेमें बसे हुए अमूल्य आनन्दका अनुभव करता ही है।

स्वपर विनाजनका उपाय—स्व और परके विभागोंका निर्णय कैसे होता है? इसका निर्णय करानेवाला स्वरूपास्तित्व है। वस्तु कितनी है? अन कितने स्वरूपमें हैं? इतनी बात देख सके तो धर्मका प्रसंग है। धर्मका सम्बन्ध ज्ञानसे है देह की क्रियासे नहीं।

ज्ञानकी प्रवृत्ति—ज्ञानरूप धर्म करनेवाला पुरुष रागभावोंके कारण प्रवृत्ति जब करता है तो कैसे प्रवृत्ति होती है? इसका निर्णय चरणानुयोगमें विस्तृत विवेचन हुआ है यदि तुम अपने उपयोगको अपने देहकी वृत्तिमें लगाके देखो, इसी तरह से अपने देहकी प्रवृत्ति करो, तथा इसमें धर्म मानो तो पहले यह बतलाओ कि उपयोग ने लक्ष्यमें ग्रहण किसे किया! पर तत्त्वको ग्रहण किया। उपयोगका विषय बना परतत्त्व और परतत्त्वका विषय करके भीतरमें जो भोगा, मौज लिया, वह वहां भी मौज लिया? विकल्पोंमें मौज लिया तो जिस उपयोगसे विकल्पका मौज किया और जिस उपयोगसे पर पदार्थोंका लक्ष्य बनाया उन उपयोगमें से धर्म निकले तो कहांसे निकले? धर्मका फल तो शांति है। क्या ऐसा उपयोग करनेमें शांतिका अनुभव होरहा है। यदि शांतिका दावा करते हो तो क्या एक दम सीधे हमें परतत्त्व का ध्यान करना चाहिए?

मेरा स्वरूपास्तित्व—मैं अपने स्वरूपास्तित्वमें क्या हूँ? कितना मेरा स्वरूप है। पिंडात्मक, घनात्मक जैसा कि यह स्कंध है इस प्रकारका स्वरूप तो मुझमें नहीं है। तो मेरा स्वरूप कैसा है? मेरे स्वरूपमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। मेरा अमूर्त

स्वरूप है। सभी लोग जानते हैं कि इस जीवका अमूर्त स्वरूप है। अमूर्त है पर आकाश भी अमूर्त है। उस आकाशसे यह मैं जुदा हूँ। इसका विभाग करने वाला एक ज्ञान स्वरूप है। मैं ज्ञानघन, आनन्दस्वरूप एक सत् हूँ। जाननके विलक्षण धर्मको लिए हुए जो आत्मा है यह आत्मा करेगा क्या? वही ज्ञानकी कलाओंको यह आत्मा करेगा। इस शुद्ध ज्ञानके ही कारणसे आनन्दवृत्ति जुटी हुयी है। सो यह ज्ञानमय समूचा द्रव्य उपाधिके वससे सम्बन्धमें विकृत हो रहा है, ऐसी स्थितिमें भी वह कर क्या रहा है? अपने चैतन्यकी कलाओंको कर रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें इसका प्रवेश नहीं है।

सृष्टि उपयोगपर निर्भर—तव ऐसा जानकर यह निर्णय होता है कि मैं अपने को कैसे जानूँ तो शांति मिले? विकार हटे और निर्विकल्प ज्ञायक स्वभावमय अपने को जानूँ। और अपनेको कैसा जानूँ तो अशांति हो, विकार बढ़े? उस विकारमय अपनेको जानूँ। इससे निर्णय हुआ कि अपना जैसा स्वरूपास्तित्व है, अपने आपका जैसा सहज सत्त्व है उस रूपमें अपनेको अनुभव करूँ तो वह धर्म है और ऐसे धर्म की रुचि करनेवाले निर्णय करनेवाले उस ही में संतोपका निश्चय रखने वाले ज्ञानी पुरुपके भी जव राग भावका उदय होता है और उसकी प्रवृत्ति करना पड़ती है तो उसकी प्रवृत्ति कैसी होती है? यह वात चरणानुयोगके शास्त्रमें स्पष्ट लिखी हैजो कि व्रतियोंके द्वाराकी हुई दृष्ट होती है।

ज्ञान व रागकी वृत्तिपर संयमकी निर्भरता—ज्ञान रखते हुए कितना राग शेप हो तो अणुव्रतकी परिणति होती है। कितना किंचित राग रह जाय तो महाव्रत की परिणति होती है। और जव राग न रहे तो यथाख्यात चरित्रकी प्रवृत्ति होती है यह सव जान लेनेपर स्पष्ट हो जाता है ज्ञानके संगके रागका वल। जव तक इसे स्वरूपास्तित्वका निश्चय नहीं होता तव तक यह धर्ममें कैसे लगे? उस स्वरूपास्तित्व का वर्णन इस गाथामें किया जा रहा है। स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वको अर्थका निश्चायक वताया हैं। इसका स्वरूप इसमें ही है। कोई वस्तु दूर भी हो तो भी हम इसका निर्णय कर सकते हैं कि इसका स्वरूपास्तित्व यह है, इतना है। सूर्य करीव २-३ हजार कोसका है। यदि सूर्यका स्वरूपास्तित्व इतनेमें देखा तो सूर्य इतना और उसका अस्तित्व यदि यह हिन्दुस्तानमें भी देखा तो यह कहा कैसे जा सकता हैं कि सूर्य इतनाही है। सूर्य इतना ही है यह निर्णय तभी होगा जव कि उसके स्वरूपास्तित्वका पता पड़े। भैया! स्वरूपास्तित्वको तो उस समय हम वहुत अच्छी तरहसे पकड़ लेते हैं (व्यंग) कि हम तुमसे मिले जुले रहते थे किन्तु जव प्रसंगमें झगड़ा हो जाय, मन विगड़ जाय, कलह हो जाय तो अपने स्वरूपास्तित्वका जल्दी पता लग जायगा, यह मेरा कुछ नहीं है, फिर झुकाव नहीं रहता है। असलमें वहाँ भी यथार्थ स्वरूपका पता नहीं पड़ा

वहाँ भी द्वेपकी वजहसे झकझोरा चला।

स्वरूपास्तित्वके निर्णयका फल—स्वरूपास्तित्वका जिसके निर्णय है वह संपदा पाकर अपनेमें हर्षका विकार नहीं बढ़ाता और विपदा का साधन मिलकर भी वह अपनेमें विषाद नहीं बढ़ाता। ऐसा ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी वात क्या हो सकती नहीं है? अगर भीतरमें उद्यम करे तो ऐसा ज्ञाता द्रष्टा रहा जा सकता है। यदि ऐसा विश्वास नहीं है तो भगवानकी पूजा क्यों करते हैं। ऐसा ज्ञाता द्रष्टा कोई हो सकता है कि नहीं? अगर यह निर्णय है कि नहीं हो सकता तो उसकी गुरुकी, देवकी श्रद्धा ही न रही। तो फिर उसे दुनियामें देव गुरु हैं कहाँ? देव जो हुए हैं वे पहिले इस लोकके वीचके ही जीव थे। और गुरु तो यहीं होते हैं। जैसा उनका स्वरूपास्तित्त्व है वैसा ही हमारा स्वरूपास्तित्त्व है। वे हैं ऐसे इसका अर्थ यह है कि हम भी ऐसे हो सकते हैं। हममें भी वही का वही स्वरूपास्तित्त्व है।

आत्मदया—भैया! अपने स्वरूपास्तित्त्वका निर्णय हो और भीतरमें ऐसा गुप्त पुरुषार्थ भी चले तो यह अपनी दयाकी वात है। अपने आपपर तरस लाओ, अनन्त कालसे जन्ममरणके चक्र लगाते आये हैं, खोटे खोटे भव कुयोनियोंमें जन्म लेते आये, इतना दुःख भोगा है, अव तो अपने आपपर तरस आए तो अपनी ही यह वात है कि अन्य सव कामोंको पीछे करें अन्य सवको गौण करके, उनके विकल्पको तोड़ करके कुछ क्षण तो अपने आपमें अपने आपके इस सत्यस्वरूपका अनुभव तो करें।

वहकनेमें दृष्टान्त—जैसे कोई वच्चेको वहका दे, किसी पासके उड़ते हुए कौवे को देख कर, कोई वालकसे कहे कि देखो तेरा कान कौवा लिए जा रहा है। वालक वालक ही तो है, कम वुद्धिवाला तो है। अपने आपके निर्णयकी वुद्धिमानी तो नहीं करता अर्थात् अपने कानको तो टटोलकर नहीं देखता और उस दूसरेके कहनेमें आकर उस भागते हुये, उड़ते हुए कौवेके पीछे दौड़ लगाता है, चिल्लाता है। कोई कहता है कि क्यों दौड़ लगा रहा है? वेटा! क्यों चिल्ला रहा है वालक वोलता है, अरे वात न करो, अभी फुरसत नहीं है, मेरा कान कौवा लिए जा रहा है, अव तो मैं विना कानका हो जाऊँगा। सुननेवाले लोग हँसते हैं कि यह वालक क्या वक रहा है? वालक कहता है कि मेरा कान कौवा ले गया। "क्या कान कौवा ले गया? "हाँ कौवा कानको लेगया है। वड़े-वड़े आदमियोंने कहा है कि तेरा कान कौवा लिए जा रहा है। "अरे वड़े आदमियोंने कहा होगा, पर जरा अपने कानको तो टटोल करके देखो। जव वह अपने कानको टटोल करके देखता है तो सारे संकट मिट गये। देखो यह कान टटोले विना कहाँ-कहाँ भागता था। जो प्रयोजन दूसरी जगह तक रहा था वह प्रयोजन अपने आपमें मिल गया।

अनर्थ कारी वहम—इसी प्रकार हम आप आनन्द तो दूसरे से मानते हैं कि

आनन्द उनसे मिल जायगा। परिवारके लोगोंसे मित्र जनोंसे यही सवक सीखा है कि अमुक वातसे आनन्द मिलता है, इतने धनसे आनन्द मिलता है, इतने कुटुम्वसे आनन्द मिलता है। ये ही वातें सीखनेको मिलीं अपने पड़ोसियोंसे, अपने रिस्तेदारोंसे, अपने मित्र जनोंसे। तो इस कारण अव यह वालक अज्ञानी पर पदार्थोंके पीछे दौड़ लगाता है, मेरा आनन्द वहाँ है, वे मेरा आनन्द करेंगे, उनसे मुझे आनन्द मिलेगा। दूसरे समझाते हैं, कहाँ दौड़ लगा रहे हो तो कहता है कि अभी फुरसत नहीं, अभी चित्त ठीक नहीं, मेरा तो सर्वस्व मिटा जा रहा है। मेरा तो आनन्द वहां है मैं वहां जाऊँगा, वहाँ मिलूँगा तो मुझे शान्ति मिलेगी, ऐसी स्थिति वने तो मुझे शांति न मिलेगी। वाहर-वाहर में ही हम आप दौड़ लगा रहे हैं।

ऋषि संतोंका उपदेश—हमारे ऋषिजन आचार्य कहते हैं कि अरे! इतना लम्वा पीछे न भगो, अपने आपको तो टटोलो। तेरा सवस्व, तेरा आनन्द, तेरी शान्ति तेरेमें है या नहीं। वुद्धि जग गयी, क्षयोपशम तो है ही, शान्तिकी ताकत तो है ही। जहाँ इतना वड़ा लेन देन अथवा झगड़ा फिसाद निवटाने या ऊँचे-ऊँचे इन्डस्ट्रीकी अथवा विज्ञानकी क्रिया करनेका माद्दा है, वह ज्ञानीके ज्ञानका ही तो प्रतीक है। ज्ञान तो है पर इस ओर वुद्धि जग जाय और अपने आपमें निर्णय करलें कि मेरा तो सर्वस्व, लो, यह मैं ही तो हूँ। इतनेसे वाहरमें मेरा कहीं कुछ नहीं है। और फिर निजका उपयोग वनाएँ तो पता पड़ जाता है कि मेरी शान्ति, मेरा आनन्द, मेरा सर्वस्व सव कुछ इतना ही मात्र है। ऐसा अर्थनिश्चायक स्वरूपास्तित्त्व द्रव्यका स्वभाव ही है। चीज है, मेरे जाननेकी केवल वात है वनानेकी वात नहीं है। नया कुछ नहीं करना है? जो है, जैसा है, वैसा ही जानना ह यही तो इतना धर्म पुरुपार्थ है।

द्रव्यका अस्तित्व समझनेकी पद्धति—द्रव्यका जो अस्तित्त्व है वह द्रव्यका स्वभाव ही है, क्योंकि द्रव्यका स्वभाव सद्भावमें निवद्ध है अर्थात् है। वस्तुका जो असाधारण अस्तित्व है वही वस्तुको सव पदार्थोंसे जुदा निश्चय कराता है। जैसे यह द्रव्य स्वभाव तीन प्रकारकी विकल्पभूमिकाको प्राप्त है, वस्तुका स्वभाव द्रव्य रूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे परिज्ञायमान होता है, जाननेमें आता है। अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे जाननेमें आता है। किसी भी पदार्थका अवगम चाहिये तो जिज्ञासु या तो द्रव्य गुण पर्यायके रूपमें देखे तो समझ सकता है या उत्पाद व्यय ध्रौव्य के रूपमें देखे तो समझ सकता है।

गुण, पर्याय अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य—ये दोनों लक्षण भी परस्परमें भिन्न-भिन्न उपाय नहीं है जो द्रव्यत्व गुण है उसका ध्रौव्यसे सम्वन्ध है और जो पर्याय है उसका उत्पाद व्ययसे सम्वन्ध है। किसी जीवको जान गया कि जीव है तो कैसे समझा कि जीव है? कुछ जीवात्मक परिणमन देखा तव जाना कि यह जीव है। सो वहाँ सवसे

पहिले समझमें आने वाली बात है तो पर्याय है। द्रव्यगुण पर्यायकी समझमें जब चलते हैं तो पहिले ज्ञात क्या होता है सुगमतासे ? पर्याय।

पर्यायके परिचयकी व्यापकता—पर्याय तो सभी जीवोंके द्वारा अवगममें आ रहा। मिथ्यादृष्टि भी पर्यायको जानता है, सम्यग्दृष्टि भी पर्यायको जानता है, जगत में जितने भी जीव हैं पर्यायके ज्ञानके बिना कोई नहीं है। सिद्ध भगवान है वह भी पर्यायको जानता है, सम्यग्दृष्टि जीव है वह भी पर्यायको जानता है, मिथ्यादृष्टि जीव है वह भी पर्यायको जानता है, और जो सैनी पंचेन्द्रिय नहीं हैं, जो असंज्ञी हैं और एकेन्द्रिय आदिक हैं वे भी पर्यायको जानते हैं। वे कह नहीं सकते तो भी वे पर्यायको जानते हैं। यावन्मात्र जीव हैं, सब पर्यायको जानते हैं। अन्तर यह है कि कोई पर्यायको पर्यायरूपसे जानता और कोई पर्यायको द्रव्यरूपसे जानता है, कोई पर्यायको आत्मसर्वस्व जानता है तो देखो ना, इतने में कितना अन्तर होगया।

पर्यायके जाननेकी पद्धतिका अन्तर—भैया ! पर्यायको पर्यायरूपमें व द्रव्य रूपमें जाननेका अन्तर साधारण अन्तर नहीं है। आनन्द और दुःखका फैसला करने वाला यह अन्तर है। जो पर्यायको पर्यायरूपसे जानता है वह तो आनन्दमार्ग का पथिक है और जो पर्यायको आत्मसर्वस्व जानता है वह मिथ्यादृष्टि है, संसारका मुसाफिर है। पहिले क्या जाननेमें आता है ? किसीको समझाओ, तो पहिले जाननेमें आता है पर्याय। जब पर्याय सब जाननमें आ गया या कुछ जाननेमें आया तब यह सोचा जाता है कि यह पर्याय होता है, मिटता है, कहाँ से होता है और मिट कर कहाँ चला जाता है ? जब इन बातोंको समझाने चलते हैं तो गुण समझमें आता है।

गुण और द्रव्य—ये पर्यायें होती हैं तो इन पर्यायोंकी शक्ति भी है जिस शक्तिसे ये पर्यायें होती है। पदार्थमें पर्याय भिन्न-भिन्न अनेक समझमें आयें तो मालूम होता है कि इन वस्तुओंमें पर्यायोंको उत्पन्न करनेकी इतनी शक्तियाँ हैं। उन सब शक्तियोंका नाम गुण है। पर्याय और गुणके समझनेके बाद जब यह खोजा जाता है कि क्या पर्याय स्वयं सत् है, क्या गुण स्वयं सत् है ? अगर स्वयं सत् है तो ये अनन्त सत् हो जायेंगे। अनन्त गुण हैं ऐसा न समझमें आये तो ये सब अनन्त सत् बन जायेंगे तो ऐसा कुछ दिखता नहीं है। ये गुण और पर्यायें कुछ भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं है वस्तु यह एक ही मालूम होती है और वह वस्तु इन-इन गुणोंके रूपमें समझमें आता है तो यों जो कुछ भी समझमें आया वही द्रव्य हुआ।

द्रव्य, गुण, पर्यायका सुगम चिन्ह—इनका सीधा लक्षण बाँधलो कि जो मिट जाने वाली चीज है वह पर्याय कहलाती है। सीधी बात यही रखलो—जो मिटे वह पर्याय है, दिखनेमें आने वाली ये सब पर्यायें हैं क्योंकि मिट जानेवाली ये बातें हैं। जो मिटे वह पर्याय है। जो न मिटे, अविनाशी हो, वह या तो

द्रव्य है या गुण है । हरा, नीला दिखा जो वह पर्याय हुआ या गुण ? क्यों भैया ! पर्याय हुआ । क्योंकि ये सब मिट जाने वाली चीजें हैं हाँ, इन पर्यायोंके जो स्रोत हैं वे गुण हैं ।

आमका दृष्टान्त—जैसे कहते हैं ना कि आमने रंग बदला । यह आम पहिले हरेपनमें था; अब पीलेपनको अंगीकार किया ? हरे रंगसे पीले रंगके बीचमें कुछ अन्तर आगया क्या ? उस अन्तरकी बात पूछ रहे हैं कि अभी पहिले हरा था, अब पीला हो गया इसके बीचमें क्या अन्तर हुआ ? क्या कोई रंग रहा नहीं ? ऐसा नहीं है । गुण नहीं मिटता । तो रंग बदलनेपर भी जो स्रोतभूत शक्ति है, रूप शक्ति है, यह रूपशक्ति अभी हरे रूपमें थी अब वह रूपशक्ति पीले रूपमें व्यक्त हुई । इसी प्रकार उन सब पर्यायोंका आधार जो शक्ति हैं वह गुण हुआ और इस तरहसे जब हम काला नीला आदि देखते हैं तो उनका आधारभूत रूपशक्ति ज्ञात हुई, ठंढा गर्म आदि देखते हैं तो स्पर्श शक्ति ज्ञात हुई सुगंध दुर्गन्धमें गंधशक्ति ज्ञात हुई, खट्टे मीठे आदिमें रसशक्ति ज्ञात हुई । तो सबसे पहिले जाननेमें आता है पर्याय । और पर्याय के सम्बन्धमें जब मौलिक बहुत जाननेको चलते हैं तो समझमें आता है गुण । फिर गुण और पर्यायका जब बहुत विश्लेषण करते हैं तो और जब वे भिन्न-भिन्न सत् नहीं नजर आते तब समझमें आता है द्रव्य ।

द्रव्य, गुण, पर्याय अर्थके अंश—भैया ! पदार्थ तो स्वभावमात्र है, और वह स्वभाव द्रव्य गुण पर्यायके रूपमें जाना जाता है । यह एक बात और भी देखो कि द्रव्य भी वस्तु नहीं, गुण भी वस्तु नहीं पर्याय भी वस्तु नहीं किन्तु द्रव्य गुण पर्यायमें जो अवस्थित है वह वस्तु है जिसे कहते हैं कि "द्रव्वगुणपज्जयत्थो" अत्थो जो द्रव्य गुण पर्यायमें स्थित है वह अर्थ है । अब इस ज्ञानपद्धतिसे चार चीजें सामने आयीं । अर्थ, द्रव्य, गुण और पर्याय । अर्थ तो वह हुआ जो पक्षभूत है, जिसकी जानकारी करना है । वह हमें तीन रूपोंमें नजर आया, द्रव्यरूपमें, गुणरूपमें और पर्यायरूपमें नजर आया । इसलिए द्रव्यत्व, गुण और पर्याय ये तीनों धर्म हैं और धर्मी है अर्थ । तो वह अर्थ अथवा वह द्रव्यस्वभाव द्रव्य गुण पर्याय रूपसे तीन विकल्पोंमें अधिरूढ है । अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों रूपोंमें अधिरूढ है ।

वस्तुमें अनेकान्तका सुगम दर्शन—किसीको वस्तु यों समझमें आ रहा है कि उत्पाद हो, व्ययहो, प्रथमविकाश हो, द्वितीयाविकाश हो, परिणति होती चली जाती है । और यहाँ कुछ नही नजर आता, परिणमन ही नजर आता है । इसलिये केवल परिणमनको देखा तो क्षणवाद आ जाता है । कभी कोई वस्तु क्या है ? इस मार्ग में चल कर स्रोतभूत वस्तुको देखते हैं तो वह एक सूक्ष्मतत्त्व ज्ञात होता है । वह अपरिणामी है, किसी पदार्थसे उसका सम्बन्ध ही नहीं, झुकाव भी नहीं होता । जैसे

कोई दूसरेका हाथ झकोर कर कहे कि अजी देखो सम्बन्ध तो है। तो जरा भी एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है। तो वहां एक अपरिणामी अव्यवहार्य तत्त्व समझमें आया। ये दोनों तत्त्व स्याद्वादसे वस्तुगत ज्ञात हो जाते हैं।

विभिन्न सोपानोंसे विभिन्न दर्शन—कल्पना करो कि एक जंगल है। उस जंगल में अनेक साधुसंत बैठे हुए हैं। सभी एक हित सिद्धान्तके अनुयायी हैं। सब एकपर विश्वास किए हुए हैं। कोई भी मतमतान्तरका भेद नहीं है, सब साधु बैठे हैं, प्रवचन हो रहा है। वस्तुस्वरूप समझाया जा रहा है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बात, द्रव्य, गुण, पर्यायकी बात समझाते हुए ऐसी जगह टिकाया है, ऐसे स्वभावमें ले जाने का उद्यम किया है, जहां एक भी अन्त (धम) दृष्टिको न जकड़े।

शून्यका अवलोकन—वस्तुमर्मको सुनकर उन साधुओंमेंसे कितने ही साधु यह ख्याल कर सकते हैं कि लो सब कुछ ज्ञानका यत्न करनेके बाद अब समझा कि किसी भी जगह टिकाव नहीं है सो कुछ भी एक बात नहीं, यह सब तत्त्वोपप्लव मात्र है। इसके बाद वही या अन्य ऋषि सोचता है कि शून्य तो है, इतना भीतर वस्तु-स्वरूपके पास घुसनेपर प्रतीत हुआ है, ज्ञात भी क्षण-क्षणमें नष्ट होता है, रहता नही है कुछ, यह सब भी भ्रम है सो तत्त्व तो शून्य ही है। देखो हितेच्छु वे भी हैं, किन्तु वस्तु विज्ञानके मर्मकी चर्चामें तत्त्व निराधार है, सूक्ष्म है, ऐसी बात होते हुए ऐसा विवेक बन सकता है कि मालूम पड़े कि यह कुछ नहीं है। अरे जब हम किसी बुद्धिमें आते हैं तब हमें लगता है कि यह कुछ है। बुद्धिमें आना विकार है। जब हम बुद्धिके विकारसे अलग होते हैं तब वहां शून्यका शून्य ही है। अच्छा दर्शन भी तो इसी तरह चलता है सिद्धोंका। सिद्धोंको कृतार्थ सिद्ध करनेके लिए शुद्ध चैतन्यका अवगम किया जाता है तो ऐसा लगता है कि शून्य है। और शून्य सिद्धोंका प्रतीक भी माना है। तो शून्यवाद किन्ही साधुओंकी समझमें आया।

प्रतिभासादि अद्वैतका अवलोकन—फिर वे ही या अन्य साधु जब यह ख्याल करते हैं कि इतना तो प्रतिभास हो रहा है, शून्य ही सही, मगर इसका तो प्रतिभास हो रहा है तो शून्य अद्वैत नहीं, किन्तु प्रतिभासाद्वैत है। शून्य भी हो, मगर इसका प्रतिभास तो है। उन्होंने उन्नति की तो प्रतिभासाद्वैत तक आए, फिर देखो कि यह प्रतिभास कुछ छितरा हुआ तो नहीं। कुछ जमा हुआ तो है तो यह हुआ प्रतिभासैकत्व। यह प्रतिभासैकत्व भी तो ग्रहणमें आता सो ज्ञानाद्वैत याने सर्व कुछ ज्ञानमात्र ही तो है। फिर ज्ञात हुआ कि यह ज्ञान भी तो निराधार नहीं, जो आधार है उसका नाम ब्रह्म हुआ। ज्ञानाद्वैत आया फिर ब्रह्माद्वैत आया। जब यह देखा कि केवल एक अपरिणामी स्वरूप ही समझमें नहीं आ रहा, उस अद्वैतका। सो चित्रविचित्र पदार्थो का स्वरूपमें चित्राद्वैत हुआ। सोचा कि चित्राद्वैत तो सही, मगर जो भीतरकी

शब्दध्वनि प्रतिभासके साथ-साथ होती है, इस शब्दध्वनिके साथ ही प्रतिभास लगा है। इस अन्तर्ध्वनिके बिना यह प्रतिभास कुछ नहीं है तो उन्होंने शब्दाद्वैतका निश्चय किया। अब तक सब तो अद्वैत तक आये।

द्वैतका अवलोकन—अब अद्वैतमें भी संतोष नहीं हो सका किन्तु व्यवहारमें, आँखों देखे जा रहेमें व पर्यायप्रयोगमें यह सब समझमें आ रहा है। सो अब द्वैतमें आते हैं। जब द्वैतमें आए तो वस्तु समझमें आया। यह भी पदार्थ है, यह भी पदार्थ है, अन्य-अन्य प्रकारके ये पदार्थ हैं। यों ये दृष्टवादमें या जड़वादमें आये और ऐसे आये कि विवेकका भी साथ छोड़ दिया। लेकिन झट सोचा कुछ उपपत्ति तो होना चाहिये तो उपपत्ति, प्रकृति, (कुदरत समझमें आया। यों प्रकृतिवाद तक अब आये। फिर उपपत्तिमें बढ़े तो आविर्भाव, सत्कार्य व ईश्वरवाद तक बढ़े। फिर हितके उपायमें चिन्तन किया तो कर्म, निष्कामकर्म, भक्ति व ज्ञानयोग तक आये अब पुनः वस्तु विवेचनामें और आगे चले।

द्वैतका सीमातीत विश्लेषीकरण—जब द्वैतमें साधु बढ़े तो फिर अच्छी तरहसे बढ़े। और अधिक बढ़ेंगे, तो यहाँ तक बढ़ेंगे कि जो जो बातें समझमें आयें वे सब एक-एक अलग-अलग वस्तु मानेंगे लो, पथक्-पथक् वस्तुयें मान ली गई। और उस शैलीमें इनके बन गये पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। तो शून्यसे उठा हुआ आशय इन ७ पदार्थों तक आ गया। तो जो शून्य था वह भी पदार्थ नहीं था और इन ७ तक आए तो ये भी पदार्थ नहीं। इन सातोंमें स्वरूप तो सब हैं मगर सत् केवल है द्रव्य। स्वतन्त्र न गुण सत् है, न कर्मसत् है, न सामान्य सत् है, न विशेष सत् है, न समवाय सत् है, न अभाव सत् है। यह विशेषवाद है इसमें अंश-अंशका सत् माननेका परिणाम है। इसी प्रकार अंश-अंशको ही सत् माननेके परिणाममें क्षणवाद आया। परिणमन समयमात्रका है और वही सत् माना गया। ये सब विशेषवाद हैं किन्तु ये सब विशेष स्वतन्त्र सत् नहीं है।

सत् व सत्की विशेषतायें—इन द्रव्य, गुण, पर्यायोंके विवेचनमें सत् क्या है? द्रव्य। और आगे बढ़े तो सत् क्या है? अर्थ। द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनों दृष्टियाँ हैं। पदार्थोंमें द्रव्य, गुण, पर्यायको जाना। तो इसी तरह सामान्य, विशेष समवाय (तादात्म्य) व परस्परका अत्यन्ताभाव जाना। व जाना, किन्तु सत् केवल द्रव्य ही है। जैसे आत्मद्रव्य एक सत् है, है, सबसे न्यारा है, किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है परिणमता रहता है। अपने आपकी परिणतिसे परिणमता है, सर्वदा परिणमता रहता है। अपने इस स्वरूपास्तित्व और परिणमन सामान्यकी दृष्टिसे चिगकर बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध माना और परिणमन विशेषसे हित माना, तो यह जीव उन्मत्त हो जाता है याने मुग्ध होजाता है।

उन्मादमें बेखबरी—उन्मत्त पुरुष जैसे अपनी पागलपनकी बातोंको बोलता हुआ अपनेको उन्मत्त नहीं समझ सकता, पागल अपनेको पागल नहीं समझ सकता, वह तो अपनी चेष्टाओंको बुद्धिमत्तापूर्ण चेष्टायें समझता है। इसी प्रकार विषय भोगोंके प्रसंगमें पड़ा हुआ यह मोही जीव विषय भोगोंके विकल्पोंको करता हुआ अपनेको बुद्धिमान समझता है, पुण्यवान समझता है, दूसरोंसे अपनेको अच्छा समझता है। और इसी कारण उसमें अहंकारकी गर्मी भी बनती है, अपनेको श्रेष्ठ मानता है, पर वह उन्मत्त जैसी दशा है। जैसे उन्मत्त अपनी उन्मत्तताकी बातोंको गंदा नहीं समझ सकता, इसी प्रकार यह मोहोन्मत्त प्राणी अपनी इन विषय कषायकी बातोंको गंदा नहीं समझ सकता है। जीव मलिन है तो विषय कषायके परिणामोंसे, जिन विषय कषायोंके कारण यह स्वच्छ ज्ञान स्वभाव तिरोभूत है।

कृतार्थता—यह ज्ञानस्वरूप अत्यन्त पवित्र है, पूर्ण हितकर है, स्वयं आनन्दमय है। इसके आनन्दविकासके लिये अन्य किसीकी प्रतीक्षाकी आवश्यकता नहीं है। तथा इसे कुछ अन्य करनेको है ही नहीं, सो यह कृतकृत्य स्वभाव वाला है, कृतार्थ है, परिपूर्ण है। इसमें अधूरापन जरा भी नहीं है। तब यह व्यग्रता क्यों है ? यह क्षोभ क्यों है ? यह सब विषयकषायोंकी बुद्धिका परिणाम है। ये विषय कषाय ही विशेषतायें हैं। इन विपत्तियोंका हटाना सम्यग्ज्ञानपर ही अवलम्बित है। शांतिके लिये लोग अनेक प्रयत्न करते हैं, पर एक सुगम यथार्थ जाननरूप यत्न नहीं करते।

शान्तिका उपाय यथार्थ जानन—शांतिका प्रयत्न तो वास्तविक यह है कि मैं अपने ज्ञान स्वभावको देखूँ, जानूँ, इसके निकट रहूँ, यह मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, यह मैं केवल ज्ञानको ही कर सकता हूँ। आत्मा ज्ञानमात्र है। स्वयं ज्ञानमय है। यह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता है। सर्वत्र इनका जाननका ही काम है जैसा है, यदात्मक है तदात्मक ही तो उसका परिणमन होता है। लेकिन इस यथार्थ मर्ममें न ठहर कर यह मोही जीव अन्य परिणामोंको यों जाने हुए है कि यह मैं इन्हें भी करता हूँ, दूकान करता हूँ, मकान करता हूँ, क्रोध करता हूँ, मान करता हूँ। इत्यादि किसी प्रकारका भी कर्तव्य यह लादता है तो यही इसकी अशुद्धता है, यह मन्तव्य व्यवहारी जनोंमें व्यामोहमात्र है।

परका कर्तृत्व असम्भव—यह अमूर्त आत्मा जिसके हाथ पैर नहीं, जो किसी पदार्थको पकड़नेकी सामर्थ्य भी नहीं रखता है, किसी पदार्थके छूनेका भी सामर्थ्य नहीं रखता है, वह परको क्या करेगा ? जैसे आकाशमें कितने पदार्थ बसे हैं, क्या आकाश किसीको छुये हुए है, छू सके ऐसा गुण ही आकाशमें नहीं है, वैसे ही किसी पदार्थको छू सके ऐसा गुण ही आत्मामें नहीं है, तो फिर बाह्य पदार्थोंको वह करेगा ही क्या ? जिस शरीरके साथ आत्माका सम्बन्ध है, एक क्षेत्रावगाह

है उस शरीरको भी यह आत्मा छुये हुये नहीं है। शरीरके बंधनमें है, तिसपर भी शरीरको यह आत्मा छू नहीं सकता। आत्मामें छू सकनेवाला गुण ही नहीं है। कर्मको भी यह क्या करेगा ? द्रव्यकर्मका बन्धन भी निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धसे होरहा है। स्वयंकी परिणतिसे जो हो रहा है, उस द्रव्यकर्ममें भी आत्मा क्या करेगा ? इन द्रव्यकर्मोंको भी यह आत्मा छू नहीं सकता, देख नहीं सकता, पकड़ नहीं सकता, इन द्रव्य कर्मों को भी आत्मा क्या करेगा ? पर ऐसा निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध है, दोनोंकी ऐसी निमित्तनैमित्तिकता है कि परस्परनिमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें यह भी विकृत होता है, वह भी विकृत होता है। तिस पर भी यह आत्मा उन द्रव्यकर्मोंका परिणमन क्या कर सकता है ?

आत्माकी सहज सरलता—यह अपनेमें विकार आदिक भाव कर सकता है। और आगे भी चलकर देखो तो यह आत्मा क्रोधादिक विकारोंको भी नहीं करता है। यह तो भोला है, जैसे कहते हैं ना, कि भोले भाले, तुमको लाखों प्रणाम। इस भोलेपनमें ही आत्माका स्वरूप ज्ञायक स्वभाव है। इसके अतिरिक्त किसी बखेड़ेको आत्मा कर ही नहीं सकता है। यह तो सहज भोला है, सहज अपने स्वरूपास्तित्व को लिये हुये है। हे प्रभो ! इतने स्वच्छ घरमें, भोलेभालेके अभिराम मन्दिरमें यह कैसा उपद्रवसा मच गया है ? उपाधिका निमित्त पाकर उसके अनादि परम्परागत अशुद्ध उपादानमें ये रागादिक व्यक्त हो गये हैं। यह आत्मा रागादिकको नहीं करता है। करना क्या है ? यह है, और यों हो रहा है। परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, सो यहाँ व सर्वत्र सर्व परिणमन स्वयं हो रहा है।

करनेका नाम भी अवैध—भैया ! और तो क्या ? यह आत्मा तो मात्र जानन रूप परिणमता है। इसके विषयमें यह कहना कि यह जानता है, यह बात भी पूर्ण नहीं बैठती हे ! जानन होता है, जानन परिणमन हो रहा है। मगर 'यह जानता है' शब्द कुछ चल कर, बुद्धिपूर्वक यत्न कर जाननेमें पूरा फिट बैठता है। यह आत्मा जाननस्वभावरूप है, यहां जानन हो रहा है। यह जानन जो हो रहा है वह निश्चय से क्या हो रहा है ? तो यदि षटकारक व्यवस्थामें चलें तो कहा जायगा कि मैं जानता हूं। जानतेहुएको जानता हूँ, जानतेहुए के द्वारा जानता हूँ, जानतेहुए के लिए जानता हूं, जानतेहुए से जानता हूँ, जानतेहुए में जानता हूं। इसका अन्यत्र कुछ काम नहीं हो रहा है।

एकमें कारकता बतानेका प्रयोजन अकारकताकी सिद्धि—एक ही वस्तुमें षट्कारकपना लादकर व्यवहाररोगियोंको शान्त्वना देकर और उनको यथार्थ मर्ममें पहुँचाने के लिए उनकी ही पद्धतिसे समझाया गया है, पर एक पदार्थमें षट्कारता का अर्थ क्या है ? कुछ भी नहीं है। क्या इस ही निश्चयके रूपमें विश्वके समस्त

पदार्थोंमें अर्थके उस मर्मको कभी समझाया जा सकता है ? नहीं। जब हम द्रव्य गुण पर्यायके रूपसे इन तीन विकल्पभूमिकाओंमें चढ़ते है, जब हम विकल्पभूमिकामें सवार होते हैं तब हमें पदार्थका वह अवगम होता है जिससे समझानेकी परम्परा चलती है। यावन्मात्र निरूपण है वह सब व्यवहार है।

जानना और जाना एक धातुसे निष्पन्न—जानना और जाना इनकी धातुयें संस्कृतमें प्रायः एक होती हैं करीब-करीब वे धातुयें दो-दो अर्थको लिए हुए है। अवगम करना व जाना। जाने वाली धातु है, गम्लृ। यह गम्लृ धातु अवगममें व जानेमें दोनोंमें प्रयुक्त होती है। आत्मा कैसे बना ? अत धातु सातत्य गमनमें प्रयुक्त होती है। जैसे आदित्यः अतति, आत्मा अतति। सूर्यको कहा जाता है कि निरन्तर चलता है जो निरंतर चलता है उसका नाम आत्मा है, तो इस ज्ञानमय पदार्थको आत्मा कहते हैं। यह आत्मा भी निरंतर जाता है अर्थात् जानता है। इस विकल्प-भूमिमें जब हम सवार होते हैं तो हमारा जानना वस्तुके स्वरूपमें बनता है। हमें वस्तुके स्वरूपके निकट जाना है तो हमें सवारी चाहिए जिसपर बैठकर हम वस्तुके स्वरूपमें जा सकें। वह सवारी हमारी है द्रव्य, गुण, पर्याय रूप या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप विकल्पभूमिका। इसमें अधिरूढ होकर हम वस्तुके स्वरूपको जानते हैं।

स्वरूपास्तित्वका ज्ञान भेदविज्ञानका कारण—द्रव्य, गुण, पर्यायरूपसे विकल्प भूमिकामें अधिरूढ होकर परिज्ञायमान यह द्रव्य स्वभाव है। इसको ज्ञात कर क्या करना है कि परद्रव्योंसे मोहको दूर करके स्वयं और परके विभागका कारण बनना है। यह मैं हूँ, बाकी सब पर हैं, ऐसा विभाग कैसे हो गया ? इस द्रव्य स्वभावके ज्ञान से ही यह विभाग होता है। इस कारण यह निश्चय करना चाहिए कि निज और परके विभागोंकी सिद्धि के लिए सामर्थ्य स्वरूपास्तित्वके ज्ञानमें है। भैया ! अस्तित्व तो स्वरूपगत ही है। महासत्ता तो काल्पनिक है। स्वरूपास्तित्वमें परिणमन है, अर्थक्रिया है पर महासत्तामें न अर्थक्रिया है, न परिणमन है। जैसे व्यक्तिगत मनुष्य यहाँ काम करनेवाले होते है पर मनुष्य जाति क्या काम करती है ? वह तो समस्त मनुष्योंमें साधारणरूपसे पाया जानेवाला जो धर्म है उस धर्मका नाम मनुष्य जाति है। स्वरूपास्तित्व प्रत्येक मनुष्योंमें है, इस कारण मनुष्य तो काम करनेवाले होते है, किन्तु मनुष्य जाति अस्तिरूप न होनेसे काम नहीं करती।

स्वरूपास्तित्वका भेदपूर्वक विवेचन—स्वरूपास्तित्व ही अर्थक्रियाका मूल है और वह ही अर्थका निश्चय कराता है। दृष्टिकी ही सामर्थ्य है कि यह मैं हूँ और बाकी सब पर हैं ऐसा विशद निर्णय हो जाता है सो इन ही बातोंको आगे स्पष्ट करते हैं कि जीवमें द्रव्य क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है ? जो चेतनतामें अन्वय रूप है वह द्रव्य है। चेतनका जितना, परिणमन है उन सब परिणमनोंका आधारभूत

तथा उन सब परिणमनोंमें अन्वयस्वरूप जो शक्तियां है उनका जो आधारभूत है वह द्रव्य कहलाता है।

आत्मपरिचयकी दो पद्धतियां—आत्मद्रव्यको पहिचाननेकी दो पद्धतियां है, सामान्य स्वरूपका ज्ञान करना और (२) असाधारण लक्षणका ज्ञान करना। याने जीवकी जितनी पर्यायें हैं उन सब पर्यायोंमें अन्वयरूपसे रहनेवाला जो सामान्यतत्त्व है वह आत्मद्रव्य है। एक तो यह पद्धति है आत्माके समझनेकी ; दूसरी पद्धति है कि सब पदार्थोंमेंसे जो केवल आत्मद्रव्यको अलग कर सकता है ऐसा जो भाव है असाधारण भाव, उससे आत्माको पहिचानता है। यहाँ उसे असाधारण पद्धतिसे नहीं कह रहे हैं, अथवा इसमें असाधारण पद्धति आ ही जाती है। याने स्वरूपास्तित्व आ ही जाता है जो चेतनताके अन्वयरूपसे पाया जाने वाला तत्त्व है वह ही द्रव्य कहलाता है और जो चेतनाका विशेष है वह गुण कहलाता तथा जो चेतनाके विशेषकी व्यतिरेकता रखने वाला है वह पर्याय कहलाता है।

दृष्टान्तपूर्वक स्वरूपास्तित्वका विवरण—जैसे ये दो अंगुली हैं। एक अंगुली का स्वरूप उसीमें है और दूसरी अंगुलीका स्वरूप उस दूसरीमें ही हैं इसलिए इनको जाना कि ये आपसमें भिन्न हैं। इसका मतलब यह है कि इस अंगुलीका द्रव्य इसमें है और इनकी पर्याय इसमें ही है अथवा इसका उत्पाद व्यय ध्रौव्य इसमें ही है। इससे इन दोनों अंगुलियोंको समझा कि ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। इसीको कहते हैं स्वरूपास्तित्व अपने ही द्रव्य, गुण, पर्यायमें रहना, अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यमय होना इसीके माने हैं स्वरूपास्तित्व। यह मैं आत्मा निज स्वरूपास्तित्वमय हूँ इसलिए जो करता हूँ सो अपनेमें करता हूँ, कहीं बाहरमें कुछ कर ही नहीं सकता ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है कि यह बाहरमें कुछ करे, पर होता जाता है बाहरमें कुछ, सो उन बाहरी पदार्थों की ही यह कला है कि वे परिणम जाते हैं। वे परिणमें भी क्या ? विकृत। सो मुझको निमित्त मात्र पाकर वे बाहरी पदार्थ स्वयं अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम गये। यह मैं आत्मा केवल अपने आपमें अपना परिणमन करता हूँ।

परमार्थतः सर्वत्र अकारकता—भैया ! इंगलिश में सकर्मक क्रियाको अकर्मक बनानेका उपाय हिमशेल्फ, इटसेल्फ, इत्यादि लगाकर होता है, उसका अर्थ यह है कि मैंने कुछ नहीं किया, सकर्मक अकर्मक बन गये इसका अर्थ यह है कि मैंने कुछ नहीं किया, पर परिणम गया। तो जब अभेदरूपसे षट्कारक लगाते हैं तो उसका अर्थ है लगावो या न लगाओ; कारकपना नहीं है। कारकपनेका विभाग व्यवहारकी सुगमताके लिये एकका दूसरेके साथ होता है पर जो षट्कारकमें लगे हुए व्यवहारी पुरुष हैं उनको वस्तुकी सही बात समझानेके लिए उनकी ही भाषामें समझाना पड़ता है।

शब्दोंमें ज्ञानकी प्रयोजकता — जैसे ग्रन्थोंमें कई स्थलोंपर यह शब्द

दिया है मुक्तिकामिनीका पति या मुक्तिकन्याका पाणिग्रहण। सो सांसारिक वैभवमें उलझने वाले, रस लेनेवाले जो विषयरुचिक पुरुष हैं उनको यह बतानेके लिए कि इन बातोंमें जो कुछ सुख पाते हों उसमे भी अनन्त गुणा अधिक सुख मुक्तिमें है, इतनी बात बतानेके लिए इन शब्दोंको बोलना पड़ता है, मुक्तिकामिनीका पति या मुक्तिकन्याका पाणिग्रहण। वैसेही यह कहना पड़ता है कि भगवान अनन्त सुखी है, पर क्या भगवान अनन्त सुखी है ? सुखका अर्थ है. सु माने सुहावना और ख माने इन्द्रिय जो इन्द्रियों को सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। जितना सुहावना हमको लगता है उससे अनन्त-गुणा सुहावना सिद्ध भगवानको लगता है इसका अर्थ है कि उस सिद्ध भगवानमें हमसे अनन्तगुणे अधिक विकार हैं। सो ऐसा तो है ही नहीं, पर इन्द्रियोंको सुहावना लगना रूप सुखमें ही जिनका रमण है, लगन है, इच्छा है ऐसे जीवोंको यह बतानेके लिए कि जितना भला इन विषयोंको माना है इससे अधिकगुणी भलेकी बात सिद्ध भगवानमें है। तो इसी प्रकार अभेद षट्कारकका वर्णन भेद षट्कारक सम्बन्धी ज्ञानवालेको वस्तुके यथार्थ सहज स्वरूपमें पहुँचानेके लिए होता है।

द्रव्य, गुण और पर्याय—ये द्रव्य, गुण और पर्याय क्या हैं जो चेतनतामें अन्वयरूप रहे वह तो द्रव्य है और जो चेतनामें विशेषरूप हो वह गुण है और उसमें यह है, अब यह नहीं रहा, यह है, अब यह नहीं रहा, ऐसा जहां व्यतिरेक हो, उसे पर्याय कहते हैं। यह जिसका स्वरूपास्तित्व स्वभाव है वह यह मैं अन्य सब पदार्थों से जुदा हूँ अथवा अपनी चेतनामें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक यह मैं जुदा हूँ। पूर्वपरिणमन और उत्तर परिणमन करनेवाला जो एक भाव है उसकी तो है स्थिति व पूर्वपरिणमनका है विनाश और उत्तरपरिणमनका है उत्पाद, सो इस त्रितयात्मकतामय जैसा यह स्वरूप है, जैसा यह स्वभाव है, ऐसा यह मैं आत्मा पर द्रव्यसे भिन्न हूँ और बाकी सब जो मेरी चेतनतासे दूर है अचेतनतामें ही जिसका अन्वय है, जिसका अचेतनत्व ही विशेष है, गुण है ; अचेतनतामें ही जिसका व्यतिरेकरूप पर्याय है और जिसकी अचेतनत्वरूपसे उत्पाद व्यय स्थिति है, ऐसा यह समस्त पदार्थ मुझसे अन्य है सबसे बड़ा वैभव अपना अपने आपके स्वरूपकी पहिचान है।

स्वरूपास्तित्वकी दृष्टि बिना सर्वत्र असन्तोष—भैया ! जगतमें कोई भी पदार्थ संतोष किए जाने लायक नहीं है, जायदाद मकान ये क्या सदा मेरे साथ है, मेरे साथ आए हैं क्या ? क्या मेरे साथ जायेंगे। धनियोंको भी विकल्प होता है, चिन्ता होती है तो ऐसे सुन्दर महलोंके बीचमें रहते हुएभी चिन्ताओंसे वे जल भुन रहे है। ये सब अत्यन्त भिन्न चीजें हैं। जबतक कृतकृत्य स्वरूप अपने आपके स्वरूपका स्पर्श न हो और अपने आपमें संतोष न हो तबतक इस जीवकी दृष्टि बाहर रहती है और बाहर दृष्टि रहनेका परिणाम ही अकुलता है, क्योंकि जो अपनेसे भिन्न पदार्थ हैं, बाह्य पदार्थ हैं वे

अपने आपके स्वामी हैं, मेरे सोचनेके अनुसार उन पदार्थोंमें परिणमन नहीं हो जायगा। ये पदार्थ तो अपनी परिणतिके अनुसार ही परिणमा करेंगे। पर यह मोही सोचे कुछ, बाहरमें होवे कुछ तो इस परिणतिमें दुःख ही हाथ है। इससे आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है सो यह स्वरूपास्तित्वकी दृष्टि ही अमृतका पान है। जब भी यह अनुभवमें आता है कि यह मैं अमूर्त आत्मा समस्त पर पदार्थोंसे न्यारा, केवल अपने आपमें परिणति करतेरहने वाला चेतन हूँ, कृतकृत्य हूँ, तब इस अनुभूतिसे ज्ञानानुभूति जग जाती है।

स्वके बाहर स्वकी कृतिका अभाव—स्वके बाहर कुछ भी करनेका मेरा काम नहीं है। और काम है तो वही विकल्प है, वही संसार है, जैसे नदीके ऊपर बहुतसे पक्षी मडरा रहे हैं, पानीके पास-पास उड़ रहे हैं जीव-जन्तुओंकी तलासमें उड़ रहे है कि कोई जन्तु मिल जाये तो खायें। और, उस नदीके बीचमें, भीतरमें रहने वाले कछुवा, मछली इत्यादि ये बड़े चैन से रह रहे हैं। यदि उस नदीके बाहर वे निकलें तो उनकी खैर नहीं है। इसी तरह अपने स्वरूपमें ही बसने वाला यह आत्मा संतुष्ट है, सुखी है, स्वयं आनन्दमय है पर बाहरमें ये पर पदार्थ मंडरा रहे हैं। इनकी ओर झुके, दृष्टि की कि खैर नहीं है। इस दृष्टांतसे इस प्रसंगमें कुछ अन्तर है कि नदीमें मंडराने वाले पक्षियोंकी ओरसे वहाँ बाधा है पर यहाँ मंडरानेवाले पर पदार्थोंकी ओरसे इस आत्माको कोई बाधा नहीं है यह तो यहाँ बाहर दृष्टि करके विकल्प करता है। बस, इतनी बाधा है। ये बाह्य पदार्थ मेरेको आवश्यक नहीं, फिर ये मुझमें बाधा क्यों डालें। खुद ही यह जीव अशुद्ध है, खुद ही कमजोर हैं, खुद ही विकल्पोंकी योग्यता वाला है तो विकल्प करता है।

विकल्पोंकी रचनाकी विधि—विकल्पोंके स्वरूपकी रचनाकी यह विधि है कि उसमें कोई पर लक्ष्य होना चाहिए। विकल्पोंके स्वरूपके निर्माणकी इस विधिसे जो विकल्प बनते है उन विकल्पोंका यही स्वरूप है कि वे इदन्तावच्छिन्न हैं, इस प्रकारके लक्ष्यसे विकल्पित होते हुए उत्पन्न होते हैं। सो यह जबतक अपने स्वरूपजलधिमें बना रहे तबतक तो इसकी खैर है और जहाँ इसने अपना सिर, अपना मुख, अपना उपयोग अपने स्वरूपसे बाहर निकाला सो बाहर उछलकर स्वयं ही यह आकुलित हो जाता है, दूसरा कोई आकुलित करने वाला नहीं है, क्योंकि पर पदार्थोंका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है। धन्य है सम्यग्ज्ञानकी महिमा, जिस सम्यग्ज्ञानके प्रसादसे गृहस्थ ज्ञानी वैभवके बीच रहते हुए भी वैभवसे अपनेको अत्यन्त पृथक् निजस्वरूपचतुष्टयरूपमें विश्वास करता है। वह ज्ञानबल कितना ऊँचा बल है कि ऐसे राजपाटके बीचमें रहते हुए भी ६ खडकी विभूतिके बीच बसते हुएभी ज्ञानी गृहस्थ सबसे अलग रहता है।

वैराग्यका ज्ञानसे सम्बन्ध—सबसे अलग रहनेमें केवल एक ही काम करना है अपने स्वरूपका स्पर्श किया कि सबसे अलग हो गए। जैसे चरणानुयोगमें कई लाख

वनस्पतियाँ बतायीं तो उन वनस्पतियोंका त्याग जब अणुव्रतमें किया जाता है तो मैंने इसका त्याग किया उसका त्याग किया; भैया, यों गिन-गिन कर त्याग किया ही नहीं जा सकता है। कितनी वनस्पतियाँ गिनालोगे ? करना है लाखोंका त्याग। अव्वल तो लाख वनस्पतियोंके नाम नहीं मालूम और नाम कहीं लिखे हों तो वनस्पतियोंकी बात कहनेमें कितना समय लगेगा ? नाम लिखनेमें कितने ही कागज खर्च होंगे। तो उन लाखों वनस्पतियोंका त्याग करनेकी विधि यह है कि १०-५ नाम ले लो कि बस हमने इतनी ही रक्खी हैं, इसीके माने हैं कि लाखों वनस्पतियोका त्याग हो गया है। मैं समस्त पर द्रव्योंसे अलग होना चाहता हूँ, समस्त परका त्याग करना चाहता हूँ तो हम कैसे पर पदार्थकी दृष्टि करके त्याग कर सकेंगे। पहिली बात तो यह है कि किसी परका नाम लेकर त्याग करनेकी बात कहेंगे तो भी वह परमार्थसे त्याग नहीं हैं। जैसे कोई कहे कि हम घरके त्यागी हैं, घरका त्याग है तो सम्बन्ध तो बता रहे त्याग कैसा ? घरका त्याग, घरसे और त्यागने वालेसे परस्पर रिलेशन तो कह रहे हैं और कहते हैं कि घरका त्याग है। अरे ! घरका त्याग होनेके माने यह है कि गृह सम्बन्धी विकल्पोंके अभाव वाला होना। तो समस्त पर पदार्थोंका त्याग यही कहलाता है कि अपने स्वरूपका स्पर्श करलें। अपने स्वरूपका उपयोग हो। एतावन्मात्र मैं हूँ, ऐसा अनुभव किया कि बस यह ही पर द्रव्योंका त्याग है।

धर्मके लिये कर्तव्य स्वरूपका आश्रय—भैया ! धर्म करनेके लिये काम अनेक नहीं हैं, केवल एक ही है। उस एक काममें ही व्यवहारदृष्टिसे अनेक कामोंका व्यपदेश किया जाता है, अर्थात् इस एकके करनेमें जिन जिनका त्याग हो, अभाव हो उनका नाम लेकर कहा जाता है कि अभी तो बहुत काम करना है, अभी मिथ्यात्वका त्याग करना है, अभी महाव्रत धारण करना है, अभी तपस्या करना है, अभी सत्संग करना है, अभी मोक्षके लिये बहुत काम करना है। जंगलमें रहना, मौनसे रहना, मन, वचन, कायको सम्हालना प्रवृत्तियोंको रोकना कितने ही काम मुक्तिके वास्ते हो गये। भैया ! मुक्तिके लिये अनेक काम नहीं करना है, काम केवल एक करना है। वह काम है, शुद्ध स्वरूपका आश्रय, इस स्वभावके आश्रयके परिणामस्वरूप जितने भी अन्य-अन्य प्रवर्तन या अन्य परिणमन होता है- उसका नाम लेकर कहा जाता है कि अभी बहुत काम करना है। काम बहुत नहीं करना है, काम एक ही है, स्वरूपका आश्रय, स्वभाव का आश्रय होना। यदि किसी प्रकारसे यह बन सके तो यही है अपना बड़प्पन।

धर्म और धर्मपद्धति—दुनिया मुझे जाने या न जाने, दुनियाके जाननेसे हित तो कुछ होता नहीं, बल्कि जितना परिचय है, उतना ही विकल्पों का साधन बनता है। तो चाहे अहितका ही कितना कारण बने परिचय, मगर स्वहितका कारण तो होता ही नहीं है। सो चुपचाप गुप्तरूपसे किसीको कुछ बताना नहीं, दिखाना नहीं, कोई

आशा नहीं, केवल मैं अपने आपमें अपने आपके लिए रहूँ बस यही एक काम करने योग्य है। यह काम हो तो कुछ लाभ है और यह काम न बन सका तो कुछ लाभ नहीं है। सो इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायकी पद्धतिसे और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी पद्धति से जो ज्ञानमें आया हो वही स्वरूपास्तित्व तत्त्व है।

स्वरूपास्तित्वका परसे अत्यन्त पृथक्त्व—यह स्वरूपास्तित्व ही स्व और परका विभाग कराता है कि लो यह मैं हूँ, और सब मुझसे जुदे हैं, वे मेरे कुछ नहीं लगते हैं। और भी विचारलो कि आपके पुत्रका आत्मा आपकी गृहिणीकी आत्मा, आपके अन्य परिवार जनोंकी आत्मा क्या ये किसीप्रकार एक होते हैं ? सब जुदा हैं, परिणमन जुदा है, ज्ञान जुदा है और सब अपना ही प्रयोजन करने वाले हैं। मैं परका न तो कर्ता हूँ और न परका कराने वाला हूँ और परका अनुमोदन करने वाला भी मैं नहीं। इसमें कर्ता नहीं हूँ यह तो शीघ्र समझमें आजाता है, किन्तु शेष दो बातें जल्दी समझमें नहीं आती हैं। परका करनेवाला नहीं हूँ, सही है, किन्तु परका करानेवाला भी नहीं परका अनुमोदक भी नहीं यह सही कैसे ! सो सुनिये।

परका कारयिता और अनुमन्ताका निषेध—मैं अपने परिणमनमें परको विषय मानकर परके प्रति अनुमोदनरूप अपना परिणमन बनाता हूँ इसी को अनुमोदन कहते हैं। किन्तु मै परका करानेवाला ही नहीं यह कहें तो यह कैसे सही है ? कराते तो हैं ही बहुत से काम। सो भैया ! करने का प्रयोजक जो है उसको कराने वाला कहते हैं अर्थात् माने कराई जानेमे जो क्रिया होती है उस क्रियाका फल जिसे मिलता है उसको करानेवाला कहते हैं। जैसे मैंने आपसे पत्र लिखाया तो इसमें पत्र लिखे जानेका प्रयोजन हमें मिल गया इसलिए हम पत्र लिखानेवाले कहलाये। क्रियाका प्रयोजन जिसे मिले उसे करानेवाला कहते हैं। पर वस्तुस्वरूप को तो देखो कि जिस पदार्थमें जो क्रिया होती है उस क्रियाका प्रयोजन किसी अन्य को मिलता है या उसही को मिलता है। परमार्थसे देखो तो उसको ही मिलता है। जब परमें नहीं मिलता तो परका कराने वाला मैं कैसे हुआ ? इसलिये मैं न परका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, व अनुमोदन करने वाला हूँ, क्योंकि वास्तवमें मैं अपने भावको ही अनुमोदता हूँ। मैं अपने स्वरूपास्तित्वमें हूँ, पर पदार्थ अपने स्वरूपास्तित्वमें है। भैया ! ये सब बातें मोह छुटानेके लिये हैं और प्रयोजन कोई दूसरा नहींहै। व्यर्थमें जिस मोहसे बर्बाद होते हैं उस मोहसे छूटना है, यह अपना दृढ़तम संकल्प बनावें।

स्वरूपास्तित्वका दर्शन ही भेदज्ञानका यथार्थ कारण—यहां भेदविज्ञानकी बात चल रही है। मैं एक स्व अलग चीज हूँ, बाकी विश्वके समस्त पदार्थ अलग चीज हैं। इस भेदविज्ञानको यहां इस तरहसे दिखाया है कि जो अपने चेतना में अन्यरूपसे

सदा रहता है, जो अपनी चेतनाके गुणवाला बना हुआ है और जो अपनी चेतना के परिणमन रूप उत्पाद व्यय याने व्यतिरेक चला रहा है इन तीनों रूपोंमें इन तीनोंमय यह आत्मा तो एक अन्य चीज है और जो अचेतनाके अन्वयमें रहता है, जो अचेतनके विशेषगुणरूप हैं और अचेतन परिणमनमें बना रहता है, ऐसे ये समस्त पदार्थ अन्य चीजें हैं और उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी उपेक्षा जो चेतनरूपसे सदा बना रहता है, जो निज चेतन रूपसे सदा बना रहता है और अपने ही चेतन गुणके परिणमनसे परिणमता रहता है ऐसा यह मैं पदार्थ तो अन्य हूँ और जो अचेतन स्वभावसे सदा बना रहता है और उन अचेतनात्मक गुणोंके परिणमनको ही सदा करता रहता है ऐसा यह समस्त विश्व अन्य है इस प्रकार स्वरूपास्तित्वके द्वारा, स्वरूपास्तित्वके परिज्ञानके द्वारा यह ज्ञानी जीव स्व और परका विभाग करता है।

ज्ञान द्वारा निजमें शान्तिका परिचय—भैया ! शांति कहीं जीवकी गई नहीं है। कहीं यहांसे निकलकर अन्यत्र छुप गई हो ऐसा नहीं है किन्तु एक शुद्ध ज्ञानके उपयोग की आवश्यकता है। जिसने स्व और परके ज्ञानको किया और परको त्यागकर अपने आपका स्पर्श किया अपने आपमें आपका अपना सर्वस्व देखा फिर उसको सर्व संतोष होता है। यह भेदविज्ञान ही हमारा पिता है, रक्षक है, मित्र है, गुरु है, शरण है। इस भेदविज्ञानका शरण जब जीव नहीं लेता है तब यह सर्वत्र अटपटे जैसा चाहे विकल्पोंको बनाकर दुःखी रहता है। इस भेदविज्ञानकी महिमा बतलाकर पूज्यपाद श्री अमृतचन्द्र सूरीने यह बात कही है कि भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। ताव धावत् पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्। हे मुमुक्षुजनो ! इस भेदविज्ञानकी भावना अविच्छन्न धारासे करते रहो, इस भावनाकी धारा कभी न टूटे। कबतक इस भावनाको अविच्छिन्न धारासे करते रहो ? जबतक परसे छूटकर अपनेमें प्रतिष्ठित न हो जाओ

विकट गोरखधंधा—यह संसार विकट गोरखधंधा है। आंखें खोलकर बाहर देखो तो उसका यह फल है कि जगतके बाह्य पदार्थोंमें मिथ्या भाव करने लगते हैं और उनमें सुधारने बिगाड़नेका ध्यान रखने लगते हैं। किसे सुधारें, किसे बिगाड़े किसी पर किसीका वश नहीं है। कदाचित् पुण्योदयके अनुसार किसी बाह्य पदार्थका इच्छा के अनुसार परिणमन होगया तो कुछ ही समय बाद वह विघट गया तो या उसकी इच्छाके अनुसार परिणमन न हुआ तो वह दुःखी हो जाता है। बाहरमें किसी पदार्थ पर अपना वस नहीं है। अपनेको मनालो, अपनेको समाधानरूप करलो तो अपना आनन्द अपने पास है पर बाहरमें किसी पदार्थको यों करदूँ, यों बनादूँ इस प्रकारके विकल्पोंसे हम चाहें कि हम सन्तुष्ट हों, तो यह बात नहीं हो सकती। इसलिए जब तक यह ज्ञान, ज्ञान स्वरूपमें प्रतिष्ठित न हो, लीन न हो तब तक अपनेको समझना चाहिए कि अभी हम गल्ती पर हैं, गलत मार्गपर हैं। चाहे हमने सही

जान लिया और सही जान लेनेके बाद भी हम सही मार्गपर विहार नहीं कर रहे हैं तो सही ध्यान तो रखो कि जब तक अपने आपका नानारूप ख्याल रहता है तब तक यह समझना चाहिए कि अभी हम सही मार्गपर नहीं हैं।

भेदविज्ञान सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य—भैया ! ज्ञान जब ज्ञानमें लीन होता है तो वहाँ मात्र आनन्दका अनुभव रहता है। अन्य कोई तरंग नहीं रहती। सो भाई सबसे बड़ा काम भेदविज्ञान करनेका है। तीन लोकका वैभव भी अपने सामने आ जाय तो इतने मात्रसे व यश कीर्तिसे भी इस आत्मामें कोई सुधार की, शांतिकी बात नहीं होगी। भेदविज्ञान करो, चाहे इस तनसे भी श्रम करना पड़े भेदविज्ञानके लिए। भैया ! भेद विज्ञानके लिए शरीरसे श्रम नहीं करना पड़ता, पर भेदविज्ञान जिस सत्संगमें प्राप्त हो उस सत्संगमें जाने, ठहरने, सेवा इत्यादि अनेक काम करनेमें तनसे कामको करना पड़े इस भेद विज्ञानके लिए वचनोंका श्रम भी करना पड़े, वचनोंके श्रमसे कहीं भेद विज्ञान नहीं होता है, किन्तु भेदविज्ञानके अभ्यासमें सत्संगके बीच नम्र वचन बोलते हुए परस्परमें अध्यात्मचर्चाके समय कोई बात बोलना हो तो दूसरोंका सन्मान रहे, चाहे अपनी बात नीची हो जावे, पर दूसरेके सन्मानमें बाधा न आवे, इस भेद विज्ञानके लिए मनसे तत्त्वचिंतन करना पड़े; अपने हृदयको स्वच्छ बनानेका उपयोग करना पड़े तो ये सब काम करके भी तो भेद विज्ञानकी प्राप्ति होती हो तो समझो अमूल्य चीजको इसने बड़े सस्तेमें निपटा लिया। सर्वोत्कृष्ट शरण है, रक्षक है तो यह आत्मा अनात्माका भेद विज्ञान ही है।

व्यवहार धर्ममें भी निश्चय धर्मका आशय—भगवान जिनेन्द्रदेवकी हम भक्ति करते हैं उस प्रसंगमें भी जितने काल हम अपने स्वरूपका स्पर्श कर पाते हैं या अपने शुद्ध स्वरूपका उपयोग दे पाते हैं उतने क्षण तो हमारी सफलता है और संवर निर्जराके हम विशेष पात्र हैं। गुरूपासना, स्वाध्याय, तप आदि आवश्यक कर्तव्योंमें आत्मस्पर्शकी धुन रहना चाहिये। संवर-निर्जरा तत्त्व मोक्षका मार्ग है। इस कारण समस्त आनन्दकी जड़ जो भेद विज्ञान है हमें इस भेद विज्ञानको प्राप्त करना चाहिए इस स्वरूपास्तित्वके दर्शनका लाभ प्राप्त करो; लो, यह मैं इस प्रकार परिणम रहा हूँ यह मैं विभक्त हूँ और इस मुझको छोड़कर शेष जगतके ये समस्त पदार्थ जो ये नाना रूप परिणम रहे हैं, सब अन्य हैं। इस भेद विज्ञानसे क्या-क्या तत्त्व निकला मेरा किसी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। मैं किसी पदार्थका रंच भी कर्त्ता नहीं, मैं किसी पदार्थका रंच भी भोक्ता नहीं।

बाह्य अर्थका भोग असंभव—भैया ! भोजन करते हुएमें भी तो भोजनका भोग नहीं किया जाता है, मुखसे भोजनको खूब चबाया जाता है, एक रस किया जाता, है स्वादका अनुभव करते, खुश होते। यहांपर भी मैं भोजनको नहीं भोग रहा हूँ

किन्तु उस प्रक्रियाके कालमें जो रसना इन्द्रियके द्वारा भोजनका रस कैसा है इसका ज्ञान किया आत्मामें, इतना काम तो हुआ रसना इन्द्रिय का। पर, अज्ञानवश बाह्य पदार्थोंकी आशक्तिका जो संस्कार लगा है उसके कारण जो आकुलताएं बना ली हैं उन आकुलताओंको भोग रहे हैं, मगर भोजनके रसको नहीं भोगरहे हैं यह भेद विज्ञानके मर्मकी बात जब ध्यानमें समाती है तो ये सब भोगके साधन नीरस हो जाते हैं। भोगके साधनोंमें जब हमारा राग होता है तो पराधीन हो जाते है कोई पुत्रके आधीन, कोई स्त्रीके आधीन, कोई रिस्तेदारोंके आधीन, कोई मित्रोंके आधीन बनते हैं , उनमें राग करते हैं सो स्वयं ही उनके आधीन हो जाते हैं।

आतमके अहित विषयकषाय—इस आत्माका अहित करनेवाले विषयकषायों के परिणाम हैं। विषय कषयोंके भाव न हो और शुद्ध ज्ञान स्वभावमें उपयोग लगा रहे, रमा रहे तो तो यह स्थिति कल्याणस्वरूप है। यदि आत्मपरिणति निर्विषय व निष्कषाय है तो भगवानकी भक्तिकी भी वहाँ आवश्यकता नहीं है। और यह ही क्यों कहें, वह तो शुद्ध ज्ञानतत्त्वकी परम उपासना कररहा है! पाप करते हैं तो भगवानसे मिन्नत करनी पड़ती हैं पाप ही न करें तो भगवानसे हाथ जोड़नेकी भी आवश्यकता क्या है, क्योंकि निष्पापकी अवस्थामें तो वह भगवानसे पूर्ण रूपसे मिल चुका है। अब यहाँ भगवानमें भी भाव होता है संसारी हालतमें तो भगवानके दास बनते है उनकी दासता करते हैं हे प्रभो! मे तुम्हारा पुजारी हूँ, आप हमारे पूज्य हैं, आपका मैं दास हूँ, आप मेरे स्वामी हो। यह गिड़गिड़ाहट कबतक है। जबतक हम गलत चलते हैं, पापमय चलते हैं। जबतक इन विषयकषायके पापोंका प्रायश्चित्त पूर्ण न हो तब तक हम अपने स्वरूपमें ठहर नहीं सकते।

अपराधका परिणाम—भैया! कुछ न कुछ विकल्प करें तो यह मेरा अपराध है। और जो भी अपराधी होगा उसे किसी न किसीके सामने गिड़गिड़ाना पड़ेगा ही। चाहे लोक व्यवहारमें देख लो और यही परमार्थकी बात समझलो। यदि पाप करते हैं, अपराध करते हैं तो समाजसे गिड़गिड़ाना पड़ेगा, नाते रिस्तेदारोंसे गिड़गिड़ाना पड़ेगा। जिससे मुझे फल मिलने की शंका है वहाँ गिड़गिड़ाना पड़ेगा। इस भगवान निंज तत्त्व देवपर हमने कितना अन्याय कर रक्खा है जो यह ज्ञान स्वरूप भोला भाला सहज तत्त्व है आनन्दमय ही है उसपर अर्थात् इस आत्मा भगवानपर इस उपयोग न विशेषकी परिणतिका जुल्म ढा दिया है। यह कैसा दब गया है। तो इतने महान् प्रभुकी प्रभुतापर अन्याय किया जाय तो इस अन्यायका बड़ा फल मिलना चाहिए ना ? तो वह बड़ा फल यही सब तो है, स्थावर बन गये, कीड़े मकोड़े बन गये यही महान् फल भोगें जा रहे हैं, इस महान् अपराधी को अपने अपराधका पता नहीं है और अपराधपर अपराध करता चला जा रहा है सो अपने अपराधका अपने आपको पता

चाहे न रहे मगर अपराधका फल तो भोगना ही पड़ेगा। सो हम अपराध करते हैं, अपने ज्ञानस्वरूपके उपयोगसे हटते हैं तो हमें भगवानसे गिड़गिड़ाना पड़ता है।

भेदविज्ञानका प्रताप—जब हम इतने बड़े हो जायें, इतने शुद्ध स्वच्छ उपयोग वाले हो जायें कि भगवानके घरमें कभी जब चाहे बेखटके आना जाना बन सके और कभी-कभी भगवानके स्वरूपमें एक आसनभूत ज्ञानमें बैठाकर मिलकर सहज अन्तर्जल्प चल सके तो इतनी उत्कृष्टताका वर्ताव होनेपर फिर भगवानसे गिड़गिड़ानेकी आवश्यकता नहीं है। यह सब भेदविज्ञानका ही प्रताप है। सो इस भेदविज्ञानकी प्रसिद्धिके लिये इस आत्मदेवको समस्त पर द्रव्योंसे विभक्त करते हैं। परद्रव्योंके संयोग के कारण स्वयंकी अलोचना करते हैं। आत्मा जो विपत्तिसे पृथक् नहीं हो पाता है। इसका कारण परद्रव्योंका संयोग है और वास्तवमें तो परद्रव्यका संयोग वह कहलाता है जो हमारे आत्मतत्त्वको तिरोभूत करता है, उसके स्वरूपकी आलोचना करते हैं।

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सोहि सुहो असु हो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ १५५ ॥

आत्मा उपयोगात्मक है। उपयोग ज्ञान और दर्शनको कहते हैं। सो अपने इस आत्माका उपयोग शुभ रूपसे भी होता है और अशुभरूपसे भी होता है।

उपयोगके प्रायोजनिक भेद—मूलसे इसका भेद देखो तो उपयोग दो प्रकार का है। (१) शुद्ध उपयोग और (२) अशुद्ध उपयोग। शुद्ध उपयोग तो एक ही तरहका है, क्योंकि शुद्धता अनेक प्रकारकी नहीं होती। वह तो वस्तुकी स्वरूपसीमा है। खालिस वस्तुके रह जानेको शुद्ध कहते हैं। जैसे चौकीपर किसी चिड़ियाकी बींट पड़ी है तो उस समय सेवकको कहा जाता है कि भाई इस चौकीको शुद्ध कर दो, माने क्या कर दो यह चौकी खालिस चौकी रह जाय, ऐसा परिणमन कर दो। इस चौकी के ऊपर चौकीके अलावा जो कुछ भी विभाव लदा है, परसंयोग पड़ा है वह परिणति पृथक् हो जाय, चौकी चौकी ही रह जाय, यह आज्ञा देते हैं, मगर देते हैं इन शब्दोंमें कि चौकीको शुद्ध कर दो। जिसे कहते हैं PURIFY, केवल शुद्ध रह जाय, तो जो केवल रह गया उसमें नानापन कहाँ? जिसमें पर चीज कुछ मिले तो वह मिलावट तो नानापन है पर केवल एकत्वरूप वस्तु नाना रूप कैसे धारण करे? सो शुद्ध उपयोग तो केवल एक प्रकारका है।

अशुद्धोपयोगकी विविधता—अशुद्ध उपयोग चूँकि उपराग सहित है, विभाव सहित है सो विभावकी विविधताके कारण अशुद्ध उपयोग नाना प्रकारके होते हैं। सो इस शुद्ध रूप परिणमनको कहना चाहिए उपयोग सामान्य और शुभ या अशुभ उपयोगको कहना चाहिए उपयोग विशेष, परद्रव्यके संयोगका कारण उपयोग विशेष है। जैसे कोई लड़का किसी बड़े लड़केको गाली देता है कटु वचन बोलता है तो वह

लड़का तो केवल कटु वचन ही बोल रहा है किन्तु फलमें लगते चाँटे घूँसें। यह उसको आपदा बन गयी है। इस आपदाके बननेका कारण उसका कुवचन है, ऐसा भाव उस बच्चेको क्रोधके कारण नहीं होता, वह तो यही देखता है कि यह बड़ा अपराध करता है, मुझे मारता है, पीटता है। यह नहीं मालूम पड़ता उसे कि यह आपदा मेरे कुवचन बोलनेके कारण है, क्योंकि क्रोधमें झुकाव है, विवेकको खो दिया है। सो नहीं मालूम पड़ता कि यह पिटाई मेरे अपराधके कारण ही हो रही है। यह ख्याल नहीं होता कि मैं कुवचन बोलता हूँ और पिटता हूँ - यदि मैं कुवचन न बोलूँ तो मेरी पिटाई बंद हो जाय। इसी प्रकार यह जीव केवल उपयोग विशेष बनाता है और करता क्या है ? शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग।

उपयोगविशेषका फल—भैया उपयोगविशेषको बनाते हैं तो कर्म बंधन होता है, शरीरमें फसते, जन्म मरण होता, संक्लेश भोगता, ये सारी आपत्तियाँ इस पर आ जाती हैं। इस मोही जीवको यह पता नहीं पड़ता कि इतनी आफतें जन्म मरणके चक्र, आकुलता व्याकुलताओंमें रहना, ये सब आकुलताएँ केवल उसके उपयोग विशेष के कारण लग गयी हैं। कैसे पता हो! पता हो, तो मोह ही न मिट जाय। सो ये अपनी धुनमें विकल्पोंके रागमें लगे हुये हैं और ये सब आफतें बराबर बढ़ती चली जा रहं हैं। आफतें पर द्रव्यके संयोगसे हैं। वियोगसे आफतें नहीं आती हैं। सो संयोगसे अकल्याण होता है, वियोगसे अकल्याण नहीं होता है। वियोगसे होती है उन्नति और संयोगसे अवनति होती है। भोगभूमिया जीव अपने जीवनमें सदा इष्टके संयोगमें रहते हैं, मरते हैं, पतिपत्नी एक साथ ही वियोग करके मरते हैं और जीवन भर इष्ट भोगोंमें ही रहते है। उनका साधन भी ऐसा है कि कुछ इष्टका उपार्जन नहीं करना पड़ता है। मनोवाञ्छित भोग मिलता है तो वे मर कर अधिकसे अधिक दूसरे स्वर्गतक ही उत्पन्न होते हैं।

वियोगका वरदान—अब जरा इन कर्मभूमिजोंको देखो इनके वियोग हो जाता है। कभी धनका वियोग, कभी इज्जतका वियोग, कभी स्त्रीका वियोग, तो ऐसे वियोगवालेका परिणाम देखो कि वे ऊँचे स्वर्गोंमें, अहमिन्द्रोंमें और मोक्षमें भी चले जाते हैं। देवगतिके जीवोंको देखो उनके जीवनमें उनका सदा इष्ट समागम बना रहता है, वे इष्टरमण करते रहते हैं। उनका परिणाम देखो कि वे एकेन्द्रिय जीवोंमें भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अपने जीवनव्यवहारमें यह निर्णय रखना चाहिए कि विपदासे और वियोगसे हमारा कल्याण नहीं है। विपदा क्या है ? परपदार्थोंका एक प्रकारका परिणमन है। यह मैं मुझमें ही हूँ, ये विपदायें क्या करेंगी ? विपदाओं को तो हम कल्पनाएँ करके बना लेते हैं, कल्पनाएँ करते हैं, उपयोग विशेष बनाते हैं जिस उपयोग विशेषके कारण ये जीव संसार चक्रमें फसते हैं, दुःखी होते हैं।

उपयोगसामान्य आनन्दका कारण—हम अपने आत्मतत्त्वका स्पर्श नहीं कर पाते हैं इसका कारण है उपयोग विशेष। यह भीतरमें उपयोग विशेष करना छोड़दे, उपयोग समानवृत्तिसे रहजाय तो ये समस्त आपदाएं इसकी समाप्त होंगी। भैया! करनेका महत्त्व है, जो अपने भीतरमें इस प्रकारकी वृत्ति कर सके तो उसे सब लाभ ही लाभ है। यों यह उपयोग आत्माका स्वभाव है, यह उपयोग छूट नहीं सकता, चलता रहेगा, पर इसकी सामान्य वृत्ति बन जाय तो कल्याण है और इसकी विशेष वृत्ति बने तो अकल्याण है। उपयोग तो छूट नहीं सकता क्योंकि वह चैतन्यका अनुविधायी परिणाम है सो वह उपयोग विशेषवृत्तिको नहीं अंगीकार करे अर्थात् राग द्वेषोंमें न लगे तो अभी कल्याण है, अभी भला है।

परद्रव्योंके संयोगका कारण—अब यहां इस बातको कहेंगे कि आत्मा जो विभक्त नहीं हो सकता, संयोगके चक्रमें पड़ा है इसका कारण क्या है। अर्थात् पर द्रव्योंके संयोगका कारण क्या है? पर द्रव्योंके संयोगका कारण उपयोग विशेष है। जैसे लोक व्यवहारकी भी बातें देखो कि कोई मनुष्य किसीके रागके वश हो गया है, आधीन हो गया है तो दूसरोका सेवक बन जानेका कारण क्या है? विकल्प, स्नेह, भीतरमें वांछा और आशा उत्पन्न हुई जिसके कारण यह बंधनमें पड़ गया, परद्रव्योंके संयोगमें पड़ गया। वह अतरंगमें वांछा न करे तो परद्रव्यों के संयोगमें नहीं फसता तो पर द्रव्योंमें फसनेका कारण उपयोगविशेष है मात्र उपयोग नहीं है, उपयोग तो आत्माकी वृत्ति है। जैसे वर्तनाके बिना पदार्थोंका सत्त्व नहीं रहता है। ऐसे ही उपयोगके बिना जीवनका सत्त्व नहीं रह सकता, जीव है तो कहीं न कहीं उपयोग लगेगा ही।

उपयोगका विवरण—यह उपयोग ज्ञानरूप है और दर्शनरूप है चेतना तो एक स्वभाव है, आत्माका असाधारण गुण है उसकी सविकल्प और निर्विकल्प रूपसे वृत्ति है, सविकल्प कहें या साकार कहें एक ही मतलब है विकल्पका अर्थ है अर्थका ग्रहण, अर्थका जानन। जानन ही आकार कहलाता है। जैसे हम किसी पदाथको जानते हैं तो जानते ही आकारसा स्पष्ट होता है, यहां आकार आदि सभीका जानन आकार है, तो यह चेतन साकारस्वरूप है और दर्शनके कारण निराकारस्वरूप है।

ज्ञानकी स्वपरनिश्चायकता—न्यायशास्त्रमें ज्ञानका लक्षण बताया है स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं, जो स्व और परका निश्चय करे उसे ज्ञान कहते हैं और वह प्रमाण है। यहांपर स्वका मतलब आत्मा नहीं है, स्वका मतलब ज्ञान ही है। ज्ञान स्वका भी निश्चय करता और परका भी निश्चय करता जैसे कि जाना कि यह रस्सी पड़ी है तो इस ज्ञानसे वहां यह निर्णय किया कि यह रस्सी पड़ी है तथा यह भी एक साथ निर्णय हुआ कि जो मैं यह जान रहा हूं कि यह रस्सी पड़ी है, यह मेरा

ज्ञान भी सही है। दोनों बातें एक साथ संस्कारमें चलती है। जैसे कि जान लिया कि यह रस्सी है तो रस्सीको तो जान लिया सही दृढ़ताके साथ कि रस्सी है और रस्सो हैं ऐसे ज्ञानको ऐसा समझें कि यह ज्ञान मेरा सही है कि नहीं। तो रस्सीका ज्ञान क्या सही कहलाया ? जब परपदार्थविषयक ज्ञानमें दृढ़ता नहीं है कि मेरा ज्ञान सही है। तो पर पदार्थोका ज्ञान कैसे सही हो सकता है। जैसे कि बहुत दूर उड़ते हुएको जाना कि यह हवाई जहाज उड़ रहा है तो उसके जाननेके साथ भीतरमें यह भी ज्ञान होता है कि यह जो मैं जान रहा हूँ कि हवाई जहाज ऊपर उड़ रहा है, यह ज्ञान हमारा सही है। तो इस ज्ञानसे उस परका ऐसा निर्णय किया और अपने ज्ञान-स्वरूपका निर्णय किया इसीको कहते हैं स्वपरव्यवसायि ज्ञानं। याने ज्ञान स्वपर व्यवसायक है। इसका न्यायशास्त्रमें यह अर्थ निकलता है कि ज्ञानकार्यमें वर्तनेवाला ज्ञान ज्ञानको भी जाने कि सही है और बाह्यमें रहनेवाले पदार्थोंको भी जाने कि सही है, यों ज्ञानका स्वरूप स्वपरनिश्चायकत्व है।

अन्तः प्रमेयकी अपेक्षा सर्वत्र प्रमाणता—कदाचित् बाहर पड़ी हुई रस्सीको जान लिया जाय कि यह सांप है याने विपरीत ज्ञान हो, तो विपरीत ज्ञानमें भी दृढ़ता रहती है। जैसे रस्सीको रस्सी जाननेमें दृढ़ता रहती है। कि यह रस्सी ही है और जो मैं यह जान रहा हूँ कि यह रस्सी है यह ज्ञान भी सही है जैसे ज्ञानमें दो जगह दृढ़ता रहती है सोई विपरीत ज्ञानमें भी दो जगह दृढ़ता रहती है। रस्सीको सांप जान लिया तो वहाँ भी दृढ़ता है कि यह सांप है ऐसा जो उसका ज्ञान बन रहा है अन्तः प्रमेयकी अपेक्षा उसके लिये यह सही है।

बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाणता व अप्रमाणता—अर्थविरुद्ध ज्ञान विपरीत ज्ञान क्यों कहलाता है ? जाननेवालोंकी दृष्टिमें विपरीत नहीं कहलाता है क्योंकि वह तो जान ही रहा है। हाँ निर्णायक अन्य पुरुषोंकी दृष्टिमें विपरीत ज्ञान है। वैसे तो अंतरंगकी अपेक्षा जितने भी ज्ञान हैं वे सब प्रमाण हैं चाहे उल्टा ज्ञान हो, चाहे सीधा ज्ञान हो, सब ज्ञान प्रमाण होते हैं। पर बाह्य अर्थकी दृष्टिसे कोई ज्ञान प्रमाणाभास है। जैसा ज्ञान किया जा रहा है वैसा यदि पदार्थ नहीं है तो प्रमाणाभास है और यदि पदार्थ है तो वह ज्ञान प्रमाण है। पर, बाह्य अर्थकी तो उपेक्षा रखे और केवल ज्ञानके उस अंशकी ही अपेक्षा रखे तो जितना भी ज्ञान है वह सब ज्ञान प्रमाण है, तो ज्ञानमें स्वपरव्यवसाय ही है कि ज्ञान परको भी जानता है और ज्ञान अपने स्वरूपको भी जानता है, यहाँ "अपने" शब्दका मतलब आत्मासे नहीं है, ज्ञानसे है।

ज्ञानकी अस्वसंविदतामें अनवस्था—भैया ! और मजेकी बात देखो जिनके यहाँ ज्ञानको परव्यवसायी ही कहा, स्वव्यवसायी नहीं कहा, (यह सब न्याय शास्त्रकी बात चल रही है,) वे इस ज्ञानको परपदार्थका ही निर्णय मानते हैं। फिर उनसे पूछा

जाय कि ज्ञानने तो पर पदार्थोंको जान लिया मगर जब तक यह निर्णय न हो कि यह ज्ञान भी सही है तो पर पदार्थोका जानना सही कैसे कहा जा सकता है ? भैया, ज्ञान तो सही तब कहा जा सकता, जब इस ज्ञानकी भी जानकारी होजाय पर इस ज्ञानको स्वसंवेदी मानते नहीं तो वहाँ उत्तर दिया जाता है कि तुम्हारी बात ठीक है। जबतक इस ज्ञानके बारेमें यह निश्चय न हो कि यह ज्ञान सही है तब तक पदार्थोका ज्ञान सही नहीं कहा जा सकता। सो यहाँ भी ज्ञानका निर्णय होता ही है; किन्तु इस ज्ञानका ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा होता है। फिर पूछा कि उस दूसरे ज्ञानका भी जबतक सही निर्णय न हो तो प्रथम ज्ञान भी गलत होगा और पदार्थका ज्ञान भी गलत होगा तो उस दूसरे ज्ञानका भी निर्णय होना चाहिए तो उत्तर दिया जायगा कि दूसरे ज्ञानका जानना तीसरे ज्ञानसे होता है। इस तरहसे तो ज्ञान ही ज्ञानके निर्णयमें समय बीत जायगा। पदार्थोके निर्णयकी बात कब आ पायगी ? तो वह जबाब होगा जितनी लम्बी परम्परा तक ज्ञानका निर्णय करना आवश्यक रहता है वहाँ तक तो निर्णय चला करता है और जहाँ फिर उन पूर्वके ज्ञानोंके निर्णयकी आवश्यकता नहीं रहती, बस वहाँ से परम्परा टूट जाती है। कितनी अनवस्था करनी पड़ी।

दृष्टान्तपूर्वक स्वपरव्यवसायकताका संकेत—भैया ! बात तो सीधी है कि जैसे दीपक परका भी प्रकाश करता है और खुदका भी प्रकाश करता है। इसी तरह ज्ञान परका भी ज्ञान करता है और खुदका ज्ञान करता है ज्ञान स्वपरप्रतिभासक है और दर्शन स्वप्रतिभासक है, परप्रतिभासक नहीं, अर्थात् अर्थविकल्पक नहीं है। चेतनस्वरूपका आत्मसात् करके प्रतिभास होना दर्शनका काम है और विकल्प और आकारके रूपमें स्वका और परका प्रतिभास होना सो ज्ञानका काम है, यह द्विरूपता चैतन्यमें स्वभावतः है।

ज्ञान व दर्शनके गुणपनेकी सिद्धि—भैया ! अब एक बात सोचो-चेतनके दो भेद हैं ज्ञान दर्शन या चेतन गुणके दो गुण और बन गये ? ज्ञान व दर्शन ? गुणके गुण तो नहीं हुआ करते। भिन्न-भिन्न बातें मालूम पड़े तो वहाँ भिन्न-भिन्न गुण कहना चाहिए। तो क्या चीज है यह। इसके निर्णय के लिए एक दृष्टान्त लें।

पुद्गलमें स्पर्श गुण है और वह स्पर्श गुण चार पर्यायोंको कर सकता है। स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, कोमल, कड़ा, हल्का भारी ये स्पर्श गुणके काम नहीं हैं, किन्तु स्कंध होनेपर ये प्रकट होते हैं। यदि यह स्पर्श गुणकी ही पर्याय हो तो यहाँ परमाणुमें भी कोमल, कठोर, हल्का, भारी रहना चाहिए। सो तो है नहीं, क्योंकि ये गुणपर्याय नहीं है ये व्यंजनपर्यायसे सम्बन्ध रखते हैं। कोमल, कठोर, हल्का, भारी, ये व्यजन पर्यायें हैं। गुणपर्यायें नहीं है। गुणपर्याय तो चार ही, हैं, उन चारोंमें भी एक समयमें दो पर्यायें होती है। शीत उष्णमेंसे कुछ हुआ और स्निग्धरूक्षमें से

कुछ हुआ। कोई चीज ठंडी है तो गर्म नहीं है और गर्म है तो ठंढी नहीं है।

एक प्रतिपृच्छा—आप कहेंगे कि यह जो धूपदान होती है वह ठंढी भी है और गर्म भी है। ठंड तो वहाँ है जहाँ पकड़ कर यहाँसे वहाँ रखते हैं और गर्म वहाँ है ही जहाँ आग रखी रहती है। भैया ! यह बात यथार्थ नहीं है। वह धूपदान कोई एक चीज नहीं है यहाँ एक चीजकी बात कही जा रही है कि एक चीजका ठंढा और गर्मपना दोनों एक साथ नहीं रहते हैं। स्कंध बन गये हैं, इसमें अनेक चीजें है इसमें भी रहने वाले एक-एक अंश पर, चीजोंपर दृष्टि दें तो, प्रत्येक चीज या तो ठंढी मिलेगी या गर्म मिलेगी, चिकनी मिलेगी या रूखी मिलेगी।

दो स्पर्शगुणोंकी सिद्धि—तो क्या एक स्पर्श गुणकी एक साथ दो पर्यायें होती हैं ? ठंढा हो जाय, और रूखा हो जाय या और किस्मका हो जाय। क्या कभी एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ हो सकती हैं ? ऐसा नहीं है। तो बारीकीसे देखा जाय तो वहाँ दो गुण हैं, जिन गुणोंका नाम कुछ नहीं है, न लिखा है, किन्तु युक्ति यह कहती है कि वहाँ तो केवल एक गुण हो तो एक समयमें उसकी एक पर्याय है। एक गुणकी दो पर्यायें नहीं होती। जिसकी कभी शीत पर्याय है, कभी उष्ण पर्याय है, वह तो एक गुण है। और कभी स्निग्ध पर्याय हो, कभी रूक्ष पर्याय हो, वह दूसरा गुण है। उनका नाम हम क्या धरें ? जो रखना हो सो रख लो। या उन पर्यायोंका शुरू-शुरूका एक-एक शब्द जोड़ लो और नाम रखलो या नाम कुछ भी रख लो, नाम की कुछ बात नहीं। यह उभय स्पर्श क्यों कहलाता है कि ये दोनोंके दोनों ही पर्यायें स्पर्शन इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होते हैं, इसलिए दोनों गुणोंका नाम स्पर्श रखा है। सूक्ष्म विवेचनामें वे दोनों गुण आते हैं।

दो चेतन गुणोंकी सिद्धि—इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन ये दो गुण हैं और इन दोनों गुणोंकी प्रतिसमय पर्याय चलती है। छद्मस्थावस्थामें यह बताया है कि ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग एक साथ नहीं होता पहिले दर्शन होता फिर ज्ञान होता। तो उपयोग की अपेक्षा है ऐसा। ज्ञान गुण और दर्शनगुण दोनोंका परिणमन एक साथ छद्मस्थ अवस्थामें भी होता है, परन्तु उपयोगवृत्ति क्रमशः होती है। यह छद्मस्थ अवस्थाकी बात है। और केवली भगवानमें ज्ञान और दर्शनकी वर्तना भी और उपयोग भी एक साथ होता है। अन्यथा ज्ञान गुण जब परिणम रहा है तब दर्शन गुण नहीं परिणम रहा होगा और जब दर्शन गुण परिणम रहा है तब ज्ञानगुण नहीं परिणम रहा होगा यह बात प्रसक्त हो जायगी। तो वर्तनारहितपना, परिणमन-रहितपना होनेसे गुणका अभाव हो जायगा, सो ये दोनों गुण हैं और ये चेतन स्वरूप हैं। इन दोनोंको चेतन इसलिए कहा है कि इन दोनोंका काम इनकी उपयोगवृत्ति चेतना ही है, ये चेतते हैं, चेते जाते हैं। इस चेतनताके सादृश्यसे दोनों गुण चैतन्य

कहे गये हैं।

उपयोगकी सामान्य वृत्ति व विशेषवृत्तिका परिणाम—इस जीवका यह उपयोग जब सामान्यवृत्तिसे रहता है तब तो परद्रव्योंका संयोग नहीं होता और जब यह उपयोग विशेष वृत्तिसे चलता है। तब यह उपयोगविशेष परद्रव्यके संयोगका कारण बनता है। इसीको समझनेके लिये उपयोगके प्रायोजनिक भेदोंको देखिये—यह उपयोग दो प्रकारसे विशेषित है। शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध उपयोग तो वह है जो निरुपराग है, उपरागरहित है, विभावरहित है, रागद्वेष, मोहके सम्पर्कसे रहित है। मात्र जानन ही जिसका प्रयोजन है, ऐसी जो चेतना है वह तो है शुद्धोपयोग और जो सोपराग है वह है अशुद्धोपयोग। सोपराग क्या है? जिसकी शुद्ध जाननकी वृत्ति नहीं है किन्तु जिसके साथ राग विकल्प लगा है वह सब सोपराग उपयोग है याने अशुद्धोपयोग है।

शुभोपयोगके अशुद्धोपयोगपना—भगवानकी भक्तिविषयक जो उपयोग है वह भी रागपूर्वक है। जैसे कोई मोक्ष प्राप्तिके लिए उत्सुक हो जाय कि यह मेरा ज्ञान ऐसा ही शुद्ध स्वच्छ बना रहे, ऐसी उत्सुकता हो जाय तो यह उत्सुकता शुभोपयोग है या शुद्धोपयोग? भगवानके गुणोंका अनुराग होना शुभोपयोग है और अपने ही ज्ञानमें ऐसी उत्सुकता है कि ऐसी शुद्ध चेतन वृत्ति मेरेमें बनी रहे, मिटे, नहीं, ऐसी उत्सुकताके समयके परिणमनको भी शुभोपयोग कहेंगे। जिनके साथ उपराग है वे सब अशुद्धोपयोग हैं। फिर किसी दीनका उपकार कर दिया किसीकी रोजी लगा दिया, किसी भूखेको भोजन करा दिया। कुछ देश, समाज, धर्मकी व्यवस्था बना दिया आदिक जो उपयोग हैं ये उपयोग तो बहुत मोटे शुभोपयोग हैं। जहाँ शुद्ध ज्ञानके लिए उत्सुकता हो उसको शुभोपयोग कहा गया है, वहाँ अन्य पदार्थोंके बारेमें भला करनेके उपयोगको निरुपराग या धर्म कैसे कहा जा सकता है? तो अशुद्धोपयोग वह कहलाता है जिसके साथ उपराग लगा है। वह अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है (१) शुभोपयोग और (२) अशुभोपयोग।

उपरागके सम्बन्धसे उपयोगकी द्विविधता—उपयोगोंमें ऐसे दो भेद क्यों पड़ गये? जिस उपरागके सम्बन्धसे उपयोगके भेद किये गये हैं वे उपराग स्वयं दो प्रकार हैं। उपयोग साक्षात् दो प्रकारके हों ऐसा नहीं है किन्तु जिस उपरागके सम्बन्धसे अशुद्धोपयोग दो प्रकारके माने गये हैं वे उपराग स्वयं दो प्रकारके है। एक विशुद्धरूप उपराग और एक सक्लेशरूप उपराग। विशुद्धरूप उपराग क्या-क्या है? जीवोंके भला करनेका भाव, मनुष्योंके सुखी करनेके यत्नका भाव, भगवानके स्वरूपके अनुराग का भाव और अपना ही ज्ञान दर्शन, ज्ञानस्वरूप अपनेको सुहाये और उसकी प्राप्तिके लिए उत्सुकता बने और कभी-कभी तो एक तड़फन भी अपने हितके लिए हो जाय, अपनी ही प्राप्तिके लिए तड़फन हो ये सबकी सब चीजें शुभोपयोग हैं, ये उपराग

विशुद्धिरूप हैं, संक्लेशरूप नहीं हैं और विषयोंका अनुराग, खाने पीनेको बढ़िया मिले, स्पर्शका अनुराग, अच्छी तकिया हो, कोमल गद्दा हो, और-और इन्द्रियोंके अनुराग ये सब अनुराग अशुभोपयोग हैं। अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग कभी नहीं होता। जिन जिन जीवोंके शुद्धोपयोग हुआ है उनका शुद्धोपयोग होनेसे पहिले शुभोपयोग ही था, अशुभोपयोग नहीं था। अशुभोपयोगके ही अनन्तर शुद्धोपयोग नहीं होता।

विषय विष—भैया ! अपने आपको कुछ दयाकी दृष्टिसे देखो, ये विषयोंके अनुराग बिल्कुल व्यर्थकी चीजें हैं। जो क्षण विषयानुरागमें गया वह क्षण बेकार गया। बेकार ही जाय तो भी परवाह नहीं, पर अनर्थके लिए गया। बेकार तो वह कहलाता है कि न लाभ ही हो न हानि हो, ज्योंका त्यों रह जाय, पर यह तो बेकारसे भी बुरा समझा जाता है, सो विषयोंकी प्रीति बहुत बड़ी विपदा है। अपने आपमें सम्हला हुआ रहकर अपने आपमें अपने भगवत् स्वरूपको निहारकर अपने शुद्धस्वरूपकी महत्ता कुछ झाँककर अपने आपपर दया करना चाहिए। हे प्रभो ! अपने इस सत्त्वके अन्दर विषयानुरागकी वृत्ति न जगे, क्योंकि वह वृत्ति मेरेको बहुत पतित करनेके लिये होती है।

विषयप्रीतिका फल बरबादी—भैया, देखो जिन्होंने अब तक विषयानुराग, किया, जिनकी ५० वर्षकी उमर हुई वे हिसाब तो लगालें, कभी छटाकभर, कभी तीन छटाक खाया, कभी आधा सेर खाया, कभी तीन पाव। खैर आधा सेरका हिसाब लगालो तो ३० दिनमें १५ सेर हुआ। सालभरमें १८० सेर हुआ, माने ४॥ मन १ वर्षमें ४॥ मन खाया तो ५० वर्षमें २२५ मन खाया। २२५ मन भोजन मिटा: लादनेके लिए एक वैंगन चाहिए। और ७०-७५ वर्षकी अवस्था होगयी तो पूरा वैंगन चाहिए। पूरा वैंगन भोगनेमें आगया और आज देखते हैं तो रीतेके रीते। कुछ भी हित इनके साथ नहीं है, बल्कि उन समयोंमें भोगोंसे प्रीतिके परिणाम थे सो अपने समयको और बर्बाद किया था, कर्म बन्धन हुआ, आत्मबल घटा, सो ये विषयकषायोंके अनुराग मेरी बर्बादीके लिए ही होते हैं। और हैं ये व्यर्थके अनुराग। इन अनुरागोंसे हाथमें क्या रह जायगा ? कुछ नहीं। तो इन विषयोंका अनुराग अशुभोपयोग है, द्वेषरूप परिणाम और मोहरूपपरिणाम ये भी अशुभोपयोग है। इन अशुभोपयोगोंके कारण पर द्रव्योंका संयोग होता है और बंधन होता है।

बन्धनका कारण उपयोगविशेष—आत्मा उपयोगस्वरूप है, ज्ञानदर्शनस्वरूप है, वह अपने उपयोगरूप परिणमता है। पर यहाँ सब जो दिख रहा है कि देहके बंधन में है, कर्मके बंधनमें है इन पर द्रव्योंके संयोगमें पड़ा होनेका कारण क्या है ? आत्मा तो उपयोगमात्र है, क्या कुछ वहाँ से ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जिससे यह बंधनमें आजाता है। एक यहाँ प्रश्न है, उत्तर यहां दिया जा रहा है कि हाँ, वहाँपर ऐसी वृत्ति है कि जो परद्रव्योंके संयोगका कारण बनती है वह वृत्ति है उपयोग विशेष। यह भोला भाला

आत्मा अमूर्त, जिसका सीधा काम मात्र जानना है, ऐसे सरलस्वभावी आत्मतत्त्वमें अनादिप्रसिद्ध बंधन को 'उपाधिके वशसे जो यहाँ विकार उत्पन्न होता है, जो उपराग उठता है, इस उपरागके सम्बन्धसे यह उपयोगविशिष्ट हो जाता है ।

उपाधिपरिणमनका एक दृष्टान्त—जैसे कोई शुद्ध चक्र चल रहा है । कोई कूड़ा कपड़ेका संयोग वहाँ हो तो उसकी वृत्ति एक विशिष्ट हो जाती है, एक वजनदार हो जाती है, भाररूप हो जाती है, तब फिर सब वर्तनाओंमें अन्तर होने लगता है । ठीक ऐसा ही एक अन्तर यहाँ हो गया । यह आत्मा जो कि स्वभावदृष्टि करके अपने उपयोगमें लिया, उस आत्माकी वर्तना स्वरसतः सिद्ध है, पवित्र है, जानन,देखन मात्र है, पर कर्म बंधनकी उपाधिके वशसे इसमें उठी हुई जो तरंगे हैं उनसे सहित होनेके कारण यह उपयोग भी विशिष्ट हो गया है अब यह उपयोगविशेष परद्रव्यके संयोग का कारण ही है, ऐसा आवेदन करते हैं ।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि
असुहो वा तध पावं तेसिमभावेण चयमत्थि ।। १५६ ।।

पर द्रव्योंके संयोगका कारण जीवका अशुद्ध उपयोग है। यहाँ परद्रव्यका मतलब कर्मसे है । जो कि पुण्य और पापरूपमें विभक्त है । उन कर्मोंके संयोगका कारण अशुद्ध उपयोग है ।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी वर्तना—कैसा अनिवार्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है कि आत्मा केवल अपने आपमें ही अपना परिणमन करता है, इसके आगे कुछ भी नहीं करता । तो जैसे आत्मा कर्मविपाकका निमित्त पाकर स्वयं विभावरूप परिणमता है इसीप्रकार जीवके विभावको निमित्तमात्र पाकर ये कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणाम जाती है । कोई द्रव्य किसी द्रव्यको परिणमाता नहीं है, तिसपर भी ये सभी पदार्थ अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं उस-उस प्रकार परिणाम जाते हैं । परद्रव्यके संयोगका निमित्त कारण यह जीवका उपयोगविशेष है, क्योंकि विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणाम ये उसके सम्बन्धमें हैं । इस द्विविधाके सम्बन्धमें उपयोग दो प्रकारके बन गये (१) शुभोपयोग और (२) अशुभोपयोग । आत्माके शुद्ध जानने देखनेकी वृत्तिके अतिरिक्त यावन्मात्र विभाव हैं, विकार हैं, परिणाम हैं वे सब अशुभोपयोग कहलाते हैं ।

शुद्धोपयोगके अर्थ—शुद्धोपयोगके दो अर्थ है । शुद्धस्य उपयोगः इति शुद्धोपयोगः तथा शुद्धश्चासौ उपभोगश्चेति शुद्धोपयोगः, शुद्धका उपयोग पहिली अवस्थामें है और शुद्ध उपयोगउत्तर अवस्थामें है । शुद्ध जो आत्मतत्व है उसका उपयोग हो, जानन हो, यह शुद्धोपयोग पहिले होता है और इसके प्रतापसे, उपयोग शुद्ध हो जाना अर्थात् उनमें रागद्वेपका सम्बन्ध न रहे, केवल जानमा मात्र दशा रहे ऐसा शुद्ध उपयोग

साधनाके उत्तरमें होता है। शुद्धका उपयोग तो पहिलेसे होने लगता है और तबसे शुद्ध उपयोग आंशिक रूपसे होता है मगर शुद्धका उपयोग पूरे प्रकारसे पहिले कहा जा सकता है उस प्रकार पूरे तरहसे शुद्ध उपयोग पहिली अवस्थामें नहीं कहा जा सकता है। शुभोपयोग और आंशिक शुद्धोपयोग ये प्रारम्भ अवस्थामें चलते हैं। उपयोगका शुद्ध हो जाना शुद्धके उपयोगपर निर्भर है।

कषायका विजय ज्ञानपर निर्भर—जैसे कोई श्रावक कहे कि महाराज ! यह मेरा बच्चा बड़ा क्रोध करता है इसका क्रोध तो छुड़ा दो। इसके क्रोधका नियम करा दो। कह दे महाराजके आगे कि मैं गुस्सा न करनेका नियम लेता हूँ। तो भैया ! गुस्सा न करे ऐसा नियम उसके कहनेपर निर्भर नहीं है किन्तु जिस ज्ञानके होनेपर गुस्सा न आये, क्रोध न आये, वह ज्ञान बने तो गुस्साका त्याग होगा। कषायोंका त्याग ज्ञान-विकाशपर निर्भर है। यह विभाव कोई ऐसी मोटी चीज नहीं है कि जैसे कहदें कि तुम घड़ीका त्याग करदो, तुम सवारीका त्याग करदो। इस तरह बाहरमें त्याग करने योग्य विभाव नहीं है किन्तु ये विभाव जो परिणमते हैं, विभाव न हो ऐसी ज्ञानविकास परिणति उनके सामने आये तो विभाव खतम, पर उस विभावको किसी और उपाय-द्वारा, अन्य उपाय द्वारा समाप्त किया जा सकता हो ऐसा नहीं होगा ! ठीक है। एक दृष्टान्त देखो जैसे अंगुली मानो यह टेढ़ी है तो सीधी इसे करो ना। और ऐसा उपाय बताओ कि जिससे इस अंगुलीका टेढ़ापन मिट जाय। ऐसा उपाय बताओ, ऐसा यत्न करो कि जिससे अंगुली सीधी न करना पड़े और टेढ़ी खतम हो जाय, ऐसा कोई उपाय नहीं है। पूर्वपर्यायका व्यय और उत्तरपर्यायका उत्पाद दोनोंका एक समय है।

ज्ञानोदय व विभावविनाश—विभाव मिटानेका अर्थ है ज्ञान जगाना। ज्ञान तो जगाया नहीं, और इसका क्रोध मिट जाय, कोई अन्य ऐसा उपाय नहीं है। ये तो आत्माकी पर्यायें हैं। विभाव पर्याय होते संते विभावकी उल्टी बात नहीं रहती है। और विभावोंकी उल्टी बात होते सन्ते विभाव नहीं रहता। तो ये कषाय कैसे छूटें। जीवोंको, हम आपको परेशान कर रखा है तो कषायोंने। ये कषाय कैसे मिटें ? पतित पावन परम उत्कृष्ट यह जैन शासन प्राप्त हुआ है, जिसकी व्रतकी विधियाँ, पर्वकी विधियाँ, रोजकी दिनचर्यायें ऐसी पवित्र हैं कि गंदगीका नाम नहीं है, हिंसाका नाम नहीं, अंधेरेका नाम नहीं है।

स्वके लाभ हानिका लेखा अत्यावश्यक—भैया ! इतना उत्कृष्ट जिन शासन पाया है और अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार धर्मपालन करते हैं, मंदिर आते, धर्म साधना करते और व्रत भी करते, सब कुछ करते किन्तु कितना आत्मलाभ हुआ है, यह नहीं देख पाते। जैसे दूकानोंमें देखा करते हो कि गत महीनोंसे इन महीनोंमें इतनी उन्नति हुई है, गत वर्षसे इतना लाभ हुआ है तो दूकान बड़े उत्साहसे करते हो, एक

वृद्धिके प्रोग्रामसे करते हो। इसी तरह अपने आपमें कुछ वृद्धि पारहे हो तो उत्तम है पर कदाचित् यह अन्तर आ सकता है कि हम अपनी वृद्धि नहीं पाते हैं। क्रोध हममें उस ही तरह आता है जैसा आता था, घमंडका भी संस्कार वैसाही जमा हुआ है। किसी दूसरेका विशिष्ट आदर नहीं कर सकते, हम नम्र वचन नहीं बोल सकते। हम अपने को कोमल व्यवहारमें नहीं ढा सकते हैं। मायाचारीकी मेरी पुरिया वैसी ही पुरती जाती है और लोभ वैसा ही बढ़ा हुआ है। जैसे-जैसे धन आता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है। ये सब विपत्तियां हम आपपर ज्योंकी त्यों है। इतना जिनशासनका शरण पाया फिर भी उद्धार नहीं हुआ। शांति निराकुलता नहीं प्राप्त हुई।

विभावोंकी शिथिलताका उपाय—भैया! स्वहितके लिए कुछ भी तो संचय करना आवश्यक नहीं है, फिर भी संचयकी दृष्टि बनी रहती है। ईसाईजन कहते हैं कि चाहे सुईके छेदमें से ऊँट निकल जाय पर परिग्रहकी लिप्सामें शांति तो आ ही नहीं सकती है, कुछ परिवर्तन नहीं होता। विभाव यहाँ कुछ कम क्यों नहीं होता। तो भाई जैसे अंगुलीमें सीधा परिणमन किये बिना अन्य उपायोंसे अंगुलीका टेढ़ापन नहीं मिट सकता। इसी प्रकार आत्मस्वरूपका, वस्तुस्वरूपका उनके स्वरूपास्तित्वका यथार्थ निर्णय किये बिना हमारे विभावोंमे सिथिलता नहीं आ सकती।

विभावविनाशका भाव—हमें कुछ कठिन यत्न तो नहीं करना है आराम से अपनेही घरके भीतर बैठे हुए, ईंटोंके घरकी बात नहीं कह रहे, जहाँ जो बैठे हैं, इस हालकी बात नहीं कर रहे हैं, जिन प्रदेशोंमें आप हम बैठे हैं, स्थित हैं, फिट हैं ऐसे सुरक्षित घरमें बैठे हुए बैठेही बैठे भीतर चुपचाप कहीं बाहर दृष्टि न देकर, इस मुझसे बाहर कहाँ क्या है यह जाननेकी उत्सुकता न रखकर अपने आपके ही घरमें रहकर अपने आपको ही देखना है। इस ज्ञानसाधनाके द्वारा यहाँ ही आरामसे धैर्यसे बस देखना है अपने आपके सब निर्माण को, अपने सर्वस्वको। बुरा हो रहा है तो उसे भी देखना कि कैसे हो रहा है? कहाँसे उठ रहा है, क्यों हो रहा। अरे इसही में तो हो रहा है, यों देखने लगें तो विभावके होनेमें सिथिलता हो जायगी।

रागके सिंचनकी समाप्तिका विधान—जैसे पौधोंको हरियाते रहनेमें पानीका सिंचन कारण है, इसीतरह इन रागद्वेष विभावोंके हरियानेमें आश्रयभूत पर पदार्थोंका लक्ष्य करना है। अपनी गल्ती अपने आपमें दिखने लग जाय तो अपना कल्याण हो सकता है। जैसे कोई युवक बाहरसे आकर घरमें प्रवेश करता है और वहाँ बाल बच्चे ऊधम मचाते हों तो कैसा भड़कके साथ बोलता है, यहां क्या होरहा है? इसी तरह बाहरके भ्रमणसे हटकर अपने इस निजी घरमें प्रवेश करके इन ऊधम करनेवाले परिणामोंको झिटक करके बोल तो दो कि यह क्या हो रहा है? आखिर देखो तो सही। अहा, ऐसा देखनेसे बाहरी पदार्थोंका ख्याल ही भूल गया। अच्छा हुआ। वे इन

विभावोंके हरियानेमें सिंचनका काम करते थे, वह सिंचाई बंद हो गयी।

आत्मविकासकी धुन—भैया! देखलो, अपने आपको देखलो। इसे कहते हैं अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। इस अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे अपने आपमें उन विभावोंके उत्पादनका सारा विधान देख लिया। वे सब एक उपयोगविशेषसे होरहे हैं, और वे सब परद्रव्यके संयोगके कारण बने हैं। वे परद्रव्य क्या है? पुण्य और पाप। जैसे किसान गेहूँ पैदा करनेके लिए खेती करता है, गेहूँ बोता है, सींचता है, प्रारम्भसे लेकर अंततक उसका लक्ष्य गेहूँ है। गेहूँके उत्पादनकी धुनमें लगे हुए किसानको वे सब साधन स्वयमेव मिलते हैं, वे सब स्थितियाँ स्वयमेव मिल जाती हैं। किसानके यहाँ भूसा, पुराल, हरियाली, दूवा सब हो जाती हैं जिसे बैलोंको खिलाना है। वे बैल खेतीके काममें आते हैं आगे भी खेतीमें बढ़ सकेंगे। उस जैसी स्थितियाँ मेरी स्वयमेव प्राप्त होती हैं। वे किसान तो केवल गेहूँके उत्पादनकी धुन बनाये हैं। इस ही प्रकार कल्याणार्थी पुरुषोंको आत्मस्वभावके विकाशकी धुन बनाना चाहिए, वस्तुस्वभावरूप पदार्थकी दृष्टिका यत्न करना चाहिए। यही मौलिक कल्याणमार्ग है।

स्वभावदृष्टिका महत्त्व—स्वभावदृष्टिका यत्न बहुत उच्च यत्न है। इस यत्नके करते हुए अनेकवार गिरना बनता है. पतन होता है, उपयोग विशेषमें पड़ता रहता है, और उस उपयोगविशेषके कारण पुण्यकी विशेष रचना होती है पापकी अपेक्षा। होओ, हमारी धुन धर्मकी होओ। जैसे चींटी भींटपर चढ़ती हुई अनेकवार गिरकर भी क्या चढ़ना छोड़ती है? यह करीबकी बात कह रहे हैं। दूकानमें दो चार वर्ष घाटा आकर भी क्या यह विचार करते हैं कि अब लो हमें कुछ भी नहीं करना है, ये उद्यम तो सब घाटा ही घाटा करते हैं नुकसान ही करते हैं, द्रव्य भी गुम जाता है, सब कुछ स्थितियां होकर भी अर्थार्जनका लोभ कम नहीं होता है, बढ़ता ही है, धैर्य भी बना रहता है। इसी प्रकार हमारी कैसी भी स्थिति आए, हम गिर जाएं, कितना ही गिर जायें, उत्थानका यत्न करते ही रहें।

पतितपावनता—गिरनेके लक्ष्यसे नहीं गिरें, क्या चींटी भीटसे गिरनेके लक्ष्यसे गिर जाती है? नहीं। हम गिर जांय, कितना ही गिर जांय, आखिर लाभ उठनेमें ही होगा। बहुत कुछ गिर जानेके बाद भी ऐसा सोचना गलत होगा कि मैं तो इतना गिर चुका, अब मेरा उठनेका तो कुछ काम ही नहीं। इन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमें क्षयोपशमकी विशिष्टता प्राप्त है। ये जब उठें तो एकदम उठ सकते हैं।

पतितपवित्रताका एक दृष्टान्त—पद्म पुराणमें चर्चा है, उदयसुन्दर साला था और वज्रभानु बहनोई था। स्त्रीमें आशक्त वज्रभानुके घर उदयसुन्दर अपनी बहिन को लिवानेके लिए आया। और जब लेकर चलता है तो साथमें वज्रभानु चल देते

हैं। तीनों ही एक साथ चले जा रहे हैं। जंगलमें पहुँच गये। वहाँ पर आनन्द रसके अनुभवसे तृप्त, छके हुए एक साधु पुरुषके दर्शन किए। धन्य है वह ज्ञान। ऐसे आनन्द विभोर साधुकी मूर्तिको देखते हैं। वजभानुका ज्ञान एकदम जग गया। जो अधिक मोही हो गया था, आशक्त हो गया था, ऐसा उपयोग अपनी बुरी स्थितिसे ऊब कर जल्दी उठ जाया करता है। उसके सब विकल्प दूर हो गये।

वज्रभानुका बोध—वस्तुके स्वरूपका भान हो गया, निजका व परका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा जचने लगा, सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, सबका मेरेमें अभाव है, एक दूसरेका परस्परमें कुछ भी लेना देना नहीं। यहाँ मैं कैसे मूर्ख बन चुका था, सब विकल्प हट गया, प्रीतिरस सूख गया, आनन्दरस उमड़ने लगा। प्रोग्राम था साथ-साथ ससुरालतक जानेका, वह प्रोग्राम सब समाप्त हो गया। जहाँ जिसके दर्शनमें आनन्द रस मिला हो उसके दर्शन करते-करते वह जीव नहीं छकता है। टकटकी लगाकर उस साधुमुद्राको देखने लगा। जैसे मानो उस साधुके देहके रग-रगसे आनन्द बरस रहा हो।

सुलझकी सहूलियत—साला दिल्लगी करता है क्या तुम मुनि बनना चाहते हो? बुरी वासनाओंके बीच रहनेके कारण दोस्तीमें जो बँधन था इसके संकोचमें वह सोच रहा था कि कैसे दोनोंसे पिंड छुटाऊं। प्रथम मैं क्या वचन बोलूँ वज्‌भानु सालेसे बोले कि अगरमें साधु बन गया तो क्या तुम भी बन जाओगे? उदयसुन्दरको विश्वास न था कि वज्‌भानु भी साधु बन जायगा। वह बोला हाँ बन जाऊँगा। अब क्या गजब हो गया, निर्द्वन्द्व हो गये। इतनी विचित्रता देखकर उस सालेका हृदय भी परिवर्तित होगया। वह भी साधु हो गया। दो साधुओंकी ज्ञानवृत्ति देखकर उस स्त्रीका हृदय भी परिवर्तित हो गया। वह भी आर्या हो गयी। कहीं भी हों हमें दृष्टि उच्च रखनी चाहिए जिसके प्रतापसे हमारा उद्धार हो, कषायमें फर्क पड़े। क्रोध कम करो, मायाचार न करो, लोभकी वृत्ति छोड़ो। यदि कषायोंमें अन्तर पड़े तो परमपवित्र, सर्वोत्कृष्ट जिन शासनके पानेका कुछ लाभ है, अन्यथा नहीं।

कर्मबन्धका कारण सोपराग उपयोग—इस जीवके साथ कर्म परद्रव्य कैसे लग गये हैं? इसका वर्णन चल रहा है। परद्रव्यसे मतलब है कर्मका। कार्माण वर्गणायें दो प्रकार की हैं (१) पुण्य रूप (२) पापरूप। सो दोनों प्रकारके कर्मोंके संयोग का कारणपना उस उपयोगमें है जो उपयोग उपराग सहित है। यह उपराग जीवकी अशुद्धता है। इस अशुद्धताका जब अभाव होता है तो उपयोग शुद्ध ही रहता है, जब उपयोग शुद्ध ही रहता है। तो पर द्रव्योंके संयोगका वह कारण नहीं बनता।

परमार्थमें सामान्यका महत्त्व—भैया! लोकमें तो महत्त्व दिया जाता है विशेष को, जो विशेष धनी है, विशेष पण्डित है, नेता है, और कोई विशेष-विशेष काम हैं उनका महत्त्व है। और, जो सामान्य हैं, साधारण हैं ऐसे मनुष्य हों या कोई क्रियायें

हों तो उनका महत्त्व नहीं है। पर आत्मकल्याणके पथमें जो साधारण है, सामान्य है उसका तो महत्त्व है और जो विशेष हैं उनका महत्त्व नहीं है। यहीं देखलो-उपयोग सामान्य निरुपयोग माना गया है, पूज्य माना गया है, और उपयोगविशेष अर्थात् सोपराग उपयोग, संयोग संसारका कारण माना गया है। जीव एक स्वरूप हैं, फिर भी जो विशेष होनेके लिए, विशेष बननेके लिए, अपनेको विशिष्ट जाहिर करनेके लिए भीतरसे उत्सुक होते हैं, विशेष बनना चाहते हैं उनकी वे सब मलिनताएँ हैं। और कोई ज्ञानी विकल्पोंसे, विशेषोंसे हटकर ज्ञाता द्रष्टामात्र रहनेका यत्न करता है, सब कुछ वे भूले शान्त हो जायें यों अपनेको एक शुद्ध जाननमात्रकी स्थितिमें रखना चाहता है, तो उस ज्ञानीके कर्मोंका विशेष सम्वर और निर्जरण होता है, सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है और उसके लिए उसका सारा हित हो जाता है।

पर जीवोंकी अनन्तता—भैया! दुनिया जाने या न जाने, अन्यसे इसके हितका रंच भी सम्बन्ध नहीं है। जगतमें अनन्ते जीव हैं, इतने अनन्तानन्त जीव हैं जिनकी गणना तो हो ही नहीं सकती किन्तु अन्त भी कभी नहीं आ सकता। एक सुईकी नोकपर जितना कंदका हिस्सा आ सकता है, आलू हो या और कुछ हो उतने टुकड़ेमें जो निगोद शरीर है उस शरीरमें अनन्ते जीव स्थित हैं, यह तो आधारसहित निगोदियों की बात कही, किन्तु जो निराधार है, पर वनस्पतियोंका आश्रय नहीं है ऐसे सूक्ष्म जीव तो ३४३ घनराजू प्रमाण क्षेत्रमें प्रत्येक जगह ठसाठस भरे हुए हैं। और कीड़े मकोड़े इनकी भी गिनती करना कठिन है इतने अनन्ते जीवोंमें से एक जीव आप हैं, जीव हम हैं। यहां जैसे अनन्ते जीवोंका दुनियांकी दृष्टिमें कुछ अस्तित्व नहीं है, एक है तो भी कोई किसीका नाम नहीं लेता है। वैसे ही जीव तो उनमेंसे हम आप हैं।

व्यर्थकी उछल कूद—कौन किसकी प्रशंसाका व्यवहार करता है यहां तो हम आप जीवोंने जो कुछ पुण्यका उदय पाया, कुछ सोचने समझनेकी शक्ति पायी तो आपेसे बाहर होकर बाहर ही यह सब कुछ ज्ञात किया करते हैं। है क्या? यह सब विश्रान्त हो जायगा। तो इस स्थितिमें भी क्या अहंकार करें। इस अहंभावको समाप्त करके एक साधारण सामान्यरूप रह जांय ऐसी इसकी दृष्टि बने तो यह इसके लिए हितकर है। पर हम अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर उछल कूद जो मचाते हैं वह सब हमारे लिए अहितकर है।

उपरागकी व्यर्थता—यह उपराग व्यर्थका परभाव है। कितने जीवोंको आप अपना जलवा दिखा सकेंगे। जीव तो अनन्त है। हजार दो हजार मायास्थित पुरुषोंको आपने दिखा दिया, दिखा तो नहीं सकता, यों कहिए कि आपके बारेमें हजार दो हजार पुरुषोंने अपना कोई विकल्प बना लिया तो उन पुरुषोंके विकल्प बना लेनेसे आपमें क्या उन्नति हुई। शान तो तब है जब आपकी बात सभी जीव समझ

जायें कि ये सबसे बड़े ऊंचे पुरुष हैं। और, अगर सभी जीव न समझ सकें तो थोड़े से जीवोंके समझके लिए लोभ क्यों करते ? वीरता तो तब है, शान तो तब है जब तुम्हारी बातें सब मान जायें, तुम्हें सब जीव मान जायें। सब समय मान जायें, सब जगह मान जायें तब तो उसका कुछ यत्न करो, मगर ऐसा हो कहां सकता है ?

कीर्तिकी अस्थिरता—भैया किसीकी इज्जत सदा काल रह सकती है क्या ? जो तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी हो गये हैं उनका नाम लेने वाले आज कितने हैं ? जैन लोगोंमें से भी किन्हींको कितनोंको तो भूतकालके जो चौबीस तीर्थंकर हैं उनका भी नाम न मालूम होगा। स्मरण करेंगे तो भी कितनोंको नाम न पता होगा तो बड़े-बड़े पुरुषोंका यश भी सदाकाल तक नहीं रहता और यहांके लोगोंने यदि बहुत ही ऊँचा काम कर लिया उपकारका, तो चलो १००-५० वर्ष तक यश चल जायगा। परन्तु ये सब बेकारकी बातें हैं। ये सब उपराग हैं, इनमें तो अपनी बर्बादी ही करना है।

रागसे बरबादीका उदाहरण—जैसे छेवलेके पेड़में लगा हुआ लाख उस पेड़को ठूंठ बना देता है, सूखा कर देता है इसी प्रकार अपनी भूमिकामें लगे हुए उपरागोंकी लाख मानों सुखा रही है, बर्बाद कर रही है, विह्वल कर रही है और हम कुछ भी लायक न रह सके, अपनी दुर्गतिके कारण बन रहे हैं। कभी कुछ ज्ञान जागता है तो यह कहा जाता है कि धन वैभव मेरा नहीं है और कभी झुंझलाकर घरमें आदमियोंसे परेशान होकर कह टालते हैं कि कोई मेरा भैया नहीं, कोई मेरी बहिन नहीं, कोई मेरी लड़की नहीं, कोई मेरा बेटा नहीं, सब गर्जी हैं, जाओ, हट जाओ, किसीसे हमारा मतलब नहीं है। किन्तु, श्रद्धा ऐसी होजाय तो भला होगा।

विभावोंकी ताड़ना—अब कुछ ऐसा विवेक बने, झुंझलाहट अपने उपरागोंपर पड़े कि रागद्वेष मोह विकल्पोंका चङ्क्रमण न हो सके। ये रागदिक विकल्प मेरेमें होते ही नहीं, ये मेरे स्वभावमें नहीं होते, मेरे सहज सत्त्वके कारण नहीं होते, सब विकल्प तो मुझे बर्बाद करनेके लिए होते हैं। ऐ विकल्पो। जाओ, हट जाओ, मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरी लगन तो उस सहज ज्ञायक स्वभावमय परम पवित्र परमात्मतत्वकी ओर है, विभावो! जाओ हट जाओ। ऐसी झुंझलाहट अपने घरमें आवे अथवा आक्रान्ताओंपर की जाय तो एक अभूतपूर्व नई दिशा मिले और नये आनन्दके पात्र बन जायें।

विभावोंकी चोटें—हमारा दुश्मन हमारा उपराग है, विभाव है, दूसरा कोई नहीं है, यह बात बिल्कुल निर्णयकी है तो जिस तरह हमारा रागद्वेष विषयकषाय घटे, वह यत्न किया जाय, तो समझो कि हमने बड़प्पनका काम किया, रागके काममें कुछ भी बड़प्पन नहीं है, बच्चोंको देख कर गोदमें बैठाल कर परिवारके बीचमें उनके स्वामित्वके भाव सहित मौज मान कर जो बड़प्पन अनुभव किया जाता हो, सब

कुछ मुझे मिल गया ऐसा संतोष अगर किया जाता हो तो इस संतोषकी चोट इतनी कड़ी लगेगी जैसे कोई बड़े ऊँचे शिखरसे गिर कर चोट पाता है। उस चोटको तो कह ही नहीं सकते जो इंद्रियसुखमें संतोष पानेवाले लोग सहते हैं। इन्द्रियसुखोंकी धुनिमें इतनी तीव्र आकुलता है और इतनी विचित्र घटनाएँ हुआ करती है कि जिसके कारण ये जीव अति संक्लिष्ट होते हैं। संक्लेशोंके फलमें संसारपरिभ्रमण होता है।

इन्द्रियसुखका परिणाम क्लेश—इन्द्रिय सुख क्या स्वाधीन है ? स्वाधीन नहीं है, ये तो कर्मोंके आधीन हैं। और आश्रयकी दृष्टिसे देखो तो अनेक भोगसाधनोंके आधीन हैं। कितनी ही चीजें जुटाओ और ये इन्द्रियां समर्थ हों और साथमें पुण्यका विपाक हो तो कुछ समयके लिए थोड़ा काल्पनिक सुख प्रतीत होता है, मगर उन साधनोंके जुटानेके पहले भी क्लेशके साधन जितने समयको जुटे रहते हैं उस समयमें भी, क्लेश भोगते समयमें भी क्लेश और जब उनको भोग चुकते हैं तो अंतमें भी क्लेश। इन्द्रियसुखोंकी धुनमें शुरुसे लेकर अंत तक क्लेश ही क्लेश मिलते हैं। इसलिए हे कल्याणार्थी जनो। स्वयं अपनी दृष्टि बदलो, इन्द्रियसुखको अहित जानकर इन्द्रिय सुखको शत्रु जानकर उसकी उपेक्षा करो। आत्मीय सहज विश्रामसे संतोष मानो। थोड़ी देरको प्राप्त हुए इस इन्द्रियसुखोंसे क्या तृप्त हो सकेंगे ? यद्यपि खाये बिना नहीं चलता और अन्य-अन्य भी यथासम्भव विषय बिना नहीं चलता तो उसके यथार्थ ज्ञाता तो रहो, तत्त्वकौतूहली तो बनो।

भोगका विकट नाच--यह खाया जारहा है, यह कैसा स्वाद आरहा है, यह कैसा नाच हो रहा है, भोजनका स्वाद तो मेरी आत्मामें जाता नहीं क्योंकि भोजन का रस भोजनमें है फिर भी प्रसंगमें स्वाद तो आरहा है। यह कैसा विकट नृत्य है। भैया ! तत्त्वकौतूहली बनो, आसक्त होकर किसी वैभव या इन्द्रिय विषयोंमें न पड़ जाओ। यह बहुत बड़ा खतरा है। सर्पने डस लिया तो एक भवमें मरण है, मगर विषय कषायोंकी जो रुचि हो रही है इससे भव-भवके चेतन प्राणोंके घातरूप मरण है, आनन्दकी होली है। सो मूर्खता तो यही है कि दिलने जो हुक्म दिया, इन्द्रियोंने जो हुक्म दिया उसमें ही बह गये। विवेक तो यह है कि अपने उपयोगसे अपनेमें ही रहकर इन सब विडम्बनाओंके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रह जाओ।

उपरक्तिका कारण भ्रम—ये उपराग जिनके कारण उपयोग विशेष बना और जिस कारण परद्रव्योंका संयोग हुआ और जिन संयोगोंके कारण नर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आदि नाना विचित्र पर्यायोंकी सृष्टि हुई इन सबका मूल कारण निकला केवल भ्रम। केवल भ्रमकी नीवपर संसारका महल टिका है। संसारके महलों की नीव भ्रम है। भ्रम समाप्त हो तो यह सब कुसृष्टि भी समाप्त हो जाय। तो जब इन दोनों प्रकारके अशुद्ध पर्यायोंका अभाव हो जाता है तो उपयोग शुद्ध भी रह जाता

है। फिर उस उपयोगसामान्यमें यह सामर्थ्य नहीं रहती कि नाना संसारोंकी सृष्टि कर सके।

अब उस अशुद्ध उपयोगके दो भेदोंमें से शुभोपयोगके स्वरूपको कहते हैं।

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ १५७ ॥

जो उपयोग महा देवाधिदेव परमेश्वर अरहंत परमेष्ठी और सिद्ध परमेष्ठी के विनयमें लगा हुआ है जो उपयोग सकलसन्यासी आत्मरसिक गुरुवोंकी सेवामें लगा है, जो उपयोग जीवोंकी अनुकम्पामें प्रवृत्त है वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है। यहाँ इन सब उपयोगोंकी व्याख्यामें तीन प्रकारकी स्थितियाँ बतायीं, देव भक्ति, गुरूपास्ति और परोपकार। अन्य सब शुभोपयोगोंको इनमें गर्भित कर लेना।

शुभोपयोगकी उत्पत्तिपद्धति—यह शुभोपयोग कैसे उत्पन्न हुआ करता है, इसमें मुख्य साधन है दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका विशिष्ट क्षयोपशम। जब तक श्रद्धान निर्मल न हो और कषाय मंद न हो तबतक शुभोपयोग सही मायनेमे जग नहीं सकता। जिसको मोक्षमार्गमें परम्परया सहायक कह सकें ऐसा शुभोपयोग दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमपर निर्भर है। जिस जिस प्रकार की विधिसे क्षयोपशम दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय पुद्गल कर्मोंमें है उस उस प्रकारसे शुभोपयोगका परिग्रहण होता है। यह शुभोपयोग, वीतरागता और सरागता के बीचकी बात है। जो पूरा वीतराग है उसका भी शुभोपयोग नहीं है और जो पूरा सराग है उसका भी शुभोपयोग नहीं है किन्तु विभ्रमके उत्पादक राग जिनके न हो और कुछ विशिष्ट उपराग हो तो ऐसी स्थितिमें शुभोपयोग होता है।

परमेश्वरभक्ति प्रथम शुभोपयोग—इस शुभोपयोगके विवरणमें सबसे पहिली बात कही है परमेश्वरकी श्रद्धा। सभी जीव किसी एकको बड़ा मानकर उसकी श्रद्धा में अपनी जीवनयात्रा किया करता है। पर कोई अपने पिताको अपना ही सर्व मानकर उसकी छायामें अपना जीवन चलाता है तो कोई स्त्रीको ही अपना सर्वस्व मानकर उसकी छायामें, छायाका अर्थ धुनमें लगनमें, ही अपना जीवन चलाता है तो कोई धन वैभवको ही अपना बड़ा सर्वस्व मान कर उसकी धुनमें ही अपना जीवन व्यतीत करता है, तो कोई ज्ञानी पुरुष परम पवित्र निर्विकल्प सहज विभूषित ज्ञान विकास वाला परमेश्वरके स्वरूपको ही बड़ा मान कर उसकी छायामें ही अपनी जीवन यात्रा चलाता है। शुद्ध स्वरूपकी ओर जो श्रद्धाकी प्रवृत्ति है, भक्ति पूजाकी प्रवृत्ति है वह तो है शुभोपयोग और पुत्र मित्र कुटुम्ब धन वैभव इसकी श्रद्धामें जो प्रवृत्ति है वह है अशुभोपयोग।

गुरुसेवा द्वितीय शुभोपयोग—इसी प्रकार गुरुकी उपासनाकी बात लो। जिनके

प्रति अपना विश्वास है कि ये संसारके समस्त परद्रव्योंको असार मान कर अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें यत्न रखा करते हैं। ये विरक्त और ज्ञानी संतपुरुष हैं, ऐसे गुरुजनोंकी, अथवा श्रावकजनोंकी, सम्यग्दृष्टि पुरुष की उपासनामें सत्संगमें उनके कष्टोंके निवारणमें जिसकी रुचि है प्रवृत्ति है वह भी शुभोपयोग है। जिनसे अपने विषय कषायोंकी पुष्टि होती है ऐसे कुटुम्ब मित्र, वैभव पदार्थोंके संचयमें उन्नतिकी जिसकी प्रवृति है वह अशुभोपयोगी है।

परोपकार तृतीय शुभोपयोग—तीसरी बात है परोपकारकी। समस्त जीवोंके प्रति अनुकम्पाका भाव रखना, अनुकम्पाका आचरण करना शुभोपयोग है। यहां कोई कहे कि उपकार करना शुभोपयोग है ना ? तो हम बहुतसे जीवोंका उपकार नहीं कर पाते तोलो इन दो चार आदमियोंका तो उपकार करते हैं, दो लड़के, एकलड़की, एक पोत और जो ५-७ हैं इनका तो उपकार करते सो यह थोड़ासा शुभोपयोग लग जायगा। सो भैया ! ऐसा नहीं है। वहां तो शुभोपयोग थोड़ा भी नहीं लगेगा। इस प्रकारकी यदि बुद्धि है कि जो बुद्धि सब जीवोंके प्रति समान भावोंको बना सके तो वास्तवमें वह उपकारी है और छटनी करके जिनमें राग है जिनसे विषय कषायोंमें पोषण मिलता है उनका उपकार करना, उनका कष्ट निवारण करना है यह तो उपकारमें सामिल नहीं है, यह तो अपने विषयपोषणमें सामिल है। तो ये तीन प्रकारके शुभोपयोगोंका वर्णन चल रहा है। शुभोपयोग इन तीनों कृतियोंमें निहित है, (१) परमेश्वरश्रद्धान, (२) गुरुसेवा (३) परोपकार। इस शुभोपयोगका फल है सातारूप समागम मिलना। इस वातावरणमें ज्ञान लाभका एक अवसर है सो ज्ञान लाभ करके अपने श्रमको सफल करो।

विजयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्त दुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ १५८ ॥

सराग जीवोंमें देवत्वकी श्रद्धा अशुभोपयोग—जो उपयोग वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य जीवोंमें जो कि सराग हैं, मोही हैं उनमें देवपनेका श्रद्धान करनेकी प्रवृत्ति है वह उपयोग अशुभोपयोग है। देवाधिदेव परमेश्वरका शुद्धस्वरूप जिस उपयोगमें नहीं है, जो उपयोग मोह अंधकारमें ग्रस्त है जो भी एश्वर्ययुक्त या चमत्कारसम्पन्न कोई जीव वर्तमानमें मिला अथवा जिसके भूतकालके चरित्रको सुना, ऐसे जीवमें देवपनेका जो आशय हो वह उपयोग अशुभोपयोग कहलाता है, क्योंकि उस जीवको संसारमें रुचि है। सांसारिक क्रिया करते हुए किसीको देव मानना इसका निष्कर्ष यह है कि उसे सांसारिक बातोंमें रुचि है, उन्मार्गकी उसको श्रद्धा है।

आरम्भी परिग्रही गुरुओंकी श्रद्धा अशुभोपयोग—इसी प्रकार गुरुओंके सम्बन्ध में भी जो विषयोंके वशीभूत है, नाना आरम्भ परिग्रहमें लिप्त हैं, गोधन, वाजिधन,

हस्तिधन, नानाप्रकारके धनको रखते हैं, फिर भी ऐसे आरम्भ परिग्रह विषयोंके वश रहनेवाले और ज्ञान, ध्यान तपस्यासे दूर जिनका काम है, गपसप अथवा हर एक प्रकारके आराममें रहने, खाने पीनेके वास्ते भगवानके नामपर अफीम गांजा आदि लिए फूंकना आदि तकको भी प्रवृत्ति जिनकी हो जाती है, उनमें फिर भी गुरुपनेका श्रद्धान हो जाता है तो यह अशुभोपयोग है अथवा अपने बच्चोंको खुश रखनेके मत्र तंत्र आदि रखनेका भाव रखना और जिस चाहे को अपने गुरु रूपसे मान करके उससे आशा रखना, यह सब अशुभोपयोगमें सामिल है।

अशुभोपयोगका हेतु—अशुभोपयोग क्यों होते हैं ? एक विशेष प्रकारके उदय में आने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय और ज्ञानावरणादिक इन कर्मोंके विपाक होते हैं तब उनके अनुकूल इस जीवमें अशुभोपयोग हो जाते हैं, अशुभरागकी वासना हो जाती है जिसके कारण महादेवाधिदेव वीतरागसर्वज्ञको छोड़ कर अन्य सराग जीवोंमें देवत्वकी श्रद्धा हो जाती है, और और भी अनेक कुमार्गोंकी श्रद्धा हो जाती है। जिससे मोक्षमार्ग नहीं मिलता है, शांतिका रास्ता उसको नहीं दिखता। सो उन्मार्गकी श्रद्धामें जो प्रवृत्ति है वह उपयोग अशुभोपयोग है।

विषयोंकी सेवा अशुभोपयोग—इसी प्रकार विषयोंमें विषयोंकी सेवामें जो उपयोग लगा है वह अशुभोपयोग है। विषय कहते हैं, इन्द्रियोंके जो ५ विषय है, स्वाद लेना, कोमल आदिक सुहावने स्पर्शका स्पर्श करना, सुगंधि देने वाले इत्र इत्यादिका सूंघना, सुरम्य चीजोंका अवलोकन करना, रागभरे शब्दोंका सुनना ये सब विषयोंकी सेवा कहलाती है और विषयोंकी सेवा अशुभोपयोग कहलाता है। इन्द्रियों द्वारा कोई चीज ज्ञात हो गई इतने भागको इन्द्रियभोग नहीं कहा है, किन्तु रागभावसे इन विषयोंमें पतित हों, यही विषयोंकी उपासना है और यही अशुभोपयोग है।

विषयप्रवृत्तिके हेतु—भैया ! यह विषयप्रवृत्ति क्यों हो जाती है उसके अंतरंग कारण तो है दर्शनमोहका उदय, चारित्रमोहका उदय, और ज्ञानावरण कर्म का उदय। इन तीन साधनोंको पाकर विषयोंमे प्रवृत्ति होती है, आसक्ति होती है। पर विषयोंके होनेका एक यह भी अवांछनीय उपाय बन गया कि विषयोंकी प्रवृत्तिके साधन हैं इन्द्रिय, और इन्द्रियोंके द्वारा ही हमें ज्ञान हो पाता है। ऐसी है छद्मस्थ अवस्था। तो इन इन्द्रियोंमें मोह अधिक है और इन इन्द्रियोंके मोहके कारण यह भावना भी जागृत हो जाती है। इन इन्द्रियोंकी पुष्टि रखी और जिन विषयोंको ये इन्द्रियां चाहती हैं, सो उन सब विषयोंको इसने जुटाकर प्रसन्न रखना चाहा और इन्द्रिय ज्ञानको बढ़ा बढ़ा कर यह जीव आशक्तिमें गिर गया ऐसी विषयोंकी जो सेवा है वह मौलिक अशुभोपयोग है।

कषायप्रवृत्ति अशुभोपयोग—इसी प्रकार कषायप्रवृत्ति अशुभोपयोग है, क्रोध

मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। इनमें तीव्र क्रोध वह है जो धर्मके प्रसंगमें धर्म के नाते, धर्मके नामपर भी क्रोध आवे। विपर्यच्छा है और व्यवहारकी किन्हीं बातोंसे लोभ कषायके वस होकर स्वादपूर्ति नहीं होती ऐसी अनेक स्थितियोंमें जो क्रोध आता है वह भी तीव्र क्रोध है। क्रोध कितने ही साधु पुरुषोंके भी आता है पर उनका क्रोध किसी पुरुषके भला करनेके भावके आधारपर आजाया करता है किसीका बुरा करने के लिए या अपनी स्वार्थपूर्ति करनेके लिए साधुओंको क्रोध नहीं आता सो उनके क्रोधको संज्वलन क्रोध कहते हैं याने वह संयमके साथभी रह सकने वाला क्रोध है। पर जिनके मूलमें स्वार्थवासना है, विषयपूर्तिके अथवा अहंकारका भाव है। दूसरोंको धर्मात्मा बतानेका परिणाम है, ऐसे प्रसंगोंमें क्रोध आता रहता है वह सब क्रोध अशुभोपयोग है।

मान कषायकी वृत्ति—मान, घमंड तो स्पष्ट ही चीज है। दूसरोंको तुच्छ समझना अपनेको कुछ उच्च समझना सो मान है। भैया! ऐसी समझके बिना मान होना कठिन है। और यही समझ स्वरूपका घात करने वाली है, मिथ्यात्वमें ले जाने वाली है, स्वरूपको देखो तो जो जीव हैं वे सब एक समान हैं। कदाचित् हम जो किसी दृष्टिमें कुछ पर्यायोंमें बड़े हो गये तो इस बड़ेका कुछ रजिस्ट्रेशन नहीं हुआ है। इसी जीवनमें जिन्हें हम छोटा समझते हैं वे ही हमसे बड़े बन जायें। आयुका तो ऐसा निर्णय होता है कि उसमें कोई सिफारिस या उद्योग नहीं चलता है। जैसे इस जीवनमें कितनी ही बातोंको छुपाकर मान अपना रखाजा सकता है पर मरणके बाद छिपनेका कोई प्रसंग नहीं। सीधा जैसी गति बँधी, जैसी आयु बँधी उसके अनुसार परिणमन हो जाया करता है। भैया, मान भी किस बातका है। धनका मान? धन तो पर द्रव्य है, आगया है, उससे क्या सम्बन्ध है, आज है कल नहीं रहता है। और किसका मान है, सभी बातें अन्य हैं, नष्ट हो जाने वाली चीजें है। उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं हैं। अहंकारका जो परिणाम है वह अशुभोपयोगका परिणाम है।

मायाका दुष्परिणाम—अहो! इस मायाचारको तो शल्यमें सामिल कर रखा है। क्रोधको शल्य नहीं कहा, मानको नहीं कहा और लोभमें तो कुछ-कुछ निदान आ गया पर मायाको एकदम शल्य कहा। जब तक माया रहती है, कपट रहता है तब तक धर्मकी पालना नहीं रहती है, माया भी अशुभोपयोग है। लोक व्यवहारमें भी देखो मायामें कितनी परेशानी होती है। मायाचारका भेद कुछ-कुछ मालूम पड़ ही जाता है, जब भेद मालूम पड़ जाता है तब उसकी इज्जत नहीं रहती और ऐसी स्थिति आने पर उसे और भी अधिक दुःखी होना पड़ता है।

मायाके दुष्परिणामका एक दृष्टान्त—एक कथानक है कि एक राजा साहब थे। एकबार बगीचेमें एक मिट्टीमें पड़ा हुआ सेब मिला। तो सेबको उठाया और उस

सेवको रूमालसे मिट्टी पोंछकर साफकर खा लिया । खाते समय इधर-उधर देखते जाते कि कोई देख तो नहीं रहा है, क्योंकि राजाओंका भोजन तो थाल सजा करके होता है, लोग प्रार्थना करते हैं, तब खाते हैं। यद्यपि राजाका ही वह बगीचा है मगर सेवका उठाना राजाके लिए चोरीमें सामिल हो गया । अब राजा दरबारमें पहुँचे, नृत्य करने वाली गाना गा रही थी । कई गीत नर्तकीने गाये, पर राजापर कोई असर नहीं हुआ । एक गीत नर्तकीने और गाया, "कह दूँगी ललनकी बतियां" । राजाने सोचा कि इस नर्तकीने शायद बगीचेमें हमें देख लिया है । नर्तकीका यह गीत सुनकर एक आभूषण इनाममें दे दिया । १०-५ बार नर्तकीने वही गीत गाया । राजा जो कुछ पहिने था सब कुछ उतार कर दे दिया । नर्तकीने फिर गाया । तब राजाने कहा कि जा, यही तो कहेगी कि राजाने गोबरभरा सेब झाड़ कर खा लिया था । राजाने अपने आपही अपने मायाचारी व तुच्छताकी बात खोलदी ।

मायाचारमें धर्मकी अपात्रता—माया एक विकट शल्य है । जैसे कि जापकी माला वाला काँचका दाना होता है ना, उन काँचकी गुरियोंमें कुछमें टेढ़े छेद होते हैं, उन टेढ़े छेदोंमें सूत नहीं पिरोया जा सकता है उसी प्रकार यदि हृदयमें कुटिलता विराजमान है तो वहाँ धर्म नहीं रहता है । मायावी पुरुषके हृदयमें धर्म नहीं प्रवेश कर सकता । माया भी अशुभोपयोग है ।

अन्य अनेक अशुभोपयोग—रागभरी बातें सुननेमें, निन्दा सुननेमें, उपयोग लगना, बुरी चिन्ता करना, दुष्ट गोष्ठियोंमें उपयोग लगाना, उग्रता करना आदि सब अशुभोपयोग है । साधु संतोंकी तो वृत्ति ज्ञान ध्यान तपमें इतनी लगी होती है कि उनको इतनी भी फुर्सत नहीं है कि अच्छी तरह बैठकर खाना तो खालें । भक्ति विधि सहित मिल सका तो खड़े-खड़े खा लिया और झट चल दिया ज्ञान ध्यान तपस्यामें इतनी वृत्ति रहती है कि उनको इतनी छोटी बातोंके सुननेकी फुरसत ही नहीं रहती है । निन्दाकी बात सुनना अथवा रागभावकी बात सुनना, यहाँ वहाँ की गप्प सप्पके समाचार सुनना, इसमें ही गति होना यह सब अशुभोपयोग है । और खोंटे अभिप्राय रखना, दुष्टोंकी सेवा करना, उग्रताका आचरण करना यह सब अशुभोपयोग कहलाता है ।

गृहस्थकी दो मुख्य कला—गृहस्थावस्थामें भी यदि कोई पुरुष केवल दो बातों का ही ध्यान उद्देश्यमें रखे जिसे कहते भी हैं कि "कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार, एक जीवकी जीविका दूजा जीव उद्धार" । एकतो अपनी जीविका चलना और दूसरे अपने धर्मका उद्धार होना, धर्म धारण करना । दो काम ऐसे हैं कि गृहस्थीमें करने योग्य है । जो यहाँ वहाँकी निन्दाई, बुराई, आदि न सुने तो इसमें क्या बिगड़ता है ? धन घटता है या धर्म घटता है ! क्या उसमें रुचि करनेका कोई प्रयोजन है ।

भैया उक्त दो बातें इस लोकमें अपनी सहायक हैं. कोई अन्य किसी चीजकी प्रवृत्ति में न पड़े, तो उसका ज्ञान वहींपर भी बड़े आदर्श धर्मको पालता है। इतनी बात अगर आ जायें तो जैसे लोग कहते हैं कि भाई स्वाध्यायके लिए समय ज्यादा कहाँ से लायें अथवा सत्संग ज्ञानगोष्ठीके लिए समय कहाँसे लायें । इस सबका समाधान स्वयं मिल जायगा।

नियमिततासे समयकी बचत—अरे भैया ! समय बहुत है। एक जीविकाका साधन जितना है उतना भर काम करके देख लो। उसके अतिरिक्त कितना समय पड़ा है वह समय आपका फालतू है कि नहीं ? जो उस समयको भी गप्प सप्प तथा और और बातोंमें लगाया करते हैं तो उसके कारण उन्हें ऐसा लगता है कि मुझको समय ही नहीं है। जिनकी नियत आजीविका है वे २४ घंटेकी अपनी दिनचर्या बनाकर रखें, यह करना है, फिर यह करना है, इतने समय सर्विस या धनोपार्जन करना है, या दूकान करना है, ऐसी दिनचर्या बनाकर उसके अनुसार अगर चलें तो देखो कितना समय मिलता है। दिनचर्या बनाते समय कोई ऐसा प्रोग्राम नहीं बनाता कि हमें इतना समय गप्पोंमें लगाना है, इतना समय व्यर्थके कामोंमें लगाना है। ऐसी दिन चर्या कोई नहीं बनाता है। कोई दिनचर्या बनाकर उसके अनुसार चलनेका संकल्प करके देखे तो ऐसी स्थितिमें गप्प सप्पमें समय ज्यादा नहीं जाता है।

दिनचर्या बनाना व उसके अनुसार चलना—कोई ऐसा उपाय करके देख सकता है अपने घरमें दिनचर्या बनाये और उसके अनुसार चलनेका यत्न करे। कोई आवश्यक काम पड़ गया तो कुछ परिवर्तन भी कर सकते हो। तो अपना कार्यक्रम बनाकर उसके अनुसार चलो तो देखो समय मिलता है कि नहीं। भाई ! आत्मपोषणके काममें समय नहीं मिलता और बेकारके कामोंमें अथवा एक जीवनके साधनभूत अंगकी चिन्ताके लिए चाहे सारा समय लगादें।

परमार्थ कार्य जीव उद्धार—वस्तुतः देखो, तो जो जीविकामें समय लगा वह भी परमार्थतः बेकार है। जब इसकी शक्ति इतनी नहीं जगती कि सकलसन्यास करके केवल आत्माका ध्यान करे तब गृहस्थ धर्ममें रहकर यथासंभव आत्मरक्षा की जाती है लेकिन फिर भी प्रधानता तो जीव उद्धारको देना चाहिए गृहस्थजनोंको भी। यह उद्देश्य अगर बन गया तो देखलो आपको समय ही समय धर्मके लिए मिल सकता है। अपने पोषणके लिए कुछ अध्ययन करो, कुछ स्वाध्याय करो। धर्मगोष्ठी बनाकर धर्म चर्चाकी बात रखो। ऐसे प्रोग्राममें समय अगर बीते तो यह मनुष्य जन्म सफल है। खोटी बातें सुननेमें अगर समय बीता तो न ये लोग रहेंगे और न यह समागम रहेगा। सब बिखर जावेंगे और सब अपने-अपने भावोंके अनुसार अपने-अपने बंधके अनुसार चले जायेंगे। अपन भी चले जायेंगे कहाँ जायेंगे कुछ पता नहीं है लेकिन वहाँ सब बातें

अकेलेपर ही वीतेगी। कोई दूसरा सहायक नहीं होगा।

गई सो गई अब रहीको राख—भैया ! जो समय गुजर गया उसका खेद क्या करें। वह तो गुजर ही गया, मगर जितने दिन जितने वर्ष जितनी जिन्दगीका अनुमान वताया है, आगे|तो इसका पता नहीं कि कव क्या हो जाय फिरभी अनुमानके आधार पर जो क्षण वकाया है उसमें तो अपनी उन्नतिका काम कर लिया जाय। वह उन्नति यह है कि अपनी ज्ञानस्थिति वनाते हुए प्रत्येक वस्तुको अपने आपमें जैसा स्वरूप वह रखता है, जितना पदार्थ है उतना ही उसे देखो तभी इस निज आस्तिकायका वल वढ़ेगा। अस्तिकायके रूपमें ऐसे पदार्थोंके विमरणसे, अस्तिकायके रूपसे सत्त्वोंके सोचनेसे वस्तु के स्वरूपकी स्वतंत्रताका जल्दी भान होता है।

स्वरूपचतुष्टय—भैया ! पदार्थोंके समझनेकी निगाह चार हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव। ये सभीके सभी वस्तुकी स्वतंत्रताका प्रदर्शन करते हैं। तो इन चारोंकी दृष्टिमें पदार्थोंको देखते हैं तो हमें भिन्न-भिन्न पद्धतियोंमें पदार्थ नजर आते हैं।

जीव पदार्थ—जैसे द्रव्यदृष्टिसे इस जीवको देखें तो यह जीव पदार्थ कहलाता है गुण पर्याय वान द्रव्य याने जो द्रव्य गुण पर्यायका पिंड है वह द्रव्य है। जैसे पुद्गलमें पिंडरूपसे चौकी, चटाई आदि यों स्पष्ट नजर आते हैं इसी प्रकार अपने ज्ञानमें गुण पर्यायका पिंड रूपसे यह जीव प्रतीत होता है। तो द्रव्यदृष्टिसे देखो तो हमें यह जीव, जीव पदार्थके रूपमें मिला।

जीव अस्तिकाय—क्षेत्रदृष्टिसे देखा तो हमें यह जीव जीव अस्तिकायके रूपमें मिला, क्योंकि क्षेत्र प्रदेशकी अपेक्षा रखते हैं और क्षेत्रदृष्टिसे प्रदेशवान पदार्थ दिखते हैं और प्रदेशका ही नाम काय है तो ऐसा प्रदेशरूपमें हम देखते हैं।

जीव द्रव्य—जव कालकी दृष्टिसे द्रव्यको देखा तो हमें यह जीव परिणतिके रूपमें मिला। हम पूछें, कहें कि भाई हमें केवल द्रव्य समझा दो, कालकी अपेक्षा छोड़ दो, परिणतिकी अपेक्षा छोड़ दो तो उसे हम क्या दूसरोंको समझा सकेंगे और क्या दूसरोंसे हम समझ सकेंगे। तो पदार्थ सुगम समझमें आते हैं तो पर्यायमुखेन आते हैं तो पर्यायें कहें चाहे काल कहें, एक ही वात है जव हमने कालकी दृष्टिसे इस जीवको निहारा तो जीव द्रव्य देखा। यहाँ द्रव्यका यह अर्थ लिया कि जो पर्याय पाता था, पर्याय पावेगा उसकी द्रव्य कहते हैं। तो काल दृष्टिसे यों जीव द्रव्य समझमें आया।

जीव तत्त्व—भैया ! अव भावदृष्टिसे देखो भी वह गुण। भाव है स्वभाव। जव भेदभावकी दृष्टि है तव गुण समझमें आता। जव अभेदभावकी दृष्टिसे देखा तव स्वभाव समझमें आया। जव भावदृष्टिसे निहारते हैं इस जीवको तो यह जीव तत्त्व है ऐसी प्रतीति होती है। आत्मानुभवके लिए यह भावदृष्टि वड़ी ही समर्थ है। जव हम अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं जाननस्वरूप प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्य

इसमें कोई कल्मषता नहीं है , सहज स्वभाव जैसे मेरा है, जैसे स्वभावमें इसका निर्माण है उस स्वभावकी दृष्टिसे जब हम देखते हैं तब उसका उपयोग ज्ञानमात्र ही पाते हैं। तब हमें ज्ञानानुभव होता है ज्ञानानुभवसे आत्मानुभव मिलता है। ज्ञानानुभवके बिना आत्मानुभव नहीं मिलता है।

भावदृष्टि आत्मानुभूतिकी साधिका—यद्यपि आत्मा ज्ञानरूप भी है, दर्शनरूप भी है, चारित्ररूप भी है, नानागुणरूप भी है किन्तु ज्ञानके अतिरिक्त अन्य धर्मका कुछ अर्थात् अन्य गुणके स्वरूपका ध्यान करते हुएमें आत्मानुभव नहीं होता। आत्माका परिचय तो हो जाता है , किन्तु एक ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिसे यह आत्मानुभव होता है। इसी कारण ज्ञानानुभूतिको ही आत्मानुभूति कहा है समयसारमें। इसका कारण यह है कि अनुभव करनेवाला है ज्ञान, अन्य गुण अनुभवन नहीं करते। श्रद्धा गुण का काम अनुभव करना नहीं, चारित्र आदिका काम अनुभव करना नहीं। ऐसा ज्ञान गुण जब निज ज्ञानभावको ही अनुभव करता है तब ज्ञानके स्वरूपका अनुभव करने वाला भी वही रहा और अनुभवमें आने वाली बात भी वही रही। यही स्वानुभूति है।

ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी अभिन्नता—आत्मानुभूतिकी स्थितिमें ज्ञाता और ज्ञेय इनमें अन्तर नहीं रहता। जहाँ ज्ञाता और ज्ञेयमें अन्तर नहीं रहता वहीं आत्मानुभव है। ज्ञेयातिरिक्त अन्य चीज हो तो ज्ञान और ज्ञेयमें अन्तर पड़ गया। वहाँ यह स्थिति नहीं आ सकती कि वही ज्ञान हुआ और वही ज्ञेय हुआ। आत्मानुभवकी स्थितिमें जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, वही ज्ञान है। तीनों अभिन्न जहाँ हो जाते है, उसको कहते हैं आत्मानुभव।

आत्मानुभूतिका उपाय ज्ञानभावना—एक यह उपायकी बात हो सकती है अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेमें। क्या ? कि "ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ," विचारो अगर एक अपनी घरेलू यह बात मान ली जाय कि मैं ज्ञानमात्र हूँ मैं ज्ञानमात्र हूँ, तो यह भावना अनुभवमें लगा सकने वाली है। इसे माला लेकर न जपो। किन्तु कहीं भी हों, दूकानपर हों, कहीं चलते फिरते हों, किसी प्रसंगमें हों, मैं ज्ञान मात्र हूँ, जानन मात्र हूँ, यह चिन्तन करने लगो। भैया! यह ज्ञान पकड़ा नहीं जा सकता है, छेदा नहीं जा सकता, भेदा नहीं जा सकता, बताया नहीं जा सकता। किन्तु अन्तरमें विश्राम करके देख तो लो भीतरमें, क्या मालूम होता है, देखो दिखता है या नहीं।

विभावपर आश्चर्य—यह तो आकाशकी तरह अमूर्त पदार्थ है, वह कैसे दिखेगा, उससे हम कैसे व्यवहार करेंगे। वह व्यवहारमें आने वाली चीज नहीं है, खुदकी परिणतिसे खुद ही में विकल्प तरंग आ गई है इसलिए ये व्यवहारजीव बन गये हैं। नहीं तो जैसे आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, और काल द्रव्य, ये व्यवहारमें आ सकने वाले पदार्थ नहीं है इसी प्रकार यह जीव द्रव्य भी व्यवहारमें आ सकने वाला पदार्थ नहीं

है पर अपने आप अपनी तरंग विकल्प बनाकर स्वयं व्यवहारजीव बनगया है। अब भी इसका अन्य कुछ नहीं। अपनी ही चीजको अपने ही अन्दर देखो तो सही क्या कैसा ऊधम मच रहा है; विकल्प तो उठरहा है। कैसे उठरहा है? अरे, उसके हाथ पैर भी हैं क्या? कैसे उठ गये! ये विकल्प कैसे उठते हैं? यह परेशानी कैसे आयी? इतना हो रहा है, मगर चीज वहाँ कुछ नहीं मिलरही है।

भावात्मक वर्तना—वहाँ तो भावात्मक कर्म हो रहा है और लेन देनकी बातें वहाँ कुछ नहीं है। बाह्य चीजें अपना कुछ नहीं बिगाड़ रही हैं। केवल एक तरंग उठ गयी है, उस तरंगके वजहसे परेशानी है कि यह जीव अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करनेमें असमर्थ हो गया है। घर है, कुटुम्ब है, दुकान है, परिचय है, इज्जत है सब कुछ है इन सबको एक साथ पूर्ण रूपोंमें सर्वथा भूल जानेकी आवश्यकता है। तब तक हम इन सबको कैसे छोड़ सकते हैं, कैसे भुला सकते हैं जब तक हम आत्मानुभवके भीतर नहीं हो सकते हैं। यह तरंग, यह परेशानी इतनी है कि क्षणभरको भी वह वैभव भूलता नहीं है।

सर्वविस्मरण आवश्यक—जब केवल अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवमें लाना है तब उपाय यही है कि ऐसा ज्ञान उत्पन्न करो, ऐसी दृष्टि बनाओ कि जिसमें यह सामर्थ्य बने कि इन सब परभावोंको परतत्त्वोंको, पर चीजोंको किसी भी क्षण एकदम भूल सकें, ऐसी सामर्थ्य लाने वाला ज्ञानबल जबतक नहीं जगता तबतक आत्मानुभव कैसे हो सकता है। लेकिन हम आप सबको अगर सहाय है तो केवल एक आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान और आत्मानुसरणमें परिणत अपने आपकी आत्मा ही इस लोकमें सहाय है, दूसरा सहाय हो ही नहीं सकता है। वस्तुके स्वरूपमें यह बात है ही नहीं है कि कोई किसी दूसरेको सहाय बना सके सो भैया! अनेक यत्न करके भी ऐसे अपने आपके ज्ञानमें, श्रद्धानमें आचरणमें वृत्ति बनावो।

संकट और विनाशोपाय—संसारके जितने भी संकट हैं वे सब संकट अपने विभावपरिणमनमात्र हैं। उन विभाव परिणमनोंका अंतरंग हेतु अपनी उस प्रकार की योग्यता है और निमित्त रूप हेतु कर्मोंका विपाक है। वे कर्म परद्रव्य हैं, पुद्गल हैं। उन पर द्रव्योंका संयोग कैसे हुआ? उत्तर—इसका कारण है उपयोग विशेष। फिर अपने हितके लिए क्या करना चाहिये कि पर द्रव्योंके संयोगरूप कारणका विनाश करना चाहिये। हां, यह भी उत्तर हो सकता है पर प्रत्येक द्रव्यका संयोग उनही प्रत्येक द्रव्योंके आश्रित है। उसमें मेरा कभी उपाय उद्यम हो सकता है क्या? पर द्रव्यों का संयोग टूटेगा तो वह उस परद्रव्यके ही परिणमनसे टूटेगा, किन्तु जिस विधिमें पर द्रव्यका संयोग टूट सके यह विधि करना चाहिये। अर्थात् पर द्रव्यके संयोगके कारणभूत जो उपयोगविशेष हैं, सोपराग है, विभाव हैं। उनके विनाशका प्रयास

करना चाहिए। इस ही अभ्यासकी बात इस गाथामें कही जा रही है।

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ १५६ ॥

अशुभोपयोगसे रहित होकर और अन्य द्रव्योंमें और शुभमें उपयुक्त न होकर अन्य द्रव्योंमें मैं मध्यस्थ होऊँ, ज्ञानात्मक अपने आत्माका ध्यान करूँ।

हितकर चार स्थल—भैया! यहाँ आत्मोन्नतिके उपायमें ये चार बातें कही गयी हैं। प्रथम तो अशुभोपयोगसे रहित होना, द्वितीय बात शुभमें भी उपयुक्त न होना, तीसरी बात मध्यस्थ होना और चौथी बात अपने ज्ञानात्मक आत्माका ध्यान करना। ये चारों तत्त्व परमार्थ हितके साधक हैं।

हितमय प्रथम व द्वितीय स्थल—प्रथम बात है अशुभोपयोग न रहे, इसका उपाय है शुभोपयोग बने, क्योंकि अशुभोपयोगके व्ययके बादकी पर्याय शुभोपयोग ही होती है। अशुभोपयोगके अनन्तर शुद्धोपयोग नहीं होगा निश्चयसे अपनी पूर्वपर्यायके व्ययके कारण उत्तर पर्यायका उत्पाद है। तो अशुभोपयोग नहीं रहने देना हो तो उसका उपाय है शुभोपयोग हो। सो प्रथम तो यह करो कि अशुभोपयोग नहीं हो। जिनेन्द्रदेवकी श्रद्धा, देवभक्ति, देवपूजन करो। देखो ना; हम कुछ पामरोंपर श्री जिनेन्द्रदेवका कितना महोपकार है। जो कुछ आगम और उपदेश पाते हैं उसका मूल कारण तो जिनेन्द्र देव ही है। उनकी दिव्यध्वनिकी परम्परा और बड़े-बड़े आचार्यों की मौखिक व लिखित परम्पराओंसे जो बड़े-बड़े उपदेश, शास्त्र प्राप्त हैं, यह सर्वज्ञ देवोंका उपकार है यदि आज ये वस्तुस्वरूपका दिग्दर्शन करानेवाले साधन न होते तो हम आप शान्तिका मार्ग कहाँसे पाते।

हितमय तृतीय स्थल—देखो भैया! लोकमें सब कुछ है, प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वरूपमें सत् हैं और परिणमते हैं, स्थित हैं, साथ ही साथ यह भी बात सत्य है कि जितना विभाव परिणमन होता है उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी व्यवस्थित है पर इन दोनोंमें से किस ओर देखनेकी रुचि बनी रहती है, यह बात निर्णयसे स्पष्ट कर लो यद्यपि ये दोनों बातें हैं, पर वस्तुस्वातंत्र्यपर टूट कर दौड़ कर निगाह नहीं पहुँचे और बजाय इसके सांसारिक निमित्तोंमें, विभाव कार्योंकी व्यवस्थामें, विशेष विवरणमें और लोगोंकी समालोचनामें प्रीति रुचि पहुँचे तो अपने आप यह निर्णय करलो कि हमने अपने हितके लिए कौन सी दृष्टि सही बनायी है। जैसे पुण्य और पाप दोनों ही चीजें हैं पर भलाई तो इसमें है कि पापोंकी ओर न झुकें और पुण्यकी ओर चलें। जैसे यह लोकनिर्णय है इसी प्रकार वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव, ये दोनों बातें सही हैं। अपनी-अपनी दृष्टिके स्थानपर ये दोनों ही बातें सत्य हैं। परन्तु कुछ रुचि, दृष्टि अधिकतर किस ओर जाती है और जाना चाहिए? इसका

अपने भीतरमें निर्णय तो करलो।

अशरणता और अकिंचनता—इस संसारमें हम आप जीवोंका कोई दूसरा शरण नहीं है। भले ही पुण्यका उदय है कुछ चांदनी सी दिखती है, वैभव कुछ इकठ्ठा है। और, वैभव भी क्या इकठ्टा है ? जो जिस वातावरणमें है वह उस वातावरणमें अपनेको कुछ श्रेष्ठ पाता है तो समझते हैं कि मैं बहुत धनी हूँ, बहुत गुणी हूँ, पर एक विस्तारदृष्टिसे देखो तो जो भी धन पाया है वह क्या मिला है ? कुछ भी तो नहीं मिला। जो भी विद्या अर्जित की है वह कितनी है ? कुछ भी नहीं है। जो भी कुटुम्ब आदिक समागम, सुख पाया है वह कुछ भी तो नहीं है। इससे भी कई गुणा धन वैभव मिले तो भी क्या है ? जब जीवके उदय पापोंका आता है तब सब कुछ घटनाएँ, विदेपताएँ, संकट सामने बिना सूचना दिये ही आ जाते हैं। और पुण्यका उदय आता है तो जो लोक व्यवहारमें रुचिकर है ऐसी सम्पदा वैभव, इज्जत, यश ये चीजें सामने आ जाती हैं मगर शांति इन दोनोंसे सम्बन्ध नहीं रखती।

अपनी सावधानी—भैया ! शान्ति और आनन्दका सम्बन्ध तो आत्मसावधानी से है। ज्ञानके सही उपयोगसे है। यहाँ तो यह हाल होरहा है कि जैसे मिर्चके शौक वाले लोग तीखी तीखी लोंग मिर्च आदि खाते जाते व सी सी करते जाते, आँखोंसे आँसू भी निकलते जाते फिर भी कहते हैं कि थोड़ी मिर्च और लावो। ये सब कुछ बातें भोगी जा रही हैं, परिवारके कारण रोज-रोज कुछ न कुछ संकट झेले जाते हैं धनोपार्जनके सम्बन्धमें कोई न कोई चिंताएँ भी रोज रोज घेरे रहती हैं और अपने मित्रजन या कुटुम्बके लोग या पाणिगृहीत गृहिणी भी कटु वचन बोल देती है, पुत्रादिक आज्ञाके विरुद्ध हो जाते हैं, मित्रजन मित्रता दिखाकर कुछ लूटनेकी कोशिश में रहते हैं। अनेक संकट है, उन संकटोंसे घबड़ाये भी जा रहे हैं फिर भी अंतमें यही ध्वनि निकलती है कि अभी और वैभव आये, अभी और इज्जत बनें। दुःखी भी होते जाते जिसके कारण, और पसंद भी उन्हींको करते जाते।

पुण्योदयमें सावधानी विशेष आवश्यक—पुण्यके उदयमें प्रायः भोगासक्ति होती है। ऐसे ज्ञानी, विरक्त संत विरले ही होते हैं जिनके पुण्योदय भी ज्ञेय तत्त्व बनता है, पुण्योदयमें न बहकर आत्मामें सावधानी बनी रहती है तो यह भी स्थिति उनकी ज्ञानकलाके कारण है, कभी धर वैभवके कारण उनकी यह स्थिति नहीं है। सर्वप्रथम अपनेको अशुभोपयोगसे रहित होनेका यत्न करना चाहिये। अपने जीवनमें भी देखा होगा। कभी अन्यायसे किसीका धन हड़प लें, छिपालें, कोई कुटुम्बका हिस्सा या अन्य कोई चीज गुपचुप ही हड़प लें। तो फल क्या होता है ? जो कुछ होनेको होता है सो हो जाता है, इसे प्रायः सब जानते हैं।

कुकार्यका फल—खोटे कार्यके फलमें चाहे देर हो, पर अंधेर नहीं; एक कथानक

है कि कोई एक पुरुष था जिसके कोई भी संतान न थी। उसे कुछ लोगोंने नुस्खा दिया कि तुम किसीके संतानकी बलि करदो तो संतान तुम्हारे हो जायेंगी। तो भैया! संसार में देखो कितने ही पापी पुरुषोंके संतान और वैभव भरा हुआ है। तो क्या वे पापके कारण होते हैं ? यह तो पूर्वकृत उदयकी चीज है। उसने ऐसा ही किया और पूर्वकृत उदयकी बात है कि उसके संतान भी हुए, वैभव भी बढ़ा और एक बड़ा धनिक भी हो गया। कुछ वर्षोंमें ऐसी बात हो गई, होना था सो हो गया. कहीं पापके कारण नहीं हुआ। वह तो पूर्वकृत उदयकी बात थी, उसे उससे भी अधिक होना था किन्तु पापके कारण उसमें कमी आ गई। खैर कुछ दिन बाद उन्हीं पापोंका उदय आता है तो धन भी खतम हो गया, संतान खतम हो गये, स्त्री भी गुजर गयी, केवल एक वही रह गया उसके दिलपर बहुत बड़ा सदमा गुजरा, क्योंकि उसने पाप किया था। उसे सब बातें याद आने लगीं तो उसका दिमाग फिर गया, डोलने लगा, यह कहता हुआ कि देर है अंधेर नहीं। उसका मतलब यह था कि हमने पाप किया तो पापके फलमें ऐसी स्थिति हुई। उसके फलके मिलनेमें तो देर हुई मगर अंधेर नहीं रहा कि उसे फल प्राप्त न हुआ हो। वह यही शब्द बार बार बोलता हुआ सूबेदारके सामने आ गया। वह पागल जैसा बना फिर रहा था। सूबेदार ने सोचा कि बात क्या है। यह एक ही बात कहता है, यदि पागल होता तो भिन्न-भिन्न बातें करता। उस सूबेदारने उसे बुलाया और आरामसे अपने घरमें रखखा, फिर किसी दिन अवसर देखकर सूबेदारने पूछा तो उसने सारी कहानी सुनादी कि मैंने भ्रमसे स्वार्थवश किसीके संतानकी हत्याका पाप किया था उसका मुझे यह फल मिला ! सो देर है अंधेर नहीं।

अशुभ उपयोग सर्वथा निषध्य—हम ऊपरी दिखावटसे बोलचाल क्रियाकलापसे चाहे कैसी ही प्रवृत्ति करें किन्तु अंतरंगमें आशय यदि मायारूप है तो उसका फल स्वयं ही तो भोगेगा। कोइ दूसरा तो नहो भोगेगा। कोई किसी का सहयोगी नहीं हो सकता, ऐसा जानकर अपना कदम फूक कर रखो अर्थात् अपने आपको सावधानी बनाओ। किसके लिए अन्याय करते। जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब अपना-अपना उदय लिये हुए हैं उनके उदयसे उनका काम चलता है हमारे उदयसे हमारा काम चलता है। दूसरोंके आप निमित्त हो गये तो उसका उदय प्रबल है। उनके पूछने वाले आप हो जाते हैं, तो सब जीवोंका स्वयं सत्त्व है, वे हैं, इस अवस्थामें हैं, उनके साथ भी कर्म उपाधि है उनका काम उनके कारणसे चलता है। कोई किसीका सहाय नहीं हैं, ऐसा निर्णय करके यह अशुभोपयोग दूर करना चाहिए।

उपयोग विशेषका हेतु पर द्रव्यका संयोग—यह शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही पर द्रव्योंके संयोगके कारणरूपसे बताये गये हैं। अथवा उपयोगविशेषके बनानेमें इन पुण्य पाप कर्मोंका संयोग कारण है। वह उपयोग विशेष पुद्गल कर्मोंके विपाकके

अनुसार ही चल रहा है। कैसा है वह पुद्गल कर्मविपाक, जिसके अनुसार यह उपयोग विशेष चलरहा है। वह कोई मंदोदय दशाको लिये हुए है, कोई तीव्रोदय दशाको लिए हुये है ऐसे पुण्यपापरूप परद्रव्योंके संयोगरूप कारणसे यह उपयोगविशेष प्रवर्त रहा है, अन्य प्रकारसे नहीं प्रवर्त रहा है यह तो विदित ही हो गया। अब यह बताओ कि क्या ऐसा अशुभोपयोग बनानेमें ही लाभ है? नहीं है? तो जिसके कारण हमारेमें सकटों की स्थिति आये उनसे प्रीति करना क्या उचित है? नहीं। सो मैं उन समस्तपर द्रव्योंमें मध्दस्थ होता हूँ। पूजन करनेवाले सज्जन जब पूजा करनेकी इतनी अधिक विशिष्ट तैयारी कर लेते हैं तब पूजन प्रारम्भ करते हैं। उस तैयारीका दिग्दर्शन पूजाकी प्रस्तावनामें है। जब स्वस्ति अभिवादन करते हैं, अन्तमें एक पद्य पढ़ते हैं, अर्हन्! पुराण! पुरुपोत्तम! पावनानि, वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।

पूजककी एकत्वदृष्टि—हे अरहंत, हे पुराण, हे पुरुपोत्तम, ये नाना पवित्र चीजें यहाँ हैं, क्या-क्या हैं? पवित्र मंदिर, पवित्र जिनबिम्ब, नहा धोकर आया हुआ यह मैं, शुद्ध धोती कपड़ा और यह सजा सजाया द्रव्यसे भरा हुआ थाल, कितनी-कितनी पवित्र चीजें वस्तुयें ये सब है, पर नाथ! मुझे तो सब कुछ एक ही नजर आता है। भैया! पूजक प्रस्तावनामें कह रहा है यह। सच है जिसकी जहाँ धुन लगी है उसे केवल वही एक नजर आता है, जैसे विवाह शादी बरातोंके बीचमें केवल एक ही बात नजर आती हैं भांवर पड़ जाना। और बातें कितनी ही है, यह पंगत किया, यह पार्टी बनाया, बाजे बजते, लाउडस्पीकर बजता; लेन देन होरहा, आदर सरकार हो रहा; वहाँपर कितनी ही बातें होती हैं। क्यों जी, ये सब बातें चौगुनी शृंगारसे कर दी जायें, केवल एक भांवर भर न करे, और एक लाउडस्पीकरकी जगहपर चार करलें, जो मिठाई बने उसकी चौगुनी बनवालें, जो बाजे बजते उनको चौगुना कर दिया जाय और केवल एक चीज न की जाय, केवल भांवर, और सब चीजें चौगुनी बढ़ादी जावें तो क्या ठीक जचता है? अरे वहाँ तो वही एक यही लक्ष्य है, एक ही ध्येय है। भाँवरके ध्येय बिना ऐसा व्यय व श्रम करे कोई तो पागल धनी ही कर सकेगा।

पूजकका ध्येय ज्ञानज्योतिसेवा—इसी तरह भैया! उस पुजारीके पास सब कुछ है। फिरभी उसकी दृष्टिमें एक ही बात है। वह क्या कि वही ज्ञान ज्योति, जिसकी धुनमें वह है, जिसमें वह रमना चाहता है जिसके स्मरणके लिए, जिसकी उपासना के लिए वह पुजारी आया उसकी केवल एक ध्वनि है, लगन तेज लगी है सो वह वहाँ क्या करता है, इस जाज्वल्यमान केवल ज्ञानरूप अग्निमें, इस ज्ञानज्योतिमें, (यहाँ प्रयोजनार्थक सप्तमी विभक्ति हो सकती है) इस जाज्वल्यमान केवल ज्ञान रूप अग्निमें मैं एक मन होकर पूर्ण निर्णयके साथ निशंक होकर इस समस्त पुण्यको स्वाहा करता

हूँ। कौन सी पुण्य चीजें, जिसे वह पुजारी थालीमें रखे हैं, क्या इतनी ही उदारता है ?

पूजककी उदारता—इतनेको ही समर्पण नहीं, किन्तु समस्त वैभवोंको भी मैं ज्ञान ज्योतिकी अनुभूतिमें न्योछावर किये देता हूँ। इतना प्रभुसंगका संवाद सुनकर प्रभुकी ओरसे मानो कोई वकील बोल उठे कि वाह रे भाई दस बारह आनेकी चीजके त्यागकी बात कहकर बड़ी शान मार रहे हो। तब वह पुजारी अपना भाव और स्पष्ट करता है कि प्रभो ! मैं प्राप्त सर्व वैभव समर्पण, स्वाहा करता हूँ। यह वैभव यह अनर्थ, सम्पदा, किसको हम समर्पण करें, किसके आगे छोड़ें ? तो भाई और जगह यदि हम छोड़ते हैं तो उसे आफतमें डाल देते हैं इसलिए भगवानके आगे छोड़ो तो भगवानको आफत भी न आयगी। चाहे करोड़ोंका धन आप भगवानके आगे छोड़दें फिर भी उसे आफत नहीं आयगी और जगह इस सम्पदाको कहीं डालें, और जगह डालनेसे उसके ऊपर आफत आ जायगी। जैसे किसी घरमें विच्छू निकले तो उसे कहाँ डालें। किसी पड़ोसीके घरमें डाल दें तो उसके ऊपर आफत आ जायगी। तो अच्छे मिले भगवान, उन्हीं के आगे जाकर यह सारी सम्पदा छोड़ दो। उस भगवानके आगे वह सम्पदा डाल देनेसे उसका भी कुछ नहीं बिगड़ता है और डालने वाला भी छुट्टी पा जाता है। विश्वके समस्त पदार्थ उस भगवानके ज्ञानमें हैं फिर भी वे समस्त पदार्थ अनन्तकाल तक उस भगवानमें क्षोभ नहीं कर सकते हैं, याने क्षोभके आश्रयभूत नहीं बन सकते, समझलो, वह प्रभु इतना अधिक समर्थ है, पूर्ण समर्थ है।

पूजकका विशेष अन्तर्विवेक—पूजक आवेदन करता है कि मैं क्या करता हूँ ? इस जाज्वल्यमान ज्योतिके सामने सारे वैभवको स्वाहा करता हूँ। इतना ही नहीं वैभवके सम्बन्धमें उठनेवाले जो विकल्प हैं उनको मैं स्वाहा करता हूँ। और इतना ही नहीं, यह वैभव जिसके विपाकका निमित्त पाकर मिलता है ऐसे पुण्यबंधको भी मैं स्वाहा करता हूँ, और ये पुण्य कर्म जिन शुभोपयोगोंके कारण होते हैं उन शुभोपयोगों को भी मैं स्वाहा करता हूँ। वह भक्त उस निर्विकार, शुद्ध, स्वच्छ, ज्ञानज्योतिकी शरणमें जाना चाहता है। जब पूजक इतनी बड़ी तैयारी कर चुकता तब फिर इस प्रस्तावनामें वह आगे पूजन करना प्रारम्भ करता है। पूजा करना भी केवल मुखसे बोलनेका नाम नहीं है किन्तु जो पूजाका अर्थ ध्वनित होता है उस अर्थका उपयोग बने , वैसा भाव बने ऐसा उपयोग करनेका नाम पूजन है।

आत्महितके लिये प्रथम कदम शुभोपयोग— देव भक्ति, गुरु उपासना, सत्संग परोपकार आदिक जो शुभोपयोग हैं, ये शुभोपयोग ही अशुभोपयोगके विनाशके कारण हैं। सो पहिला यत्न तो है शुभोपयोग बनाना और अशुभोपयोगसे रहित होना। यह काम एक है, किन्तु उत्पाद व्ययकी अपेक्षा दो समझना। ऐसी बात जब सुगमतया बन जाती है तब उसका दूसरा कदम होता है शुभोपयोगके विकारसे भी हटकर निर्विकार

शुद्ध, सहज ज्ञानज्योतिमें पहुँचनेके इस उद्यममें उसकी दृष्टि एक शुद्ध सहज स्वरूपमें विराजना। वहांके स्वरूपके आनन्दका अनुभव करनेमें उसकी लगन लगती है, ऐसी स्थितिमें शुभोपयोग भी चलता है, पुण्यबंध भी चलता है, पर उसका लक्ष्य तो केवल एक रह गया है। वह क्या कि सर्वत्र एक ही शुद्ध स्वरूप देखना। इसी प्रसंगमें है वह ज्ञानी। कर्मविपाकसे वह चाहे किन्हीं भोगोंके प्रसंगमें है, चाहे किन्हीं उपकारोंके प्रसंगमें है सर्वत्र उसकी एक प्रतीति है और उसकी एक धुनि है। शुद्धके उपयोगसे हटकर नाना वृत्तियां जो करनी पड़ती हैं, वे सब कर्म विपाकवस करनी पड़ती हैं, जैसे कि कैदखानेमें कैदीको चक्की पीसना पड़ती है फिर भी वह चाहता नहीं है। सो भाई! अपनी शरण अपने आपकी आत्मा है सो अपनेमें निर्मलता बढ़े, शुभोपयोग हो, यह सबसे पहिला यत्न होना चाहिए।

अशुद्धोपयोगका फल व हेतु परद्रव्यसंयोग—यह जो अशुद्धोपयोग है वह पर द्रव्योंके संयोगका फल है और परद्रव्योंके संयोगका कारण है अर्थात् कर्म बंधका कारण है और कर्मोदयसे होता है। विकारोंको परभाव इसलिए कहा जाता है कि यह विकार स्वयं अपने आप स्वभावसे नहीं उत्पन्न होता अर्थात् द्रव्यत्व गुणके कारण विकार नहीं होता। द्रव्यत्व गुणके कारण परिणमनसामान्य हुआ करता है, उसकी तो क्रिया यह है कि परिणमन होता रहे, अवस्था बनती रहे पर उसमें जो विकार अवस्था होती है वह किसी परद्रव्यका निमित्त पाकर होती है। तो परभावका अर्थ है परका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाला अपनेमें भाव। परभावोंका यह अर्थ नहीं कि परका भाव है, कर्मोंकी पर्याय है, यह भी तात्पर्य नहीं है।

विभावकी औपाधिकता—यह विभाव कर्मोंके उदयसे होता है और कर्म बंधका कारण भूत है। सो जो मंद उदयकी दशामें विश्रांत हो और तीव्र उदयकी दशामें विश्रांत हो, ऐसे कर्मोदयके अनुसार यह उपयोगविशेष होता है अन्य प्रकारसे नहीं, तब फिर यह अशुद्धोपयोग मेरा स्वरूप नहीं रहा। मेरे स्वभावकी बात नहीं रही, मात्र साधारण गुणोंके कारणसे होनेवाली बात नहीं हुई, इस कारण इन सब पर चीजोंमें मैं मध्यस्थ होता हूँ। ऐसी मध्यस्थता जब मुझमें होती है, होगी तो परद्रव्योंकी अनुवृत्ति की आधीनता न रहेगी। जब हम मध्यस्थतासे चूकते हैं और अहंभाव व ममभावमें लगते हैं तब हम बंधनमें रहते हैं, पकड़े जाते हैं, पीड़ित होते हैं।

परकी आत्मीयता फल पीड़ा—भैया! मैं मैं तू तू करनेके बारेमें एक कथानक है, कि कोई एक नटखटी लड़का था सो वह रसगुल्ले लिए जा रहा था तो उसने रसगुल्ले नदी पर धोबीके बच्चेको खिला दिया। धोबीका बच्चा रोने लगा, रसगुल्ले खानेके लिये मचलने लगा। धोबीने पूछा, भाई क्या खिलाया तो बोला रसगुल्ले। "रसगुल्ले क्या होते हैं? "एक बड़ा ऊँचा फल। "कहां होते ह? "बड़े-बड़े वृक्षवाले

वगीचेमें। धोवीने कहा कि हम इस वच्चेको रसगुल्ले खिला लायें जवतक तुम हमारे ये कपड़े वगैरह रखाते रहना। वह नटखटी तो यह चाहता ही था। धोवीने पूछा तुम्हारा नाम क्या है ? वोला मेरा नाम है कल परसों। धोवी तो चला गया लड़केको साथ लेकर वागमें। यहाँ यह लड़का वढ़िया कपड़े पहिनकर सफा चम्पत हो गया। धोवीने वापिस आकर देखा कि यहाँका नया सामान व वर्तन सव गायव हैं। तव हाय मेरे कपड़े चुरा लेगया, हाय कल परसों मेरे कपड़े ले गया, यों चिल्ला कर रोने लगा। तव आये हुये लोग वोले कि कल परसों कपड़ा लेगयातो अव क्यों रोता है।

अव यह वना ठना नटखटी जारहा था। सामनेसे एक घोड़ावाला आरहा था, उसके प्यास लगी थी, यह घोड़ावाला वोला कि मेरे घोड़ेको थाम लो, हम पानी पी लें। तुम्हारे पास लोटा है वह हमें दे दो। तुम्हारा नाम क्या है। उसे "कर्ज देनेमें" यह नाम वताया नटखटी ने। अव घोड़ावाला तो पानी पीने लगा और यह नटखटी घोड़े पर सवार होकर घोड़ा उड़ा ले गया। अव वह रोता है कि हाय कर्ज देनेमें घोड़ा ले गया। लोग समझाते, अरे भाई क्यों रोता है ? कर्ज देनेमें ही तो घोड़ा ले गया है। अव यह नटखटी जाते-जाते एक शहरके पास रुई धुननेवालेके मकानमें ठहरनेके लिये धुनेनीसे कहा माँ रातभर यहीं ठहर जाऊँ। वोली तुम्हारा नाम क्या है, मेरा नाम है तू ही तो था। ठीक है ठहर गया। पासमें वनियांकी दूकान थी; वहाँसे आटा घी, शक्कर आदि उधार ले आया, कहा सुवह दाम चुका देंगे। वनियाने पूछा वेटा ! तुम्हारा नाम क्या है ? तो वनियांको नाम वताया—"मैं था" अव रातको खाना वनाया। ठंडके दिन थे। दालका धोवन कहाँ फेंके सो उसी रुईपर फेंका। खाया, पिया सोया। फिर यह नटखटी सुवह होते ही चम्पत हो गया।

तू तू मैं मैं का निष्कर्ष—जव धुनिया लौट कर आया तो पूछा कि इसमें कौन ठहरा था, जो रुई गंदी कर गया ? स्त्रीने कहा तू ही तो था। उसने स्त्रीको खूव पीटा। जव स्त्रीको खूव पीटा तो वनियांको स्त्रीके ऊपर दया आ गयी। धुनियांसे कहा देखो वह मैं था जो रातको ठहरा था। कहा इसे न पीटो वह तो मैं था। उस धुनियां ने कहा कि तू था तो तू पिट। सो धुनियां उस वनियेको पीटने लगा। यह एक कहानी छपी थी। सो इसी तरह जो है, सो है, उसे जान तो लो, पर किसी वातमें, अहंभाव व ममभाव न करो।

माध्यस्थ्यकी प्रेरणा—जो परमें अहंभाव करता और ममभाव करता वह वेचैन रहता है। कहीं परपदार्थके कारण उन्हें वेचैनी नहीं हैं किन्तु अहंभाव और ममभावके विकल्पोंकी प्रकृति ही ऐसी है कि वह क्षोभ मचाती हुई उत्पन्न होती है। सो अपने आपके सहज स्वरूपका निर्णय करके और शेष परभाव जो उत्पन्न होते हैं उनको पर चीज मान कर, इन पर मेरा अधिकार नहीं है यह पर निमित्त पाकर

होता है, ये स्व-पर चीजें हैं ऐसा समझता हुआ मैं उनमें मध्यस्थ होऊँ यदि मध्यस्थता हो गई तो परतन्त्रता न रहेगी। फिर शुद्धोपयोगसे मुक्ति हो जावेगी।

धर्मोत्साहमें मृत्युके ध्यानकी सहायता—भैया। देखिए अचानक ही किसी समय मृत्यु हो जाती है, कोई निमंत्रण देकर नहीं मरता, जैसे शादियोंमें चिट्ठियाँ छप जाती हैं उस तरह से निमंत्रण देकर मृत्यु नहीं होती है। मृत्यु हो जाय फिर इसके लिये यहांका संग क्या रहता है? कुछ भी तो नहीं। अथवा अपने जीवनमें कितने ही ऐसे मौके आये होंगे जिसमें मृत्युमें संदेह नहीं था। बीमारी में, या पानीमें डूबतेमें, या किसी ऐक्सीडेन्टमें कितने ही ऐसे मौके आये होंगे जिनसे मरण तो बिल्कुल निश्चित ही था। यदि उस समय मरण हो गया होता तो ये सब समागम मेरे लिए कुछ न थे अथवा आज मनुष्य पर्यायमें हैं, यदि इस मनुष्य पर्यायमें न होते, अन्य किसी पर्यायमें होते तो मेरे लिए ये समागम कुछ न थे। ऐसे ही किसी प्रकार बात सोचकर ऐसा भाव आ जाय कि यह समागम मेरे ममत्वके लिए नहीं है; मेरा तो प्रयोजन मेरा तो काम अपने आपका ज्ञान, दर्शन और आचरण है, इसही में मैं रहूँ। इसके अतिरिक्त और कोई परभावोंकी चीज आती है तो उससे मेरे लिए संकट हैं।

विश्रामसे संकटका अभाव—अशुद्धोपयोग रागद्वेष मोह ये मेरे लिए संकट हैं। मैं जब दुःखी होता हूँ तो अपने ही अपराधसे दुःखी होता हूँ। मुझे अन्य दूसरा कोई दुःखी करने वाला नहीं है; सो मैं कोई अपराध न करूँ, उपराग न करूँ, अशुद्धोपयोगमें न रहूँ। इस तरह केवल निश्चयदृष्टिकी अनुवृत्तिका ही परिग्रहण करूँ अर्थात् जैसा मेरा स्वभाव है वैसा ही बनूँ तो मैं कृतार्थ होऊँगा आत्मस्वरूपके अनुसार वर्तनेका उपाय क्या है कि मैं आत्मस्वभाव मात्र अपनेको बार-बार भाऊँ।

जैसी भावना तैसी वृत्ति—यदि मैं अपनेको विभावरूप भाऊँगा तो विभाव ही उदित होगा। जैसे छोटे-छोटे बच्चे घुटने टेककर घोड़ा बनते, घुटनेके बल चलते सिमिटकर चलते, लड़ाई करते, आपसमें हाथापाई हो जाती, मैं घोड़ा हूँ, ऐसी उन बच्चोंके धारणा रहती है। जब तेज धारणा होती है तो बच्चे अपनेको भूल जाते हैं। वे घोड़ेका काम करने लगते हैं। इसी तरह जब तक यह जीव यह भावना बनाता है कि मैं पुत्र हूँ, पिता हूँ, तब तक पुत्रका जैसा व्यवहार करना चाहिए और भी विशेषताके साथ उन सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्ति होने लगती है। जब यह जीव ऐसा मानता है कि मैं मनुष्य हूँ, इन्सान हूँ, तो इन्सानियतके काम करता है जिसे नीति, सेवा, उपकार कहते हैं ऐसे इन्सानियतके कार्योंमें प्रवृत्ति उसकी हो जाती है।

शुद्ध ज्ञातृत्व ज्ञान भावनाका फल—यह मैं आत्मा, ज्ञानमात्र हूँ, इसका स्वरूप चैतन्यके अतिरिक्त और क्या है। कुछ भी अन्य अनुभवमें नहीं आता। केवल ज्ञान स्वरूप यह मैं एक विलक्षण पदार्थ हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। जब इस तरहकी भावना करे

तो ज्ञानमात्रका अनुभव करके यह ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है तो ज्ञाता द्रष्टा होना स्व द्रव्यके अनुसार प्रवर्तना कहलाता है। जब स्व द्रव्यके अनुसार प्रवर्तनमें परिग्रहण हुआ तब शुद्धोपयोग प्रसिद्ध हुआ, केवल जाननहार बने रहना यह ही शुद्धोपयोग है। तो ऐसे शुद्धोपयोगके द्वारा अपने आपमें ही निश्चल उपयुक्त होता हुआ मैं ठहरता हूँ। जो कुछ होरहा है वह अपने प्रदेशोंमें होरहा है। इसके आगे कुछ अपना नहीं हो रहा है और न कुछ बात है। बहिर्मुखता जब होती है उस समयमें भी जो कुछ हो रहा है वह अपनेमें होरहा है अपनेसे बाहर कुछ नहीं होरहा है। जो बड़े बड़े धनी लोग आरम्भ और परिग्रहमें रहते हैं, अरबोंकी संपदाकी व्यवस्थामें रहते हैं उस समय भी ये जीव भी अपनेमें ही हैं और वे भी जो कुछ कर रहे हैं वे अपने में ही कर रहे हैं। अपनेसे बाहर कुछ नहीं करते।

संकट और ऐश्वर्य—यह कितना बड़ा संकट है कि यह अपने आपमें रहता हुआ अपने आपमें ही कल्पनायें करता हुआ अपनेसे अतिरिक्त अन्य सब पदार्थोंसे अत्यन्त विभक्त होता हुआ भी एक विभावमें, विचारमें कितना बड़ा संकट बना लेते हैं कि जिसमें इसका चित्त भी परेशान हो जाता है। अरे, बाहरसे यहाँ कुछ नहीं हो रहा सब अपनेमें अपनेसे होरहा है। धन्य है वह प्रभुकी प्रभुता, बिगड़ता है तो बिगड़नेमें भी अपना ऐश्वर्य नहीं छोड़ता, सुधरता है तो सुधरनेमें अपना ऐश्वर्य नहीं छोड़ता जो कुछ इसका गुण पर्याय है वह इसमें ही है। सो जिस समय अशुद्धोपयोग हो रहा है उस समय भी यद्यपि यह अपनेमें है पर अपनेमें विकाररूपसे संक्लेश और विषादके रूपमें अपने आपमें दौड़ लगाये जारहे हैं। और जब शुद्ध ज्ञानका उदय होता है तो उन घबड़ाहटोंसे मुक्त होकर, बाह्य वस्तुओंकी ममतासे हटकर अपने आपमें अचलता के रूपमें आता है, निश्चल होता है, निष्कम्प होता है, शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहता है। सो यह सब फल मध्यस्थताका है।

समताके उपाय—भैया! सामायिक पाठमें पहिला श्लोक है सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्। माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव! यह सामायिक पाठ है, समताका पाठ है, समता आना चाहिए। देवसे प्रार्थनाकी कि हे देव! मेरेमें ये चार बातें प्रकट हों। ये चार समताकी ही बातें हैं (१) समस्त प्राणियोंमें मित्रताका भाव हो।

सबमें मैत्री भाव—मित्रता किसे कहते हैं? मित्रताका अर्थ क्या है? मूल अर्थ यह है 'दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री' कि दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी अभिलाषाका होना सोई मित्रता है! और मित्रताके फलमें जो काम होता है वह तो प्रवृत्ति है पर मित्रता का अर्थ यही है कि दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा जहाँ सबोंमें मित्रताकी भावना की जारही है, कि किसी भी जीवमें दुःख उत्पन्न न हो। यह अपनेमें भी दुःख नहीं

चाहता और समस्त जीवोंके भी दुःख नहीं चाहता। किसीका दुःख न चाहना और दुःख न होना ऐसा प्रोग्र म अथवा अन्तरंग धुनिसे वोलनेका साहस इसे जब हो तब इसे समझलो कि यह समताका रुचिया हुआ। किसी भी जीवका दुःखका स्वभाव नहीं है, मैं अथवा अन्य समस्त जीव ये सर्व एक समान चैतन्य स्वरूप है ज्ञानानन्द स्वरूप करि निर्भर है। ऐसी दृष्टिमें मित्रताके भाव मूलमें भी पड़े हुए हैं तब देखो मूलमें भी समता और उत्तरमें भी समता उसके जगी।

गुणियोंमें प्रमोदभाव—गुणी जीवोंमें प्रमोदभाव हुआ गुणियोंके गुण देखकरके जिनका गुण ज्ञान है वैराग्य है, स्वभाव दृष्टि है, वस्तुस्वरूपका जिनके निर्णय है ऐसे गुणियोंके गुणोंको देखकर गुणके रुचिया महापुरुष हर्षित होते हैं। भाई परिणति तो यह अपनी है। अपनेमें तो यह गुण प्रकट है कि गुणियोंके गुणको देखकर खुश रह सकें तो यह अपने भलेकी बात है। और, गुण देखकर, गुणियोंको देखकर परेशानी हो, दुःख हो, जलन हो, कोई भी विकार हो तो यह निश्चित है कि गुणियोंमें उसके रुचि नहीं है, गुणके स्वरूपमें भी रुचि नहीं है, अपने आपके गुणमें और हितमें भी रुचि नहीं है। कोई जीव आत्महिताभिलाषी पुरुषों व गुणियोंको देख कर अर्थात् उनके आधारसे गुणके स्वरूपको निहार कर प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नतामें होता क्या कि अपने आपमें गुणविकासका आशय जगा। अपने आपमें गुणविकासका आशय जगे विना गुणीके गुणोंका प्रमोद नहीं होता। सो वह गुणी उससे अधिक विशिष्ट गुण वाला है। इसमें प्रमोद है इसका अर्थ है कि उससे अधिक विकाशके लिए यत्न हो। तब सर्व बड़े पुरुषोंके साथ समानता हो जायगी।

दुखियोंमें कृपापरता—दुखी जीवोंको देखकर दया उमड़ आये, दुःखी जीव मेरे ही समान सुखी हों, इस दर्जेपर ये भी पहुँच जाँय, देखो भैया! कितने ही लोग दुखी मंगताको देखकर गुस्सा करते हैं गुस्सेके प्रसंगमें तो हानि ही है। उस गुस्सेसे अपनेको पृथक् कर, ऊँचा वनाकर ऊँचे पुरुषोंकी समानताका उद्योग हो, दुखी पुरुषों को अपने समान कर देनेके अपनेमें भाव हो। कोई भूखा है तो उसकी वेदना मिटादो अर्थात् जैसे अपनी भूख मिटाकर मौजसे वैठे हो, उसी तरहसे इसको भी अपने समान वना लो, इसकी वेदनाको मिटादो। इसको भी अपने समान वनानेका भाव हो।

विपरीतवुद्धियोंमें मध्यस्थता—जो पुरुष विरोधमें है, न समझ है समझाये तो उल्टा विवाद कलह करें ऐसी विपरीत वृत्ति वाले जो जन हैं उनमें मध्यस्थताका भाव होना, इसको ही तो समताका स्पष्ट भाव कहते हैं। समान रहो, न रागमें उनके प्रति वढ़ो, न द्वेषमें वढ़ो तो तुम्हारा क्या विगड़ गया? जगतमें अनन्ते जीव हैं, उन समस्त जीवोंको भी अपने ही समान समझो, सबमें मध्यस्थता रहे। यही वहांकी समता है। तो समता और मध्यस्थतामें आत्मविकासका अमोघ उपाय वसा हुआ है मध्यस्थताका फल

शान्ति है। मध्यस्थताका भाव कभी विफल नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें मैं मध्यस्थ होऊँ, प्रत्येक द्रव्योंकी आधीनता से दूर रहूँ, अपने ही आत्मस्वभावके अनुसार वर्तू और करूँ क्या ? उपयोगात्मक अपने आपके द्वारा उपयोगात्मक अपने आपमें उपयोगात्मक विधिसे ठहरता हुआ मैं शान्त होऊँ यह मेरे परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास है।

पर द्रव्यके वियोजनके उपायका एक दृष्टान्त—जैसे भैया ! धोती, धोई निचोड़ ली; खूँटीसे बाँध दी। कदाचित् खूँटेसे धोती नीचे गिर जाय, कुछ धूल लग जाय तो झट सेवक या मित्र धोतीको झिरकने लगता है उस धूलको हटानेके लिए। तो धोतीवाला कहता है कि भैया ! इसको झटकाओ मत, इस धोतीको खूँटीमें बाँध दो जब यह धोती सूख जायगी तब दो चार झिटके मार देनेपर सब धूल दूर हो जायगी। यदि धोतीको सूखनेके पहिले ही झिटक दिया जाता है तो उसमें धूल चिपट जायगी उस धूल पर द्रव्यको यदि उसे हटाना है तो उसे सुखा दो। उस धूल और धोतीका संयोग कराने वाली क्या चीज है ? गीलापन। इन दोनोंके संयोगको यह गीलापन ही करा देता है। जो धोतीकी गिलाई है वह यदि सुखा दी जाय तो धूल तो यों ही निकल जायगी।

कर्मबन्धके हटानेका उपाय—इसी प्रकार इस जीव और कर्मका संयोग कराने वाली चीज स्नेह है, उपराग है, उपयोगविशेष है इनको मिटा दो, उपराग हटा दो, विषय कषायोंसे दूर हो जाओ; निर्विकार, कषायरहित आत्मदेवकी भावनामें लग जाओ। इस भावनाके प्रसादसे परद्रव्यरूप कर्म सब हट जायगा, बन्धन झड़ जायगा, पर वस्तुका संयोग मिट जायगा।

भावनाका सामर्थ्य—भैया, मंत्र साधन होते हैं उनमें और क्या है ? भावना का चमत्कार। मन्त्र पढ़नेवालेकी कोई क्रिया दूसरे मनुष्यमें नहीं पहुँचती, जैसे साँप का विष उतारते हैं, मंत्र पढ़ते हैं, विष दूर होता जाता है तो मंत्र पढ़ने वाला स्वयं उसमें नहीं पहुँचता है, वह तो बहुत दूर उससे है, वह करेगा क्या ? जो भावना है, एकाग्रता है, विश्वास है, उसको निमित्त पाकर विष स्वयं दूर होरहा है। कैसा विलक्षण निमित्त नैमित्तिक वहाँ भाव होरहा है कि वह मंत्रतंत्रबाजी जो कुछ कर रहा है अपने आपमें कर रहा है और वहाँ पर विष दूर होरहा है, या अन्य-अन्य कोई क्रिया हो रही है ? इस भावनामें बहुत बड़ी सामर्थ्य है।

प्रतीतिका परिणाम—सो स्वभावतः स्वरसतः अपने आपके सत्त्वके कारण जो कुछ मैं हूँ, उस रूपमें अपनी भावना प्रबल बने तो इसके प्रतापसे परद्रव्यका संयोग टल जायगा। कोई जैसे कहे कि अपना दुःख है, अपने इष्टके वियोगका दुःख है तो इसका मतलब है कि उसने अपना दिल दूसरी जगह लगाया। जब तक दूसरेमें चित्त लगे तब

तक कुछ न कुछ अशान्ति ही है। बाहरकी बातोंका कुछ ख्याल बने, बाहरमें ही अपना इष्ट अनिष्ट मानें तो तुरंत विह्वलता हो जाती है, जैसा भाव है, जैसी वासना भरी है उसीके अनुकूल इसका प्रवर्तन हो जाता है।

एकमात्र कर्तव्य अपनी सम्हाल—मैं अपनेमें जैसा सहज हूँ, स्वरसतः हूँ, अपने आपके सत्त्वके कारण हूँ ऐसा चिन्मात्र, ज्योतिमात्र ज्ञानस्वरूप, निराकुल अमूर्त हूँ यदि अपने ज्ञानानन्दस्वरूपके कारण अनुपम और विलक्षण जैसा मैं आत्मदेव हूँ, प्रभु हूँ, विभु हूँ उस रूपमें अपने आपकी श्रद्धा रहे तो यह महान् पुरुषार्थ ही सारे संकटोंको दूर करनेमें समर्थ है। इस समय वृत्तिसे वह प्रताप प्रकट होता है कि ये संकट, कर्म ईंधन सब भस्म हो जाते हैं। इस जगतमें करने योग्य काम है तो केवल यह एक ही है, यही परद्रव्योंके संयोगके विनाशका कारण है।

कर्मकी द्विविधता—इस जीवके साथ जो पर द्रव्य लगा हुआ है वह है कर्म, जो कि पुण्य और पाप दो रूपोंमें बनाता है। पुण्य कर्म तो वह कहलाता है जिसके उदयमें ऐसा सुख साधन मिलता है, जिसमें यह जीव मौज मानता है, और पाप कर्म उसे कहते हैं कि जिसके उदयमें ऐसी विपत्तियोंका समागम मिलता है जिससे कि यह जीव दुःख मानता है। चाहे पुण्यका उदय हो, चाहे पापका उदय हो उन सब उपायोंमें यह जीव विकारको ही पाता है इस कारणसे पुण्य और पाप दोनों समान कहे गये हैं। जैसे कोई सोनेकी बेड़ी पहिने हुए कैदी हो, और कोई लोहेकी बेड़ी पहिने हुए कैदी हो वे दोनों ही बंधनमें हैं, एक समान दुःख भोगने वाले हैं।

विभावकी द्विविधता—इसी प्रकार चाहे किसीका पुण्यका उदय हो, चाहे बहुत बड़ा वैभव हो, चाहे बहुत-बहुत ऐश्वर्य हो वह भी बाहरी दृष्टिमें रहकर केवल आकुलताएँ ही भोगता है और इसी तरह जिसके दरिद्रता हो, बहुत बहुत पापोंका उदय हो वह भी पुरुष आकुलताएँ ही भोगता है। इस कारण आकुलताओंके साधन होनेसे पुण्य और पाप दोनों ही एक समान है। इसलिए समयसारमें पुण्यको भी कुशील कहा है। पाप तो कुशील है ही। वह पुण्य सुशील कैसे हो सकता है, जो जीव के बंधनका कारण बना है। कर्म पौद्गलिक कर्म है, वह तो बंधनका हेतु है ही पर पुण्यके उदयमें जो सम्पदा, वैभव प्राप्त होता है वह सम्पदा और वैभव भी इसके बंधनका कारण बनता है। इसलिए पुण्य कर्म भी कुशील ही है कुशीलके साथ राग वर्त कर संसर्ग मत करो।

कर्मरागमें विनाश अनिवार्य—यदि किसीने कुशीलके साथ संसर्ग किया, राग किया तो उसका विनाश स्वाधीन है, अपने आपही विनाश होगा। जैसे जंगलमें हाथीको पकड़नेके लिए एक बड़ा गड्ढा खोदा जाता है और उस गड्ढे पर बांसकी पंचें बिछा कर पाट दिया जाता है, पंचोंपर एक झूँठी बाँसकी हथिनी बनायी जाती है और

कागजोंसे मढ़ कर बड़ी ही सुन्दर सजा दी जाती है। वह सुन्दर रंगकी हथिनी बन जाती है। जंगलका हाथी उसको देखकर दौड़ता है, हथिनीके पास आता है। जब वह पंचोंपर पैर रखता है तो वे बाँस टूट जाते हैं और हाथी गड्ढेमें गिर जाता है। कुछ दिन बादमें जब हाथी लस्त पड़ जाता है तो एक रास्ता निकाल कर उस हाथी को गड्ढेसे निकाल लेते हैं। देखो यदि उस हस्तीने उस धोखेबाज करेणुकुट्टनीपर स्नेह न किया होता तो हाथी बंधनमें क्यों पड़ता ?

संकटका हेतु स्वपदभ्रष्टता—इसी प्रकार जगतके समस्त जीव यदि रागवश न हों, बाह्य पदार्थोंमें ममत्व न करे तो ये बंधनमें क्यों पड़ें। प्रायः सभी जीव अपने अपने विषय कषायोंके परिणामोंसे बंधनमें पड़े हैं नहीं तो इस जीवको दुःख क्या है ? इस जीवपर संकट ही क्या है। यह तो स्वयं ज्ञान-वरूप है, आनन्दमय है, इसमें तो दुःख रंच भी नहीं है। इसका स्वभाव तो स्वच्छ जाननभर का है। यह जानता रहे इतना ही तो इसका काम था। पर अपने उस शक्तिस्वभावको छोड़कर यह जीव हर्ष विषादोंके संकटमें पड़ गया। यह इसका महान दयनीय कार्य बन गया।

जाननके अनुभवके विश्लेषणका अभाव--जीव है, ज्ञायक स्वभाव है, इसे और किस प्रकारसे जाना जा सकता है। कोई पकड़नेकी चीज नहीं है कोई दूसरे को बतानेकी चीज तो है नहीं। यह तो आकाशकी तरह अमूर्त किन्तु ज्ञान स्वभाव मय एक चेतन द्रव्य है। कैसा अनुपम पदार्थ मैं हूँ, मुझमें कैसी जाननेकी विशेषता है ? यह जानता है, कहांसे जानता है, कैसे जानता है, कुछ भी मर्म नहीं पाया जाता पर जाननका अनुभव तो लबालब सबमें बसा हुआ है। किस ओरसे जान रहा है, इसके जाननेका क्या ढंग है, यह नहीं विदित होरहा है। जैसे किसी पुरुषके बारेमें यह कैसा उठ रहा, यह कैसा बैठ रहा, यह क्रिया स्पष्ट समझमें आती, इसी प्रकार यहाँ यह कुछ विश्लेषणमें नहीं आरहा है कि कैसे जाना।

विभावका विश्लेषण शक्य—अरे कोई वैभाविक बात हो तो उसमें कुछ यह विधान भी देखा जायगा कि यह कैसा राग करता है। जैसे अमूर्त भाव होने पर भी रागद्वेषके बारेमें यह कुछ-कुछ तो जाना जाता है कि देखो यह कैसे राग करता है, क्यों राग करता है। क्या कारण बन गया ? क्यों दुःखमें पड़ गया। अपने पर क्या संकट हैं इसका निर्णय कुछ-कुछ किया जा सकता है, क्योंकि यह परभावोंकी बातें हैं , बेकार की बातें हैं। लेकिन शुद्ध जाननके बारेमें यह विश्लेषण किया जाय कि यह क्यों जान गया, कैसे जान गया।

जानन आत्माका स्वभावधर्म—अरे भैया। मेरा तो जानन ही स्वयं सर्वस्व है। मेरा तो परिणमन ही जानन रूपसे हुआ करता है। उसे कैसे कहा जा सकता है। ऐसा शुद्ध, स्वच्छ जानन जिसका काम था ऐसा यह विलक्षण परमात्मतत्त्व आज

कैसा विचित्र जकड़ा हुआ है । आज कितना चित्तमें यह परमात्मतत्त्व उलझा हुआ है। यह बड़े खेदकी बात है।

बन्धनमें बन्धनसे सुलझनेका उपाय—भैया ! विपत्ति में पड़े हो तो बंधनमें पड़े ही पड़े बंधनसे निकलनेका उपाय सोचलो और यत्न करलो। अन्य उपाय क्या हो सकता है अब यह बंधनमें पड़ा हुआ भी बंधनसे निकलनेका उपाय क्या करे ? करे क्या, केवल साहस चाहिए उपाय तो स्पष्ट है। किसी परवस्तुमें मोह न करो तो कुछ अटका है क्या ? कुछ अधूरा है क्या ? आधा सत्ता है क्या ? जिससे कि यह डर लग रहा हो कि बिना अमुक-अमुक पदार्थोंका सहारा लिए तो मैं नष्ट हो जाऊँगा। कुछ डर है क्या ? तुम तो स्वतः सिद्ध हो, तुम तो नष्ट ही नहीं हो सकते हो। तुमको डर क्या है ? डर तो तुम किन्हीं गन्दी बातोंमें कररहे हो । मुझे लोग बड़ा अच्छा कैसे कहें, मेरी इज्जत लोग कैसे करें, समाजमें मैं बड़ा कैसे कहलाऊँ, इन्हीं चंद बातोंमें, अटपटे ढगोंमें तुमने अपनेको नेस्तनाबूद कर दिया है। तो उसका फल तो दुःख ही होता है, तो होओ दुखी।

विपरीत कदम—भैया, दुख मिटानेका उपाय स्पष्ट है, अपने सहज स्वभाव को जान जावो कि मैं स्वयं अपने आप कैसा हूँ। तूने तो उन बच्चों जैसी आदत बनाई कि जिसको अपने घरका बढ़िया खाना भी नहीं सुहाता और पड़ोसमें जाकर रूखी सूखी खानेके लिए दौड़ लगाता। ऐसे ही तू बिल्कुल बच्चा ही हो गया है। तूने भी नादान बच्चों जैसी प्रकृति बना ली है कि अपने आपमें बसे हुए परमानन्दकी तो पहिचान नहीं है, उस ओर तो आना नहीं चाहते हैं और बाहरके पदार्थ जिनमें शान्तिरस नहीं है, जिनमें आनन्द नहीं है उन पदार्थोंमें शान्ति पाना चाहते हैं।

बहिर्मुखता और आकुलता—शान्तिका जो निजी घर है उसकी तो दृष्टि छोड़ते हैं और जहां शान्तिनामक तत्त्व रंच भी नहीं है, कोरा जड़ है ऐसे बाह्य पदार्थोंमें शान्तिकी भीख मांगते फिरते हैं, डोलते फिरते हैं। यह सब क्या है ? बड़े खुश हो रहे हैं, कुछ पुण्यका उदय है, उसीको अपनी सारी दुनियाँ समझ रहे हैं भैया, मोहसे लथपथ खोटे प्राणियोंका समूह है, यह जिसमें तुम अपनी जानकारी बढ़ाना चाहते हो। जबतक सारी विडम्बनाओंसे मुख न मोड़ा जाय और अपने आपमें बसनेका उपाय न किया जाय तब तक इस जीवका उत्थान नहीं हो सकता है।

पुण्यका कैदी— यह कैदी सोनेकी बेड़ीमें है केवल यह कल्पना करलो कि लोहेकी बेड़ीकी जगहपर सोनेकी बेड़ी पहिन लिया है। चक्की तो वैसे ही पीसनी पड़ेगी जैसे कि लोहेकी बेड़ी वालेको पीसना पड़ती है सो इस जगतमें दो प्रकारके कैदी हैं कोई दरिद्रता, विपदा, अपमान आदि लोहेके बंधनसे जकड़ा है ; तो कोई सम्पदा, इज्जत इत्यादि स्वर्णकी बेड़ियोंके बंधनमे जकड़ा हुआ है । जकड़ा रहे, पर

आकुलताओं की चक्की तो सबको समान पीसना पड़ेगा। उससे न बच सकेंगे। इससे बचने वाला तो ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है।

आत्मज्ञानके बिना विडम्बना—एक परमार्थस्वरूप आत्माके उस ज्ञानानन्द चमत्कार का परिचय किए बिना यह संसारका प्राणी फुटवाल की तरह सम्पदा और विपदा की लातें सहकर और पिटकर डोलता रहता है। उसके यह समझ नहीं है कि शान्तिका पुंज तो यह मैं ही हूं। अरी दुर्वासनाओ! यह लोक कितना कितना बड़ा है। ३४० घन राजू प्रमाणका यह लोक है। क्या इस सारे लोकमें तेरी इज्जत फैल सकती है। अरे कुछ हिन्दुस्तानके लोगोंने जान लिया तो अभी अमेरिका यूरोप इत्यादि कितने ही देश पड़े हैं। ये तो यहां की बातें हैं पर सारे लोकमें कितने ही देश पड़े हैं। यदि थोड़ेसे क्षेत्रका मोह न छोड़ सके तो इसका फल यह है कि जितने क्षेत्रमें तेरी इज्जत नहीं है उतने क्षेत्र में निगोदिया जैसी अवस्था रखकर तुझे जन्मना पड़ेगा, मरना पड़ेगा।

जीवोंसे परिचयकी आशाका फल—जगतमें कितने जीव हैं? जगतमें अनन्ते जीव हैं, इन अनन्ते जीवोंमें से हजार, दो हजार, चार हजार, लाख दो लाख, दस लाख मनुष्य तुझे जान जायें यही तेरी चाह है ना? तो उन अनन्ते जीवोंके मुकाबले में ये लाख दो लाख जीव कितने हैं? क्या हैं, इतनोंने तुझे जान लिया तो क्या हुआ? अनन्ते जीवोंने तो कुछ भी नहीं जाना फिर थोड़े इन जीव का मोह नहीं छोड़ सकते हो? नहीं छोड़ सकते तो इसका यह फल होगा कि उन अनन्ते जीवोंसे मिल कर, और ऐसा मिलकर कि जो शरीर अनन्ते जीवोंमें अधिष्ठित है वही एक शरीर तेरे द्वारा भी अधिष्ठित होगा अर्थात् निगोदिया बन कर दुःख सहना होगा। क्योंकि तू यह हठ कररहा है कि मैं इस सब लोकमें घुल मिल जाऊं, तो लो अब इन अनन्ते जीवोंमें घुलमिलकर रहनेकी बात ही तो मिलेगी। अर्थात् उन निगोदिया जीवोंसे घुले मिले रहनेकी बात मिलेगी जहाँ एक शरीरके स्वामी अनन्ते निगोदिया जीव रहते हैं।

ज्ञानासनपर परको न बिठानेका संदेश—तेरा इस लोकमें शरण कोई नहीं है। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य जन्म पाया है और ज्ञान पाया है, श्रुत समागम पाया है तो अब तो अपने हितकी बात सोच लो, अपनेको अच्छे मार्गमें ढाल लो। बिना अपने आपको अच्छे मार्गमें ढाले, बिना अपने आपकी हितकी बात सोचे, बिना अपने आपको निर्मोही बनाए यह नरजीवन पाना असफल है। किसीको इस मेरे पर कृपाभाव नहीं है ऐसा अपने आपको ढाल लो और गुपचुप इस भयानक अटवीके अन्दर अपना कल्याण कर लो, नहीं तो यहांके गिरे इस लोकमें कहाँ जावोगे! किस अवस्थामें पहुँचोगे? आँखें मीचो सब विकल्पोंको छोड़ो, किसीको इस अपने ज्ञानके सिंहासन पर मत बिठाओ, किन्हीं भी मलिनोंको इस अपने ज्ञान सिंहासनपर मत बिठाओ।

ज्ञानासनपर स्वभावको विराजमान करनेका सन्देश—यदि अपने ज्ञान सिंहासन पर विठाओ तो केवल अपने स्वच्छ ज्ञानस्वभावको । पर यह जीव तो अपने स्वच्छ ज्ञायक स्वभावको इस ज्ञान सिंहासनपर विठानेके लिए असमर्थ होरहा है। यदि तुम्हें डोलना है तो अपने निर्दोष आत्माके पास निज प्रयोजनके लिए डोलो। सदोष आत्मा के पास रहनेमें तुम्हें क्या मिलेगा ? निर्दोष आत्मासे मिलनेके लिए तुम्हें कहीं हाथ पैर नहीं पीटना है, किन्तु अपने ज्ञानमें उस आत्माकी समझ बना लेना है । परम पुरुषार्थ यही है कि अपने आपमें अपने आपको निहारो । विकल्पोंको छोड़ो, अपनेमें ऐसी हिम्मत तो बनाओ।

व्यामोही जीव—जिन पर पदार्थोंके आश्रयमें इतने संकट सहे, उन्हींमें यह जीव दौड़ लगाता है। उन नादान बच्चोंकी तरहसे यह जीव अज्ञानी हो रहा है जिनकी चमकती हुई आग खेल बन गयी है। जैसे ४,६ माहका बालक चमकती हुयी आगमें हाथ रखना चाहता है इसी प्रकार इस चिपड़े चोपड़े वैभवको देखकर उनके लिये ही यह अपनी जिन्दगी समझता है। अरे कितना धन जुड़ जाये तो तू सुखी हो जायगा ! तीन लोकको सम्पदाके बीच ही तो तू है। तू कल्पनासे मान ले कि जो भी चीजें हैं, जो भी वैभव है वह मेरा है। क्योंकि जिसके पास जो वैभव है वह पेटमें तो रह नहीं सकता। जिनके पास धन वैभव है वे कल्पनायें करके बेवकूफ बन रहे हैं। अपना तो यह भाव हो कि हमें कुछ नहीं चाहिए।

स्वयं पुरुषार्थी एवं शरण—यह मैं आत्मा स्वयं सुरक्षित हूँ, गुप्त हूँ, इसमें कोई कमी नहीं है। बस अन्तरमें दृष्टि करो और अपने प्रभुकी शरणमें जाओ। अपने प्रभुके पास ही नियत होकर बैठे रहो तो सब संकट टल जायेंगे, जिन संकटोंके कारण संसारमें गोते लगा रहे हैं वे सब संकट निकल जायेंगे। ऐसी हिम्मत करो। पुण्यके फलको और पापके फलको एक समान देखो, यदि किसीको अपना शरण मानो तो केवल अपने ज्ञानस्वभावको ही। इसही उपायसे तेरा कल्याण होगा। यदि ऐसा करेगा तो भला है और न करेगा तो संसारमें रुलेगा। तेरे लिए संसारमें कोई दूसरा नहीं होगा। जैसे तुम्हारी दूकानमें कोई छत गिर गई, कूड़ेका ढेर लग गया। तो इस कूड़ेका ढेर लग गया तो उस कूढ़ेको तुम्हें ही उठाना पड़ेगा। कोई दूसरा नहीं उठायेगा। उस कूढ़ेको पाकर निकालनेके लिए तुम्हें ही यत्न करना पड़ेगा कोई दूसरा यत्न नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार तू ही स्वयं अपने विकल्पोंको छोड़कर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव कर तो तेरा कल्याण होगा।

अशुद्धोपयोगसे बचनेका उपाय परद्रव्यकी मध्यस्थता—शुभोपयोग और अशुभोपयोग अन्य द्रव्योंका आश्रय करके उत्पन्न होते हैं। सो अशुभोपयोग और शुभोपयोगके विकार से बचना है तो उनके आश्रयभूत पदार्थोंमें मध्यस्थता आनी

चाहिए। अर्थात् वे पदार्थ ज्ञेय रहना चाहिए, उनमें अनुराग न होना चाहिए। देखो— योग और उपयोगमें क्या अन्तर है? योग तो कहते हैं प्रदेशोंकी क्रियाको और उपयोग कहते हैं भावात्मक क्रियाको। क्रियावती शक्तिके विकाशको तो योग कहते और भाववती शक्तिके विकाशको उपयोग कहते हैं। तो उन बाह्य पदार्थोंमें मध्यस्थता आवे। उनको भिन्न जानकर, ज्ञेयमात्र समझकर उपयोग कियातो अशुभोपयोगसे निवृत्ति होती है। अब शरीर आदि समस्त परद्रव्योंमें माध्यस्थ्य भावको प्रकट करते हैं। यह जो आगेकी गाथा है उसमें कुन्दकुन्दाचार्य देवने सीधे शब्दोंमें रखा है, पर श्रीअमृतचन्द्रसूरीने जो टीका की है वह बहुत ही अच्छे ढंगसे की है। शरीरादिक पर द्रव्योंमें मध्यस्थता प्रकट करते है। याने मध्यस्थ तो यह है ही, किन्तु मोहवश जीव ऐसा नहीं मानता है, सो आकुलित होता है। उस आकुलताकी मुक्तिके लिए मध्यस्थ भाव प्रकट करते हैं—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ १६० ॥

गाथाका सीधा अर्थ है कि मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, मैं वाणी नहीं हूँ और देह, मन, वाणीका कर्ता भी नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ, अनुमोदना करने वाला नहीं हूँ। इतना ही अर्थ उस गाथाका है।

परद्रव्यमें मध्यस्थता—इस गाथाके बोलनेसे यह तात्पर्य निकलता है कि जब मैं ये कुछ नहीं हूँ तो इनमें मध्यस्थ होता हूँ। शरीरको, वचनको, मनको पर द्रव्योंको रूपसे पारहे हैं, जानरहे हैं इस कारण इन रूपोंमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। पक्षपातमें गिरना, माने कुछ इष्ट लगे उसे पक्ष कहते हैं। उसमें गिरना सो पक्षपात है। जब शरीर, वचन, मन, पर द्रव्य ही हैं, पराये ही हैं, पर ही हैं, तो मैं उनको इष्ट मानकर उनमें नहीं झुकता हूँ। सर्व पदार्थोंमें मैं मध्यस्थ होता हूँ। संसारमें सबसे बड़ी आपदा है तो पदार्थोंका सच्चा ज्ञान न हो पाना ही है। जहाँ यथार्थ ज्ञान नहीं हैं वहाँ शन्तिका रास्ता निकल ही नहीं सकता।

मनके विश्राममें ही शान्ति—अच्छा भैया, लो! बहुत बड़े होगये, धन मिल गया, वैभव हो गया, इज्जत हो गई, नेता हो गये, सब कुछ हो गये मगर शान्ति का मार्ग इनसे नहीं निकल सकता। जैसे किन्हीं बातोंमें मौज मान लिया और उसको ही शान्ति समझली यह उनकी बुद्धिकी बात है, पर शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति कहिए, विश्राम कहिए, एक ही बात है। जहाँ मन विश्राम पाता है उसको शान्ति कहते हैं। विश्राम कहिए, छुट्टी कहिए। जहाँ इन्द्रिय और मनको छुट्टी हो जाती है उसे शान्ति कहते हैं। अब बतलाइए, वैभव हो गया, इज्जत हो गयी, सब कुछ हो गया उसमें मस्त हो रहे हैं ऐसे पुरुषोंके मनकी कभी छुट्टी होती है क्या? खुश हो रहे हैं,

मौज कर रहे हैं, पार्टी कर लिया, जलसा मना लिया इसमें तो मनको बराबर आकुलता लगी रहती है। जहाँ कुछ करनेको काम पड़ा है वहाँ शान्ति हो ही नहीं सकती है। कृतार्थतामें शान्ति है।

करणीयताका अभाव—परमार्थसे देखो भैया! मेरे करनेको कुछ नहीं है, क्योंकि पर, पर ही है, अपने आप सब सुरक्षित है, उनका परिणमन उनमें होता है, लाखों उपाय करके कितनी ही हम भावना करें, कितना ही परिश्रम कर डालें, किसी पर द्रव्यमें हम परमाणु मात्र भी परिणति नहीं कर सकते, कैसे कर सकेंगे वस्तुस्वरूप तो इजाजत ही नहीं देता। ऐसे ज्ञानके बाद अन्तरमें ऐसा विश्राम मिलता है कि मेरेको करनेको कुछ काम ही नहीं है ऐसा ज्ञान भाव हो, कृतकृत्यताका भाव हो तो वहीं शान्ति मिलनी है। नहीं तो, धनमें, इज्जतमें, वैभवमें, सेवामें, इन क्रियाओंको करना है ऐसे आशयमें पड़े हुए हैं, अभी यह करना है, अभी वह करना है, ऐसी कर्तृत्वकी दौड़ लगाने वालोंको तो आकुलताएँ ही रहती हैं।

दूसरोंकी देखादेखीका परिणाम—भैया! लोकव्यवहारमें, राजकाजमें सब काम वोटोंपर चलते हैं, निर्वाचन करना है तो वोट लेते हैं, चुनाव करते हैं, ठीक है, किन्तु मुझे क्या करना है इस बातके लिये दुनियाँकी वोट लेने लगे तो फट्टाभार काम हो जायगा। दुनियाँसे वोट लेने लगे तो मोहकी वोट मिलेगी। घर सम्हाल कर रखना चाहिए, लड़के बच्चे पढ़ लिख कर योग्य बनें; तब फिर आरामसे, ठाटसे रहना चाहिए, एक निश्चित आजीविका रह जाये, इतना धन बना लेना चाहिये। ऐसी वोटें तो मिल जाँयगी मगर लोकजनसे यदि चाहो कि ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी प्रेरणाकी वोट मिले तो मुश्किल है। वोट ही तो ले रहे हैं वोटिङ्गका ढंग न सही, मगर दूसरोंको देखकर अपनेको तृष्णा हो जाय यह वोट ही तो है। तृष्णाकी हद है क्या? कहीं विश्राम है क्या? कितना कमालें तो शांति है। या हम इतने वैभवसे आगे न बढ़े इसकी कोई हद नहीं है क्योंकि एकसे एक बढ़े चढ़े लोग दुनियाँमें दिखते हैं। उनके बढ़े चढ़ेपनको देख कर रहा ही नहीं जा सकता है क्योंकि कृतार्थताकी बात ही उपयोगमें स्थान नहीं पा रही है।

जीवका त्रियोगसे पृथक्त्व—भैया! मैं शरीर, वचन, मन आदिको परद्रव्यके रूपमें जान रहा हूँ। इसमें धनीकी चर्चा भी नहीं है। जो मुझमें मिला है या जिसका मुझमें निमित्त नैमित्तिकभाव है ऐसी मोटी चीजें बताई जा रही हैं वे तीन है (१) शरीर (२) वचन और (३) मन सो इनमें मैं मध्यस्थ होता हूँ। मैं शरीर वचन और मनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। यह सीधी भाषा थी कि मैं शरीर नहीं हूँ, और यह उसकी विशद व्याख्या है कि शरीरके स्वरूपका आधारभूत मैं नहीं हूँ। जो इसके स्वरूपके आधारभूत हैं वे अचेतन द्रव्य हैं। मैं अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। धन्य है, वह ज्योति, जहाँ परद्रव्य अपने अपने स्वरूपास्तित्वमात्र स्वतंत्र नजर आते हैं।

स्वचेष्टाकी स्वयंप्रयोजकता—भैया ! यहां कोई इन वातोंको मान जाय इस जिद्दसे भी क्या प्रयोजन है । मान गया कोई तो मान गया और नहीं मानता तो न माने । वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा मान क्यों नहीं लेते ? ये आकुलताएँ यदि लगती हैं तो समझो कि अभी हमने वस्तुस्वरूप नहीं जाना । दूसरोंसे कहना जरूरी भी नहीं है ! उपदेश, प्रवचन या चर्चा जो होती है वह अपने भावोंको दृढ़ करनेके लिए होती है । अपने आपको लाभ पहुँचानेके लिए होती है । इसलिए चर्चा करना पड़ता है ? शास्त्र होता है, सुनते हैं, वांचते हैं, इस प्रयोजनके लिए कि हम आगे वढ़ें ।

निजपुष्टिके लिये आध्यात्मिक भोजन—जैसे कल भी भोजन खाया था अब वह समय गुजरनेके वाद आज फिर खायेंगे क्योंकि भोजनकी तृप्तिमें सिथिलता आ गई सो फिर भोजन करेंगे । इसी प्रकार कल भी चर्चा हुई थी, वांचा था, सुना था, वीचमें इतना समय गुजर गया तो कुछ सिथिलता आ गई । कुछ यहाँ वहाँ चित्त चलता रहा सो फिर अपनेको जरूरी होगा कि हितकी वातोंको सुनकरके, चर्चा करके, वाँच करके अपने आपको तगड़ा करनेका प्रयास करें । कहने सुनाने की दूसरों से क्या जरूरत है । सव अपने प्रयासमें हैं । अपने-अपने प्रयासोंको ध्यानमें लेकर वैठे हुए आध्यात्मप्रेमियोंका व्यवहार तो यह शास्त्रसभाका रूपक है ।

आत्माकी शरीरसे पृथक्ता—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर एक व्यंजन पर्याय है । उन व्यंजन पर्यायोंका आधारभूत अनन्ते पुद्गल परमाणु हैं । वह पुद्गल ही शरीर है, मैं शरीर नहीं हूँ । इसलिए मैं उन सव विपयके पक्षपातको छोड़ता हुआ अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ । भेदविज्ञानके प्रतापसे शरीरसे उपयोग निकल भागता है याने शरीर उसको छोड़ देता है और अमूर्त चैतन्य प्रकाशमय निज तत्त्वमें अपनी दृष्टि लगाता है, तव तो यह आत्मा इतना भारहीन हो जाता है कि वहाँ तो शरीर मानो है ही नहीं ।

शरीरके पक्षमें शरीरका विकट भार—मैं केवल अमूर्त चिन्मात्र हूं, आत्मतत्त्व का इतना ही मात्र शुद्ध वर्तन अनुभवमें रहता है । वह अनुभूति एक ऐसी दुनियां है कि जैसे मानों मुक्तिके आनन्दका, मुझे सेम्पुल सा ही मिला हो । हाय ! जव हम इस आनन्दसे हटते हैं याने आनन्दसे हटे हुए जव शरीरके पक्षमें हम गिरते हैं तो हम वोझवाले हो जाते हैं, वहाँ अनेक चिन्ताएँ आना प्रकृतिक वात है । जव यह मान लें कि मैं मनुष्य हूं, मै अमुकका वाप हूं, अमुकका अमुक हूं, इस श्रद्धामें आते हैं तो इसके अनुकूल तो वात करना ही पड़ेगा और वहीं है आकुलता । मगर क्यों आकुलता हो, मैं शरीरके स्वरूपका आधारभूत ही नहीं ।

वचनसे आत्माका पृथक्त्व— इसी प्रकार भैया ! वचनके स्वरूपका आधारभूत भी मैं नहीं हूं । वचनोंके स्वरूपके आधारभूत हैं भापा वर्गणा जातिके पुद्गल स्कंध भापावर्गणा जातिके पुद्गलका जो परिणमन है वह इस ढंगका है कि शब्दरूप

व्यंजन पर्याय बने। भाषावर्गणा स्वयं व्यंजनपर्याय है। और, उस व्यंजनपर्याय स्कंधसे जो भाषामें वचन प्रकट होता है वह भी व्यंजनपर्याय है। जैसे बंध व्यंजन पर्याय है, द्रव्यपर्याय है और वह जिन स्कंधोंमें परस्परमें होता है वह स्कंध भी व्यंजन पर्याय है। इसी प्रकार भाषावर्गणा एक स्कंध है और उससे वचन पर्याय प्रकट होता है। इन वचनोंके स्वरूपका आधारभूत मैं नहीं हूँ। वचनोंके स्वरूपका आधार भूत तो अचेतन द्रव्य है। मैं अचेतन द्रव्य नहीं हूँ।

आत्महितके लिये गुप्त तत्त्व—भैया, देखो कितना यह बखेड़ा लग गया, इससे तो यदि मैं न होता तो बड़ा ही अच्छा था। पर मैं हूँ तो, और मैं नहीं हूँ तो फिर 'मैं' की ध्वनि क्या होती? अरे मैं हूँ और फँस गया हूँ, अनादिसे फंसा चला आया हूँ, बंधनमें पड़ा हुआ हूँ? मेरे उच्च विवेककी, बड़प्पनकी बात सर्वोपरि कार्य एक यह है कि ऐसी झलक उत्पन्न हो जिससे कि यह बंधन सदा कालको समाप्त हो जाय। इसके लिए अंतरंगमें एक बड़ी तपस्या करना पड़ेगी, वह क्या तपस्या, कि ऐसी हिम्मत बनाना पड़ेगी कि मेरा सम्मान है तो क्या, अपमान है तो क्या, धनी हैं तो क्या, निर्धन हैं तो क्या? ये सब चीजें भिन्न, अहित असार दिखने लगें। और हर प्रयत्नोंसे अपने आपमें महान् पुरुषार्थ जगे इतनी बात बने तो बड़ेका बड़प्पन है, नहीं तो वह बड़प्पन क्या एक बड़ी शिखरसे जैसे गिरना होता है तो कितनी अधिक चोट लगती है। इसी प्रकार एक बहुत बड़ी स्थितिसे गिरना हो जायगा, तब इसकी अवस्था निगोदतक भी हो सकती है। फिर इसका क्या होगा?

एक बड़ी समस्या—भैया! बहुत बड़ा प्रश्न यह सामने है कि कैसे सारे संकटोंसे मुक्त होऊँ। यदि यह ज्ञानानुभव हो तो सब कुछ ठीक है। मन चंगा तो कठोटीमें गंगा। अगर अपने आपका ज्ञानानुभव है तो सब पाया, फिर अन्य किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है। अपना मन चंगा तो कठोटीमें गंगा। लोक व्यवहारमें ऐसा बोलते हैं, यह कहावत कहाँसे निकली? कि कुछ लोग गंगा नहाने जारहे थे उनसे एक चमारने कहा भैया। गंगा नहाने जारहे हो, मेरे भी दो पैसे लिए जावो, गंगाजीमें चढ़ा देना। लेकिन जब गंगाजी हाथ नकालें तब चढ़ाना। वहाँ लोगोंने कुछ प्रयास भी न किया यह सोच कर कि गंगा क्या हाथ निकाला करती है। वे लौटकर आये तो पूछा कि चढ़ाये थे मेरे पैसे? क्या गंगा माई ने हाथ निकाला था? तो उस ब्राह्मणने कहा कि गगा माई ने हाथ नहीं निकाला था। इसलिए नहीं चढ़ाया तो चमारने कहा अच्छा जावो, हम यहीं चढ़ाये लेते हैं, हम वहां १००-२०० मील नहीं जा सकते हैं। सो उसने क्या किया कि जिस काठको कठोतीमें चमड़ा डुवाते हैं उसके सामने यही जिद् करके बैठ गया। और जब गंगा-माईने हाथ निकाला तो उसको अपने दो पैसे चढ़ा दिए। भैया! इसपर न जावो कि हाथ कैसे निकाल दिया।

व्यन्तर लोग भी तो लौकिक कौतूहल करते हैं। खैर जो भी हो, तब से कहावत चल गया कि मन चंगा तो कठौतीमें गंगा।

वचन पक्षका त्याग व ज्ञानानुभूतिकी प्रेरणा—यदि अपने ज्ञान स्वरूपका अनुभव है तो सर्व समृद्धि पा ली। अन्य काम कुछ भी जरूरी नहीं है इसलिए अपने आपपर करुणा करना चाहिए कि जिस किसी उपायसे भी एकांत वास करके, संग छोड़ करके चर्चागोष्ठीमें रहकर, सेवायें करके, गुरुकी उपासना करके, देवभक्ति करके, वस्तु स्वरूपका अवगम करके इस ज्ञानानुभूतिको प्राप्त कर लेना चाहिए। पर द्रव्यका पक्षपात छोड़नेसे ही ज्ञानानुभव मिलेगा। यह वचन भी मैं नहीं हूँ। वचनोंके स्वरूप का आधारभूत अचेतन द्रव्य है, वह मैं नहीं हूँ।

द्रव्यमनसे जीवका पृथक्त्व—यह मन भी मैं नहीं हूँ। मन दो प्रकारके होते हैं। (१) द्रव्यमन और (२) भावमन। द्रव्यमनके स्वरूपका आधारभूत तो मनोवर्गणाका स्कंध है। मनोवर्गणाके स्कंधसे द्रव्यमनकी रचना है। इन पुद्गलोंमें भी कैसे कैसे विलक्षण स्थान हैं कि लो, मन जैसी सूक्ष्म चीज एक विलक्षण स्कंध वाली बात कहीं अटपट समस्त वर्गणाओंसे नहीं बन जायगी। उनके निर्माणका आधार मनोवर्गणा के ही स्कंध है। तो द्रव्यमनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य है। यह मैं अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं मन नहीं हूँ।

भावमनसे जीवका पृथक्त्व—भावमन, यद्यपि इस प्रकरणमें भावमन की चर्चा नहीं की जा रही है लेकिन फिर भी सोचो तो सही कि क्या भावमन मैं हूँ? भाव मन भी मैं नहीं हूँ। मनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पात्मक ज्ञान, अधूरा, छुटपुट ज्ञान, यह भी मैं नहीं हूँ। एक तो यह नैमित्तिक है और दूसरे इस ही कारण से वह अस्थायी है, विनाशीक है। इस कारण वह भाव मन भी मैं नहीं हूँ। भावमन के स्वरूपका आधारभूत भी मैं नहीं हूँ क्योंकि जैसे वचनरूप व्यंजन पर्याय द्रव्यपर्यायका आधारभूत पुद्गल परमाणु नहीं है, किन्तु भाषावर्गणाओंका स्कंध है, इसी प्रकार ज्ञायक स्वभाव भावमनका आधारभूत यह मैं नहीं हूँ, किन्तु यह मैं अशुद्ध उपादान हूँ। मैं तो परमार्थसे अशुद्ध उपादान नहीं हूँ, परम निश्चयकी दृष्टिमें जैसा अनुभवमें आया हो वही मैं हूँ। भावमनके स्वरूपका आधारभूत भी मैं नहीं हूँ। जो भावमनके स्वरूपका आधारभूत है, वह है व्यंजन पर्याय। भावमनका आधारभूत है अशुद्ध व्यंजन पर्याय, असमानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय।

मेरेमें मन वचन कायके कारणत्वका अभाव—इसी प्रकार मैं शरीर वचन और मनरूप नहीं हूँ। और इसका कारण भी मैं नहीं हूँ। शरीरके कारणरूप अचेतन द्रव्यता मेरेमें नहीं है। शरीरका कारण है अचेतन द्रव्य वह अचेतनता जो शरीरका कारण बन लेती है ऐसा वह शरीरका कारणभूत अचेतनद्रव्यपना मेरे नहीं है सो

मैं उनका कारण नहीं हूं। शरीरका उपादान कारण पुद्गल स्कंध है इसी प्रकार वचनका उपादान कारण पुद्गल स्कंध है, मनका भी उपादान कारण पुद्गल स्कंध है सो मेरेमें कारणता नहीं है, वे सबके सब मुझ कारणके विना, कारण होते हैं। कारण तो वे हैं और वे कारण बने रहते हैं, याने शरीर, वचन, मनके कारणभूत स्कंध कारण है पर मुझ कारणके छुये विना वे कारण बने रहते हैं। इसलिए मैं उनके कारणपनेका पक्षपात भी छोड़ता हूँ।

बहुतसे मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे पड़े हैं जो स्पष्ट कहते हैं कि यही मैं हूँ। शरीर मैं हूँ ऐसा नहीं कहते हैं। शरीर मैं हुं ऐसा कहें तो इसमें भी भेदविज्ञानकी बात कुछ घुसी है। शरीर है सो शरीर है, मैं हूं सो मैं हूं। और फिर कह रहे हैं कि शरीर मैं हूं। इस प्रकार दो चीजें बताकर मैं पना कहना, यह मिथ्यात्वका गहरा रंग नहीं है। मिथ्यात्वके आशयमें तो वहांसे दो चीजें मालूम ही नहीं पड़ती। जैसे ज्ञानी अद्वैत में ठहरता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी अद्वैतमें ठहर जाता है। हां मिथ्यादृष्टि का अद्वैत परतत्त्व बन गया। जैसे कोई नदीमें डूब रहा है और चिल्लाए तो उस समय कैसा साफ कहते हैं कि घबड़ाओ मत, यह मैं आया। इसी प्रकार इस शरीरमें भी अद्वैत बुद्धि हो जाय यह है मिथ्यात्व। वचन व मनकी भी अद्वैतवुद्धि मित्यात्व है।

मिथ्यात्वका द्वितीय स्थान—भैया ! अब दूसरे मिथ्यात्वका स्थान कहते हैं। यहां मिथ्यात्वके ५ स्थान सब बताए हैं। दूसरा स्थान कह रहे हैं कि मैं इनका कारण नहीं हूँ। नही तो, थोड़ा पढ़ लिख जानेपर कहते हैं कि भैया शरीर मैं नहीं हूँ, मगर शरीरका कारण तो मैं हूँ यह मिथ्यात्वकी दूसरी सीढ़ी है। अरे, मैं तो शरीर का कारण भी नहीं हूँ। शरीरका कारण पुद्गल स्कंध है। मैं मैं हूँ। शरीर पुद्गल स्कंध है। मैं इसका कारण नही हूं यहा तो निमित्तनैमित्तिकभाव चल रहा है। वह चले। निमित्तनैमित्तिक भाव चलनेके कारण कहीं कोई किसीका कर्म नहीं बन जाता। कर्ता कर्ममें तो यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म। जो परिणमता है इसको तो कहते हैं कर्ता और जो परिणमन होरहा है इसको कहते हैं कर्म। यदि परद्रव्योंका कर्ता हूँ तो इसका अर्थ यह निकला कि मैं परद्रव्योंका जो परिणमन है उसका जो स्वभाव है वहीं मैं हूँ। मिथ्यात्वकी पहली स्टेज तो परमें निजकी अद्वैतबुद्धि होना है। वहां तो दो चीजोंमें फर्क ही नहीं रहता है अगर मैं पर पदार्थोंका कर्त्तापन अपनेमें मानता हूँ तो यहाँ भी दो नहीं रहे निमित्तनैमित्तकमें भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और वे अपनी-अपनी जगह परिणमित हैं। चिढ़ाने वाला लड़का बीस हाथ दूर खड़ा और जिसको चिड़ाया उसमें चिड़ानेवालेसे कुछ नहीं आया, पर चिढ़ गया। यहाँ निमित्तनैमित्तक भाव है और देखलो फिर भी वे अन्य-अन्य पदार्थ हैं।

संक्षेपमें मिथ्यात्वके दो स्थानोंका निषेध—न तो मैं शरीर हूँ, न वचन हूँ,

न मन हूँ क्योंकि इनके स्वरूपके आधारभूत पुद्गल द्रव्य हैं। इसी तरह न मैं शरीरका कारण हूँ क्योंकि मुझ कारणके बिनाही ये पुदके कारण होते रहते हैं इसलिये उनके आधारपनेका पक्षपात छोड़ूँ।

तन मन वचनके कर्तृत्वका निषेध—अब और आगे देखो कि मैं उनका कर्ता भी नहीं हूँ। शरीर, वचन, मन ये स्वयं हैं, सत् हैं, उनके कारण अचेतन द्रव्य ही हैं वे मुझ कर्ताके बिना किये गये होते हैं इसलिये मैं उनका कर्ता नहीं हूँ। मैं इस तद्विषयक पक्षपातको छोड़ूँ और मध्यस्थ होऊँ इन तीनोंका मैं कर्ता नहीं हूँ। कर्ता उसे कहते हैं जो परिणमन करे। यः परिणति स कर्ता। शरीररूप परिणमन मैं नहीं करता। मैं तो चैतन्यात्मक परिणमन करता हूँ। वचन मनरूप परिणमन भी मैं नहीं करता। इस कारण मैं शरीरका, वचनका, मनका कर्ता नहीं हूँ।

कर्ताकर्मबुद्धिके निर्माणमें निमित्तनैमित्तक सम्बन्धका अनुदान—निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेके कारण और आगे बढ़कर जीवोंको कर्तापनका भ्रम लग गया है। पदार्थ तो सब स्वयं स्वयं सत् हैं। कभी अशुद्ध पदार्थ अपनी योग्यता माफिक परका निमित्तमात्र पाकर स्वयं की कलासे विकाररूप परिणमते रहते हैं। ऐसा ही यहाँ हो रहा है। यह मैं पर आश्रयभूत पदार्थोंकी ओर झुककर और निमित्तभूत कर्म विपाक का निमित्त मात्र पाकर मैं अपने ही परिणमनसे विकाररूप परिणमन करता रहता हूँ। होता है, इसमें भी अति खेदकी बात नहीं हैं। यह तो वस्तुव्यवस्था है, पर खेद तो इस बातका है कि अपनेको परका कर्ता मान ले, या पर मुझे परिणमा देते हैं ऐसा आशय हो जाय तो यह अज्ञानका आशय होना बड़े खेदकी बात है। यों तो अज्ञान मिट जानेके बादभी कुछ काल तक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश विकार परिणमन चलता रहता है। यह तो वस्तुव्यवस्थामें बात पहुँचती है। निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है। अपराध तो केवल परके कर्तृत्वके आशयसे और इसी कारण परके स्वामित्वके आशयसे हुआ करता है, परके कर्तृत्वका आशय न करें, ईमानदारीके साथ रहें तो जो रागादिक होते हैं उसके लिए भूल नहीं कही जा सकती। विकार तो वे हैं पर भूल नहीं हैं।

पुद्गलमें भी निमित्तनैमित्तिकभावव्यवस्था—ऐसे पुद्गलमें भी परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव होता रहता है। अग्निका सन्निधान पाकर पानी गर्म हो जाता है। सूर्यका सन्निधान पाकर पदार्थ विकाशमय हो जाते हैं। ऐसे यहाँ भी हो गया कि कर्म-विपाकका निमित्त पाकर रागद्वेश विकार हो गये। सब दुनियामें ऐसा चल रहा है पर खेदकी बात तो यह है कि यह परका आश्रय करता चला जा रहा है, परका स्वामित्व माननेका विकल्प करता जा रहा है, यह इसका अपराध बनता चला जा रहा चारित्रके उपदेशके सम्बन्धमें आत्मानुशासनमें एक लिखा है कि माचरंतु तपो घोरं तपःक्लेशास-हो भवान्। चित्तसाध्यान् कषायारीन् जयेद्यत्तदज्ञता।

साधु जनो ! तुम अगर घोर तप नहीं कर सकते हो तो मत करो, क्योंकि आप तपस्याके क्लेशोंको नहीं सह सकते। आप कोमल हो, सुकुमार हो, पर केवल विचारों के द्वारा ही जब कषायशत्रु जीते जा सकते हैं, सो विचारबलसे, ज्ञानबलसे, अगर तुम कषायोंको नहीं जीतते हो तो यह तुम्हारी बेवकूफी हुई। तप नहीं किया जा सकता है, मत करो ; पर कषाय तो केवल एक ज्ञानबलसे ही जीते जा सकते हैं, तो इतना भी यदि नहीं कर सकते हो तो यह तुम्हारी अज्ञानता है। इसी तरह यदि रागद्वेष तुमसे नहीं मिटते हैं तो न मिटने दो, मगर रागद्वेष परिणति रूपही मैं हूँ, यही सब कुछ मैं हूँ, इससे भिन्न ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हूँ ऐसा यदि ज्ञानबलसे निर्णय न कर सके तो यह तुम्हारी बेवकूफी है, यह महामोह है।

कल्याणमार्ग स्वयं—भैया ! संसारके संकटोंसे निकलनेका कितना सुगम मार्ग है। और, सबसे महान पुरुषार्थ, महान संयम, महान तप यही है जो सबसे निराला चैतन्यमात्र स्वरूप जानकर उस चैतन्यस्वरूपको ही तर्के, उस निज ज्ञायक भावमें ही तपें। यही एक उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। तो इतनी बात निर्णयकी यदि नहीं की जा सकती है तो यह बड़े खेदकी बात है।

कर्तृत्वकी व्याख्या व परकर्तृत्वका निषेध—मैं शरीरका, वचनका, मनका कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि यह मुझ कर्ताके बिना भी क्रियमाण होरहा है, चलरहा है। यद्यपि इस वचनके बलके प्रसंगमें आत्मामें भी कुछ उद्योग चलरहा है, केवल चल रहा है, ज्ञान, इच्छा और योग; जिसे लोक भाषामें कहते हैं ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो तीन बातें गुजरती हैं—कुम्हारके ज्ञान होना चाहिये, चिकीर्षा होना चाहिये अर्थात् घड़ा बनानेकी इच्छा होना चाहिये और उसके अनुरूप परिणमन होना चाहिये। तो इस प्रकार घड़ा बना लेता है, इसी प्रकार इस आत्मामें तद्विषयक ज्ञान हो, इच्छा हो और योग हो तो उसका निमित्त पाकर पुद्गलमें शरीररूप, वचनरूप ये परिणमन होरहे हैं। तो इस प्रसंगमें आत्मा भी कुछ काम कररहा है, मगर वह अपना ही काम कररहा है। बाह्य पदार्थोंमें परिणमन नहीं कररहा है। मुझ कर्ताके बिना ही वह सब किया जारहा है। इस कारण उनका मैं कर्ता नहीं हूँ।

आत्माके कारयितृत्वका समर्थनरूप प्रश्न—मैं उनका कराने वाला भी नहीं हूँ इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या पूज्य अमृतचन्द्रजीसूरिने की है। लोग यह सोच सकते हैं कि हम करनेवाले तो नहीं हैं, क्योंकि पर पदार्थोंके करनेसे कोई पर पदार्थ नहीं परिणमा, मगर कराने वाला कोई नहीं है यह कैसे कहा जारहा है ? कराने वाला तो उस क्रियारूप नहीं परिणमा करता। कराना तो उसे कहते हैं कि खुद न करे और बातें बनाये जिससे कि दूसरे लोग करें। तो उस शरीरका करानेवाला कोई नहीं है यह मत कहो। करानेमें तो परिणमनकी बात नहीं आती कि भाई हम उस पदार्थरूप

नहीं परिणमें, तो हम करानेवाले कैसे कहलायेंगे ? करानेवाला ऐसा होता ही है कि उस क्रियारूप तो न परिणमे, किन्तु वाहर ही रहकर करा दें। तो उस शरीरका, मनका, वचनका करानेवाला मैं कैसे नहीं ?

आत्माके कारयितृत्वके निषेधके दृष्टान्त—उत्तर—भैया, न्यायशास्त्रमें करानेवालेकीव्याख्याकी है–क्रियाप्रयोजकत्वं हि कारकत्वं, करानेवाला वह होता है जो क्रियाका प्रयोजक हो। जैसे आभूषण वनवाया, आभूषण कराया तो उस आभूषणका प्रयोजन जिसे मिलेगा उसे कहते हैं करानेवाला। एक घड़ा वनवाया, मुकुट वनवाया। अव मुकुट वनानेका प्रयोजन जिसे मिले, अर्थात् जो उस मुकुट आदिसे मौज लूटे, उसे करानेवाला कहते हैं। क्रियाका प्रयोजन जिसे मिले वह करानेवाला कहलाता है। आपने साड़ी वनवाई तो उस साड़ीका प्रयोजन आपको मिलेगा, मुनाफा आपको मिलेगा तो आप करानेवाले कहलायेंगे।

पदार्थके परिणमनका वास्तविक प्रयोजन—*अव यहाँ वास्तविक वात सोचो कि* क्रियाका प्रयोजन मिलता किसे है ? किसी भी पदार्थमें जो परिणमन होता है उसका प्रयोजन क्या है ? उस परिणमनका फल क्या है ? परमार्थसे परिणमनका प्रयोजन उस पदार्थकी सत्ता वनाये रहना है, और इससे आगे प्रयोजन नहीं है। यदि पदार्थ न परिणमे तो उसका सत्त्व नहीं रह सकता। सो परिणमनका प्रयोजन इतना ही है कि उसका अस्तित्व वना रहे। इससे आगे पदार्थोंकी परिणतिका प्रयोजन ढूँढ़ो जहाँ, वहाँ आकुलताकी वात होने लगती है। कोई चीज है किस ही रूप परिणमन कर रही हो उसके परिणमनका प्रयोजन है अस्तित्वकी रक्षा। तो सारी चीजें परिणम रहीं तो उनके परिणमनका प्रयोजन क्या हुआ ? फल क्या हुआ यही कि उन द्रव्योंकी सत्ता रह जाये। किसी प्रकारका भी परिणमन हो, उसका फल है सत्ताका वना रहना। वचन और मनकी भी जो परिणति है उनका भी प्रयोजन उनके स्वरूपका आधारभूत जो अचेतन द्रव्य है उसकी सत्ता कायम रहना। यह उनका प्रयोजन है।

आत्माके परकारयितृत्वका खण्डन—जव मैं शरीरका प्रयोजक नहीं हूँ तो करानेवाला कैसे हुआ ? और वचनका करानेवाला तथा मनका करानेवाला कैसे मैं हुआ ? जीव भी जो जिस रूप परिणमरहा है उसके परिणमनका फल है कि उस जीवकी सत्ता वनी रहे। जीवमें एक वात और विशेष होती है अचेतन द्रव्यकी अपेक्षा, क्योंकि इसमें आनन्द नामक गुण है ? सो यह आनन्द गुणरूप भी परिणम रहा है। आनन्द तो भैया सवको इष्ट है। निराकुलतामें रहना इसकी एक परम सुन्दर स्थिति है। तो आनन्द गुणके पर्यायका भी अनुभव जीवको होता है। तो एक प्रयोजन यह और जीवोंका आ गया कि निराकुलता होना। दो प्रयोजन आ गये। द्रव्यत्वके नाते सत्ता वनी रहे और चेतनाके नाते आनन्द चाहिए। इसके दो प्रयोजन हो गये। सो पर जीव जो कुछ करते हैं उनके परिणमनका प्रयोजन उनमें ही समाप्त है। दूसरे जीवोंके

परिणमनका प्रयोजन मुझमें नहीं आ सकता। वे अपनी सत्तासे हैं और अपने आनन्दको भोगते हैं, तो पर पदार्थोंके परिणमनका प्रयोजन उन ही में है। वे ही प्रयोजक हैं। इस कारण शरीर, वचन, मन आदिका करानेवाला अचेतन द्रव्य है। उनका प्रयोजक भी मैं नहीं हूँ। इस कारण इनके करनेके प्रयोजकपनेके पक्षपातको छोड़ता हुआ मैं मध्यस्थ होता हूँ।

भ्रमका गहरा रंग— भैया, यह कलुषता, यह मलिनमयता जीवोंमें विरुद्ध वातावरणको चिपटाये हुये है इसमें रंग जमाये हुए है। जैसे पानीमें रंग घोल देते हैं तो पानीमें सारा रंग रग-रगमें, बिन्दु-बिन्दुमें समाया हुआ रहता है और यह देखते हैं कि यह जल सारा लाल ही लाल होरहा है। उससे भी ज्यादा इस कलुषतामें रंग चढ़ा हुआ है। उस पानीमें रंग घोल दिया तो वहाँ भी पानीनें पानी है और रंगमें रंग है। पानीको रंगरूप नहीं किया गया। सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो पानीके नीचे रंग जम जाता है जबकि ५-६ घटे तक वैसा ही पानी भरा रहता है। न पानीमें रंग मिला, न रंगमें पानी मिला। पर यह जो कलुषता है, अज्ञान है, भ्रम है वह आत्माके सारे प्रदेशोंमें रँग गया है।

विजयका उपाय ज्ञानबल—ऐसी भयंकर स्थितिमे ज्ञानबलसे ही विजय संभव है। यदि हम यह समझ सकते हैं कि ये कलुषतायें, ये रागादिक विकार मेरे प्रदेशमें इस तरह घुल मिल गये हैं फिर भी मेरे स्वभावरूप नहीं हैं, स्वभावसे ये प्रथक् हैं तो ज्ञानवलसे, युक्तिवलसे जो जानकारी रहती है उस जानकारीसे हमारी विजय है। संसारको नष्ट करने वाला, संसारको उखाड़ने वाला सर्वप्रथम महान् उद्यम है, तो यह भेदविज्ञानका प्रताप ही है। जितने सिद्ध हुए वे भेदविज्ञानके प्रतापसे ही हुए हैं।

भेदविज्ञानके अभाव व सद्भावका प्रताप—भैया! जबतक भेदविज्ञान नहीं है तब तक संसारमें रुलना ही बना रहता है। मरे, फिर जन्म लिया, मरे फिर जन्म लिया, यहाँ विनाशीक इस भावमें जो कुछ देखता है, जो कुछ पाता है उसमें ही यह मोही जीव रम जाता है। रमने लायक इस जगतमें कुछ नहीं है कोई भी पर पदार्थ हों, विश्वासके लायक नहीं है। विश्वासके लायक तो यों नहीं है कि वे सब पर पदार्थ हैं। क्या मेरे मान लेने से वे सदा मेरे निकट बने रहेंगे? मेरे चाहनेसे क्या परका परिणमन मेरे माफिक बन जायेगा? कभी नहीं। इसी कारण ये पर पदार्थ विश्वासके योग्य नहीं हैं। कहाँ तो हम धनको चाह रहे हैं, कहाँ यह धन प्रकृत्या हमसे विदा है व हो रहा है। कहाँ तो हम परिवारके लोगोंको, पुत्रादिकको ऐसा चाहते हैं कि हमारे अनुकूल परिणमन हो पर वे अपने ही अनुकूल परिणम रहे हैं। मेरे अनुकूल परिणमन हो तो भी वे अपने स्वरूपके प्रयोजनसे उस प्रकार परिणम रहे हैं वे मेरे प्रयोजनसे नहीं परिणमते है। ऐसे पृथक् भिन्न-भिन्न पदार्थ ज्ञात हों तो जो एक संधि लग गई है उपयोगविशेषके माध्यमसे वहाँ भेदविज्ञानकी छेनी बड़ी दृढ़तासे यदि पटक दी जाय

और एकदम पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सब कुछ स्वरूप मर्म झलक जाय तो यह पुरुषार्थ बड़ा महान् पुरुषार्थ है। इस ही पुरुषार्थके द्वारा हम संसारके संकटोंको सदा के लिये दूर कर सकते हैं।

आत्माके परके अनुमोदकत्वका निषेध—भैया, यथार्थ स्वरूप निहारो तो, मैं तन, मन, वचनका कारण भी नहीं हूँ; तन, मन, वचनका कर्ता भी नहीं हूँ और तन, मन, वचनका करानेवाला भी नहीं हूँ। करने करानेकी बात तो दूर रहे, मैं उनकी अनुमोदना कर सकने वाला भी नहीं हूँ। ये पदार्थ स्वतन्त्र हैं। इनके करने वाले वे ही अचेतन द्रव्य हैं। उन अचेतन द्रव्योंका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। उनका मैं अनुज्ञाता नहीं हूँ क्योंकि अनुमोदक नाम किसका है? यह काम भला है, इत्याकारक रूपसे ज्ञानका परिणमन बनाना, इसको कहते हैं अनुमोदन। अनुमोदन एक परिणति है। यह परिणति उस जीवकी है जो अनुमोदना कररहा है। जिन पदार्थोंके सम्बन्ध में अनुमोदना की जारही है, उन पदार्थोंका यह मैं कुछ नहीं लगता। वे सब भिन्न हैं। वस्तुतः यह आत्मा अपने आपके भावोंका ही अनुमोदक होता है, किन्हीं पर पदार्थोंका अनुमोदक नहीं हो सकता। जो विकल्प अपने आपमें आये उन विकल्पोंकी अनुमोदना यहाँ इन बाह्यपदार्थोंमें नहीं कर सकते हैं। इस कारण मैं तन, मन, वचनका अनुमोदक भी नहीं हूँ। वे सबके सब, उनके कर्तृत्वकी अनुमोदना किये बिना ही, उनका अनुमोदक बने बिना ही ये सब पदार्थ किये जारहे हैं। मैं परकी अनुमोदना भी नहीं कर सकता हूँ करनेकी बात तो बहुत दूर है।

ज्ञातृत्वका भी प्रयोग स्वयंपर—मैं कभी पर पदार्थोंको जान भी नहीं सकता। पर पदार्थोंके बारेमें यहीं बैठे-बैठे अपने ही प्रदेशोंमें रहते-रहते, अपने ही स्वरूपास्तित्व में वर्तते हुए मैंने जो अपने ज्ञान गुणका परिणमन किया है उसको हम दूसरोंको बताना चाहें कि मैंने क्या किया, कैसा परिणमन किया? तो मेरे बतानेका उपाय यह ही है कि हमने इसे जाना, बेंचको जाना, घड़ीको जाना, ऐसा बताते चलें यह सब लोगोंको बतानेका उपाय है। तो अपने आपसे भिन्न पदार्थको सीधा मैं जान कैसे सकता? सो भैया, अपनेसे भिन्न पर पदार्थोंके ज्ञाता भी हम नहीं हैं, ज्ञाता हैं तो अपने आपके ज्ञाता हैं।

यह अपोहक भी परका नहीं—अच्छा, और देखो—हम पर पदार्थोंके त्यागी भी नहीं हैं। हम त्यागी हैं तो अपने आपके हैं। पर पदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प न रहें और हम उनके सम्बन्धसे अलग हो जावें इसीके माने तो त्याग है। यह अमूर्त आत्मा आकाशवत् निर्लेप, ज्ञानमात्र इन बाह्य पदार्थोंको छूता तक नहीं है, ग्रहण तो कर ही नहीं सकता। जिस चीजको हम ग्रहण नहीं कर सकते उसके त्यागकी बात ही हम क्या कहें? जैसे हम आपको कहने लगे कि आप बड़े अच्छे हैं, आप कैदसे छूट आये हो तो आप अच्छा तो नहीं मानोगे। हम तो आपकी प्रशंसा करते हैं कि आप कैदसे मुक्त हैं, तो भी आपको बुरा लगरहा है। क्यों बुरा लगरहा है? इसलिए

कि बात यह आ गई कि आप कैदमें थे। जो कैदी रहा हो, उसे ही कहा जा सकता है कि कैदसे छूट गया है। इसी तरह पर पदार्थोंको ग्रहण करने वाला यदि यह हो सकता होता तो यह कहा जा सकता था कि यह आत्मा परपदार्थोंका त्याग कर देता है किन्तु पर पदार्थोंको न तो यह ग्रहण करता है और न त्याग करता है।

स्वयंका ही स्वयमें असर—भैया! जैसे ध्वजा पवनका निमित्त पाकर अपने आपमें ही उलझती है। और अपने आपसे ही सुलझती है इसी प्रकार यह जीव कर्म-विपाकको निमित्त मात्र पाकर अपने ही कार्मोमें उलझता है और अपने आप ही विवेकसे सुलझता है। उसे कोई दूसरा कुछ नहीं करता है। जैसे कहते हैं कि इस अमुक आदमी पर अदालतमें जजका बड़ा प्रभाव पड़ा। कोई देहाती लोग, साधारण जन कच-हरीमें पहुचते हैं तो जजको देखकर डर जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं, बोलते नहीं बनता है तो कहते हैं कि देखो जजका कितना असर उसपर पड़ा कि होस-हवास खो बैठा है। पर वास्तवमें यह बात नहीं है। जजका असर नहीं पड़ा, किन्तु वह स्वयं अयोग्य था, देहाती था, ऐसे ही परिणामोंका था। उसका उपादान इसी योग्य था कि वह जजको निमित्त मात्र पाकर अपनी कमजोरीके कारण भयभीत हुआ। उसने स्वयं भय अपनेमें प्रकट कर लिया। वह अपने आपमें अपने ही कारणसे परको निमित्त करके अपने ही कलासे परिणमन कर गया। वहाँ पर भी दूसरोंका असर नहीं होता।

सर्वत्र किसीका किसी अन्यमें परिणमन नहीं—वस्तुस्वरूपकी सीमाको देखकर इस मर्मको देखा जाय तो यह विषय स्पष्ट हो जाता है। जिन्हें हम कहते हैं कि यह प्रेरक कारण है, उसका भी उपादानमें कुछ नहीं जाता है। जैसे देवदत्तने यज्ञदत्तका हाथ पकड़ कर जबरदस्ती कुछ काम करानेको मजबूर किया तो वहाँ पर भी देखनेमें यद्यपि प्रेरणा आती है, पर वस्तुस्वरूपको देखो तो देवदत्तकी क्रिया देवदत्तमें ही है, इतना झकझोर देने पर भी। और, झकझोर दिए गये पुरुषकी क्रिया उतनेमें ही है जितना कि वह है। लो, इससे बढ़कर और क्या प्रेरणा कही जायगी कि किसी पतली लकड़ीको हाथसे मरोड़ कर तोड़ दें? इतना करनेपर भी हाथने केवल अपने हाथमें ही क्रिया की, पर टूट सकनेकी योग्यता रखने वाली लकड़ीमें परिणति हुई है टूटनेकी याने हाथका निमित्त पाकर वह अपनेमें अपनी कलासे टूट गई। हाथ किसी अन्यको तोड़नेवाला हो तो लोहेको क्यों न तोड़ दे अथवा मजबूत लकड़ीको क्यों न तोड़ दे?

सभी सर्वत्र परसे विभक्त—सर्वत्र पर पदार्थ अपनी योग्यता माफिक परका निमित्त पाकर विकाररूप परिणमते रहते हैं। वे ही पदार्थ स्वभावरूपसे परिणमें तो वहाँ पर निमित्त बिना ही परिणमते रहते हैं। क्योंकि स्वभावपरिणमन निःसंगतामें ही होता है। चाहे कोई पदार्थ निमित्त पाकर परिणमें, चाहे कोई पदार्थ निमित्त पाये बिना ही परिणमें अर्थात् विकाररूप परिणमें या स्वभावरूप परिणमें, किन्तु सर्वत्र वे

पदार्थ अपनी ही कलासे, अपनी ही शक्तिसे, अपनी ही परिणतिसे, दूसरोंका द्रव्यत्व न छू कर, गुण न छू कर, पर्याय न छूकर परको अपनेमें अंगीकार न करके स्वयं परिणम रहे हैं। ऐसा वस्तुका स्वातन्त्र्य है जिस स्वातन्त्र्यके जाने बिना मोह टूट नहीं सकता। मोह तो वस्तुके सम्बन्धबुद्धिका नाम है। सम्बन्ध नहीं है ऐसा ज्ञान बने तो मोह वहाँ नहीं ठहर सकता। इस कारण मैं परका स्वामी नहीं हूँ, न कर्ता हूँ, न करानें वाला हूँ, न अनुमोदने वाला हूँ अतः सब पक्षोंको छोड़ कर मध्यस्थ होऊँ।

उक्त गाथाका सारांश—प्रवचनसारकी १६० वीं गाथाके प्रकरणमें अब तक यहाँ यह कहा गया है कि शरीर मैं नहीं हूँ, मन मैं नहीं हूँ, वचन मैं नहीं हूँ। शरीर तो आहार वगणाओंका स्कन्ध है; मन मनोवर्गणाओंका स्कन्ध है, वचन भाषावर्गणाओंका स्कंध है। इसके स्वरूपका आधारभूत भी यह स्कंध है। दूसरी बात यह कही गई है कि मैं उनका कारण भी नहीं हूँ। उनका कारण उनका ही उपादान है। तीसरी बात यह कही गई है कि मैं उनका कर्ता भी नहीं हूँ। उनके रूप जो परिणमे, सो ही उनका कर्ता है। मैं उनका करानेवाला भी नहीं हूँ, यह चौथी बात है। जो क्रियाका प्रयोजक हो वह करानेवाला कहलाता है। उनकी क्रियाका अर्थात् शरीर, वचन, मनकी परिणतिका मैं प्रयोजक नहीं हूँ। उन परिणतियोंका प्रयोजन उन ही पदार्थोंको मिलता है। इस कारण मैं उनका कराने वाला भी नहीं हूँ। और पाँचवीं बात कही गई है कि मैं उनके करनेवालोंका अनुमोदक भी नहीं हूँ। चाहे उनका करनेवाला उन्हींको देखा जाय तो भी मैं उन करनेवालोंका अनुमंता नहीं हूँ। इस प्रकार इन सबका पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ।

मध्यस्थताका भाव—मध्यस्थ कहते हैं जानने वालेको। जो किसी भी तरफ न ढुलके, मध्यमें रहे उसे मध्यस्थ कहते हैं। यह आत्मा मध्यस्थ तब कहलाता है जब मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहे, मध्यस्थ कहिए, साक्षी कहिए गवाह कहिए, एक ही बात है। जैसे कोर्टमें जज है वह भी यह कहने लगता है कि इसका गवाह कौन है? तो इसमें जजने हो यह सिखा दिया कि तुम अपना पक्षपाती लाओ, नहीं तो सीधा यह कहे कि इस घटनाका गवाह कौन है? जो गवाह है वह न तुम्हारा है न इसका है। गवाहका गवाह है, घटनाका गवाह है, साक्षी है, वह किसीका बन कर नहीं होता। अगर किसीका गवाह है तो इसका अर्थ है कि यह पक्षपाती है। अतः ज्ञाताद्रष्टामात्र रहना सो ही मध्यस्थता है, यह मध्यस्थता तब होती है जब यह बात चित्तमें समा जाय कि शरीर, वचन और मन ये पर द्रव्य ही हैं।

सो अब इस गाथामें परद्रव्यताका निश्चय करते हैं—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वंपि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देह, मन और वचन ये पुद्गलद्रव्यात्मक ही कहे गये हैं। और, ये पुद्गल द्रव्य भी अनेक परमाणु द्रव्यके पिंड हैं।

तन मन वचनकी अनात्मीयता व अपरमार्थता—इस गाथामें दो बातें सिद्ध की गई हैं कि एक तो शरीर, मन, वचन ये पुद्गल द्रव्य हैं, आत्मा नहीं है, चेतन नहीं हैं। दूसरी बात यह बताई गई है कि ये पुद्गल द्रव्य भी परमार्थभूत नहीं हैं। केवल एक-एक अणु परमार्थसे पुद्गल कहलाते हैं। इस रूपसे ये पुद्गल नहीं हैं किन्तु उन परमार्थ अनन्ते पुद्गलोंका जो पिंड बन जाता है उस रूप ही पुद्गल है। सो ये शरीर, वचन, मन तीनों ही पर द्रव्य हैं और वे पुद्गल द्रव्य हैं, इसका निश्चय यों होता है कि पुद्गल द्रव्यका स्वलक्षणभूत जो स्वरूपास्तित्व है वह इनमें पाया जाता है। पुद्गल द्रव्यका स्वरूप है रूपरसगंधस्पर्शमयी होना। जो रूपरसगधंस्पर्शमय है उसे पुद्गल कहते हैं।

द्रव्यका लक्षण—कोई भी द्रव्य हो, परमार्थभूत द्रव्य है क्या ? गुणसमुदायो द्रव्यं। गुणोंका जो समुदाय है वह द्रव्य है, आत्मा क्या चीज है ? आत्मा कोई पदार्थ हो अलग, और उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा आदि गुण भरे पड़े हों या उनमें स्थित हों ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा आदि जो शक्तियाँ हैं, उनका जो पुंज है वह आत्मा है। वस्तुकी जानकारी किसी भी मार्गसे की जाय किन्तु वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य मिलेगा, किसी भी प्रकारसे कहा नहीं जा सकेगा, जाननेमें आ जायगा, फिर भी वस्तुको इस मार्गसे बताया कि शक्तिका जो पुंज है वह आत्मा है। आत्मा कुछ अलग वस्तु नहीं है। तो क्या इसको इस मार्गसे नहीं बताया जा सकता कि गुण कुछ चीज स्वयं नहीं है ? आत्मा एक सत् है और उस सत्के जाननेके ये प्रकार हैं, विशेषण हैं जिन विशेषताओंके द्वारा हम सत्को जान जायें। चाहे भेदसे पहिचानकर अभेदको पहिचाने चाहे अभेदसे भेदको पहिचानें। जहाँ सत्का निर्णय है वहाँ कहीं भी भूल नहीं है।

अनेक अपेक्षायें व अनेक अवलोकन—ये अनेक जो दर्शन बन जाते हैं वे अभेद और भेदकी अपेक्षासे और समन्वय विना बनते हैं, नहीं तो वस्तुस्वरूपके बारेमें जितने दर्शन हो सकते हैं वे दर्शन किसी न किसी अपेक्षासे सब सही मिलते हैं। आचरण और मजहबकी बात नहीं कह रहे हैं, वे तो गलत भी मिल सकते हैं पर वस्तुस्वरूपके बारेमें जो भी दर्शन उठे है वे ज्ञानकी ही तो किरण हैं। वस्तुका दर्शन सर्व दृष्टियोंसे होता है इसलिए वे दर्शन उठे हैं। क्षणिकवादको ले लिया जाय तो क्या वस्तु क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन रूपकको नहीं ग्रहण करता है ? नवीन-नवीन रूपकको अगर न ग्रहण करें तो वस्तुओंका अभाव हो जायेगा।

भेदवादकी चतुर्दिशी प्रगति—इस भेददृष्टिमें केवल इतना ही नहीं है कि वस्तुमें क्षण-क्षणमें नई-नई परिणति होती है। यह भेदवाद केवल कालभेदको ही

बंधनबद्ध हैं, एक पर्यायरूपका जो परिणमन है उसका फल यह भोग रहा है । आत्म द्रव्यमें भी देखो । ज्ञायक स्वभाव आत्मतत्त्व अपने स्वरूपमें सुरक्षित है, स्वभावमय है। यह मात्र युक्ति और ज्ञानके द्वारा जाननेमें आरहा है। किन्तु इस दशामें जो असमान जातीय द्रव्यपर्याय बन गयी है इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायमें क्या यह ज्ञायक स्वभाव अपना कुछ चमत्कार व्यक्त कर पारहा है ? इस ज्ञायकस्वभावका चमत्कार तो वीतराग प्रभुमें देखिये । तो यह जो द्रव्यपर्याय होरहा है, यह द्रव्यपर्याय अनेक पदार्थोके एकरूपसे अवभासित हो रहा है। और, इसी कारण यह पदार्थ इन जीवोंकी ममताका आश्रयभूत बन जाता है।

द्रव्य द्रव्यका निमित्त नहीं—कोई द्रव्य किसी द्रव्यका निमित्त नहीं होता। कोई परमार्थवस्तु किसी परमार्थवस्तुका निमित्त नहीं होता है। मायाजाल ही माया-जालका निमित्त होता है। परमार्थ, परमार्थका निमित्त नहीं है और जिनकी परमार्थस्वरूप में रुचि है, दृष्टि है वे जीव यद्यपि पर्यायसे बंधनरूप पर्यायमें हैं, बद्ध पर्यायमें हैं किन्तु अबद्धका जो रूप है वह रूप इसके उपयोगमें बद्धसे हटकर अबद्ध बन गया है। परमार्थ दृष्टिकी निगाह बडी पैनी है, यह बद्धमें भी अबद्धको देख लेती है।

रुचिके प्रतिकूल सृष्टिका अभाव—बद्धकी रुचि करके हम अबद्ध होना चाहें तो नहीं हो सकते हैं। धनकी रुचि करके हम ज्ञानी होना चाहें तो नहीं बन सकते है ? और ज्ञानस्वरूपकी रुचि करके हम धनी बनना चाहें तो नहीं हो सकते हैं यदि हो जायें तो भइया, ज्ञानस्वरूपकी रुचिके साथ लगा हुआ जो शेष राग है यह धनिकावस्था उस रागका ही फल है। जैसे बड़े ऊँचे अफसरोंके पास रहने वाला चपरासी भी लोगों के लिए बड़ा बन जाता है, लोग उस चपरासीका भी आदर करते हैं । न करें तो काम बिगड़ जाय, इसी प्रकार इस ज्ञानमात्र प्रभुके निकट शेष रहने वाला जो राग है। उस रागका भी इतना बड़ा महत्त्व है कि जिसपर दुनिया न्योछावर होती है, हो रही है भैया ! राजा महाराजा इन्द्रादिके पद उस रागके प्रतापका ही फल है। ज्ञानकी रुचिसे तो मुक्तिका काम बनता है, उसका फल संसार हो ही नहीं सकता अतः ये सब बद्ध पदार्थ हैं। इन बद्ध पदार्थोकी रुचिसे तो बद्धता ही हाथ आयगी।

बद्धमें भी अबद्धता देखो—इसलिए भैया, जिस जगह बँधे हैं उस जगहसे भी उछल कर उपयोग द्वारा, अर्थात् बद्धपरिस्थितियोंमे भी निजस्वरूपास्तित्वके ज्ञानपूर्वक, परिणतियोंको उपेक्षित करके मानो ऐसा मैं हूँ ही नहीं, इस प्रकारकी वृत्तिसे बढ़कर यदि अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष और असंयुक्त निज ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति हो सके, दृष्टि हो सके तो हमने अपने आनन्दके लिए, सर्वस्व पा लिया किन्तु आनन्दविभूतिके अभावमें जड़विभूतियाँ और ये स्वप्नसामग्री कितनी भी प्राप्त हो जाँय, पर यदि अपने प्रभुका शरण नहीं पाया, उसकी क्षत्रछाया नहीं मिली तो फिर अपना इस संसारमें भटकना ही भटकना बना रहेगा।

सुनिर्णीत कार्यकी रुचि उपादेय—सब भाई यह ही चाहते हैं कि मेरा काम सही हो,

कालभेद व भावभेदका समन्वय—कालभेद जो कि इस सिद्धान्तमें मुख्य विवेचन का स्थान पाता है, कोई भी चीज दूसरे समयमें नहीं रहती। सो ठीक ही बात है। जिस समय जो द्रव्यमें पर्याय होती है वह होनेवाली पर्याय भी दूसरे समयमें नहीं ठहरती है। इससे वह पर्यायी द्रव्य क्या मिट नहीं गया ? हाँ मिट गया। भावभेदकी अपेक्षा देखनेपर पदार्थ स्वलक्षणमात्र हुए। हुआ क्या ! कि भेदभावसे वैशेपिकोंकी भाँति जो कुछ भी विलक्षण असाधारण भाव दृष्टिमें आया, इस दृष्टिसे बस एतावन्मात्र पदार्थ हैं, ऐसा निर्णय करलो। जैन सिद्धान्तने भी भावभेद माना है। पर उस भावभेदके माध्यमसे जो जाननस्वरूप, जाननभाव दृष्टिमें आता है, वह तद्भावमात्र है, जाननभाव स्वयं पदार्थ नहीं वन गया वस यही दृष्टिकोणका अंतर है।

सभी दर्शनोंकी वस्तुगतता—और भी अद्वैतवादको देखो, ब्रह्मवादको देखो, ईश्वरवादको देखो, कोई सा भी दर्शन लो, वस्तुस्वरूपके बारेमें वे सब दर्शन किन्हीं न किन्हीं अपेक्षाओंसे वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाले हैं, हाँ तो यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि पदार्थ जो कि गुणसमुदायात्मक शक्तिरूप हैं उन पदार्थोंसे अगर हम गुणोंकी निवृत्ति करना चाहें तो अशक्य है।

परमार्थमें व्यवहारका अभाव व मायामें व्यवहार अनावश्यक— ये शरीर, वचन, मन तीनों पुद्गल द्रव्य हैं, किन्तु ये परमार्थतः पुद्गल द्रव्य नहीं हैं, परमार्थभूत अनेक परमाणुओंका पिंडरूप पुद्गल द्रव्य है, जो परमार्थभूत पुद्गल द्रव्य हैं, उनमें तो किसी का व्यवहार ही नहीं चलता जैसे इस जीवमें जो परमार्थभूत आत्मतत्त्व है उसमें किसीका व्यवहार नहीं चलता। इसीप्रकार परमार्थभूत जो पुद्गल द्रव्य हैं उसमें भी किसीका व्यवहार नहीं चलता, न उससे भूख मिटेगी, न प्यास मिटेगी, न लेन देन होगा। कुछ नहीं होता। ये जितने व्यवहारमें आने वाले शरीर, वचन, मन हैं वे सब हैं, परमार्थ नहीं हैं। परमार्थसे तो व्यवहार भी नहीं चलता। और अपरमार्थसे व्यवहार करके लाभ क्या ? यह जीव परमार्थके स्वरूपको नहीं पहचाननेके कारण व्यवहारमें लगा रहता है। व्यावहारिक तत्त्वमें घुलमिल करके क्या परमार्थका काम हो सकता है? नहीं, वरन् व्यवहारका ही काम बनेगा ? व्यवहारात्मक अचेतनमें पड़नेवाला जीव भी व्यवहारजीव है।

तन मन वचनके पारमार्थिकताका अभाव—ये शरीर, वचन, मन आदि जिनके कारण विपदायें हैं, अहंकार है, ज्ञानानुभूतिसे हम दूर हैं, इन्हींको लक्ष्य करके हम मूर्ख बनकर संसारमें भ्रमण करके, जन्ममरणकी परम्परा बढ़ाते हैं। ये शरीर, वचन, मन परमार्थतः देखो कुछ भी चीज नहीं निकलते, मायारूप ही निकलते हैं, क्योंकि शरीर वचन मनके रूपसे जो ये पुद्गल स्कन्ध बने हैं वे अनेक परमाणुद्रव्योंमें एक पिंडरूप पर्यायके परिणमन हैं। ये स्वयं वास्तविक नहीं हैं। इनकी खुद कुछ सत्ता नहीं

है। इससे हे भाई! इनकी चर्चा ही न करो क्योंकि ये मायारूप हैं, परमार्थ नहीं हैं, अनेक परमाणुओंसे मिलकर इनका जाल गुथा हुआ है।

मायाकी चर्चाकी व्यर्थता—अरे! माया चर्चाके योग्य भी नहीं होना चाहिये, उदाहरणार्थ जैसे बड़े पुरुषके बारेमें अगर कोई झूठी बात कह दे, लिख दे तो वे उन बातोंका निराकरण भी नहीं करते, क्योंकि निराकरणमें पड़ जानेका अर्थ स्पष्ट यह है कि इन पुरुषोंने उसका कुछ महत्व आंका। वह महत्त्वके योग्य ही चर्चा नहीं है इसलिए निराकरणकी भी आवश्यकता नहीं होती। अतः जब ये शरीर, वचन, मन कुछ चीज नहीं हैं, मायारूप हैं, स्वयं कुछ सत् नहीं है, तो फिर इनके बतानेकी भी जरूरत क्या है? इनके सम्बन्धमें इतना जाननेकी भी जरूरत क्या? सो कहते हैं कि यद्यपि ये शरीर, वचन, मन, मायारूप हैं, पिंडपर्याय हैं तो भी अनेक परमाणु,-द्रव्योंका जो अपना-अपना लक्षण है उस स्वरूपको देखा जाय तो इस अवस्था में भी अनेकपना है। ये सब अनेक हैं।

व्यजंनपर्यायकी एकरूपता—ऐसा होने पर भी कथंचित् एक रूपसे ये अवभासित होते हैं। और देखही लो कि चौकीका एक खूंट हिलाया तो सारी चौकी हिल गई। तो कथंचित् एकरूप होरहा है कि नहीं? नहीं तो गेहुओंके ढेरकी तरह हम हाथोंसे इसे उठा ही नहीं सकते ये तो बिखर जायेंगे। क्या इस चौकीको उठानेमें बिखरती हुई किसीने देखा है? इसी प्रकार शरीर, वचन, मन इनका आधारभूत पुद्गल द्रव्य भी बिखरे हुये एक पिंडकी पर्याय रूपसे नहीं होता। यदि पुद्गलकी पिंडपर्याय न हो तो शरीर, वचन, मन ये कुछ हो ही नहीं सकते। ये तो एकरूपसे अवभासित होरहे हैं। पर्याय ऐसा ही है, निषेध नहीं किया जा सकता है।

व्यजंनपर्यायमें भी सबका एकत्व—फिर भी प्रज्ञाबलसे देखो तो सब सर्वत्र अपने-अपने स्वरूपास्तित्वकी नजरसे अपने-अपने स्वरूपमात्र हैं। द्रव्यसमूहात्मक ये सब स्कन्ध मायारूप हैं। इन सबके अन्दर जो एक-एक यूनिट अपना-अपना एकत्व लिए हुए सत् है वही परमार्थ है। तो अब जितने ये शरीर दिखते हैं, जितने मनुष्य दिखते हैं, भले ही कोई धनी हो गया, कोई पंडित हो गया, कोई कुछ हो गया, हो गये हैं पर वहाँ कुछ भी नहीं हो गया है, सब मायारूप हैं। वहाँ परमार्थभूततत्त्वका तिरोभाव हो गया है, अभाव नहीं हुआ। स्कंधकी सकलमें भी जो परमार्थभूत पुद्गलद्रव्य हैं उनका तिरोभाव हुआ याने उनका जो निजका कुछ काम है, वह भी नहीं हो पाता।

स्वभावका तिरोभाव ही बन्धन—एक परमाणु एक समयमें १४ राजूतक गति कर लेता है। अब उसकी यह गतिकला इस स्कंधमें फँसे हुए परमाणुके अन्दर व्यक्त हो सकती है, क्या? भले ही इस स्कंधमें स्वरूपास्तित्व सब परमाणुओंका न्यारा-न्यारा है, पर कुछ न्यारापनका चमत्कार भी तो दिखा देवें! नहीं दिखा सकते हैं, क्योंकि वे अभी

वंधनवद्ध हैं, एक पर्यायरूपका जो परिणमन है उसका फल यह भोग रहा है । आत्म द्रव्यमें भी देखो। ज्ञायक स्वभाव आत्मतत्त्व अपने स्वरूपमें सुरक्षित है, स्वभावमय है। यह मात्र युक्ति और ज्ञानके द्वारा जाननेमें आरहा है। किन्तु इस दशामें जो असमान जातीय द्रव्यपर्याय वन गयी है इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायमें क्या यह ज्ञायक स्वभाव अपना कुछ चमत्कार व्यक्त कर पारहा है ? इस ज्ञायकस्वभावका चमत्कार तो वीतराग प्रभुमें देखिये। तो यह जो द्रव्यपर्याय होरहा है, यह द्रव्यपर्याय अनेक पदार्थोंके एकरूपसे अवभासित हो रहा है। और, इसी कारण यह पदार्थ इन जीवोंकी ममताका आश्रयभूत वन जाता है।

द्रव्य द्रव्यका निमित्त नहीं—कोई द्रव्य किसी द्रव्यका निमित्त नहीं होता। कोई परमार्थवस्तु किसी परमार्थवस्तुका निमित्त नहीं होता है। मायाजाल ही माया-जालका निमित्त होता है। परमार्थ, परमार्थका निमित्त नहीं है और जिनकी परमार्थस्वरूप में रुचि है, दृष्टि है वे जीव यद्यपि पर्यायसे वंधनरूप पर्यायमें हैं, वद्ध पर्यायमें हैं किन्तु अवद्धका जो रूप है वह रूप इसके उपयोगमें वद्धसे हटकर अवद्ध वन गया है। परमार्थ दृष्टिकी निगाह वडी पैनी है, यह वद्धमें भी अवद्धको देख लेती है।

रुचिके प्रतिकूल सृष्टिका अभाव—वद्धकी रुचि करके हम अवद्ध होना चाहें तो नहीं हो सकते हैं। धनकी रुचि करके हम ज्ञानी होना चाहें तो नहीं वन सकते है ? और ज्ञानस्वरूपकी रुचि करके हम धनी वनना चाहें तो नहीं हो सकते हैं यदि हो जायें तो भइया, ज्ञानस्वरूपकी रुचिके साथ लगा हुआ जो शेष राग है यह धनिकावस्था इस रागका ही फल है। जैसे वड़े ऊँचे अफसरोंके पास रहने वाला चपरासी भी लोगों के लिए वड़ा वन जाता है, लोग उस चपरासीका भी आदर करते हैं। न करें तो काम विगड़ जाय, इसी प्रकार इस ज्ञानमात्र प्रभुके निकट शेष रहने वाला जो राग है। उस रागका भी इतना वड़ा महत्त्व है कि जिसपर दुनिया न्योछावर होती है, हो रही है भैया ! राजा महाराजा इन्द्रादिके पद उस रागके प्रतापका ही फल है। ज्ञानकी रुचिसे तो मुक्तिका काम वनता है, उसका फल संसार हो ही नहीं सकता अतः ये सब वद्ध पदार्थ हैं। इन वद्ध पदार्थोंकी रुचिसे तो वद्धता ही हाथ आयगी।

वद्धमें भी अबद्धता देखो—इसलिए भैया, जिस जगह वँधे हैं उस जगहसे भी उछल कर उपयोग द्वारा, अर्थात् वद्धपरिस्थितियोंमे भी निजस्वरूपास्तित्वके ज्ञानपूर्वक, परिणतियोंको उपेक्षित करके मानो ऐसा मैं हूँ ही नहीं, इस प्रकारकी वृत्तिसे वढ़कर यदि अवद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष और असंयुक्त निज ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति हो सके, दृष्टि हो सके तो हमने अपने आनन्दके लिए, सर्वस्व पा लिया किन्तु आनन्दविभूतिके अभावमें जड़विभूतियाँ और ये स्वप्नसामग्री कितनी भी प्राप्त हो जाँय, पर यदि अपने प्रभुका शरण नहीं पाया, उसकी छत्रछाया नहीं मिली तो फिर अपना इस संसारमें भटकना ही भटकना वना रहेगा।

सुनिर्णीत कार्यकी रुचि उपादेय—सव भाई यह ही चाहते हैं कि मेरा काम सही हो;

जिसने अपनाजो काम माना है उसको उसमें ऐसी रुचि है कि मेरा काम बने। पर इतना तो निर्णय करलो कि वास्तविक मेरा काम है क्या ? जो वास्तविक काम हो, सारभूत काम हो, सदा आनन्द देने वाला काम हो उस कामकी अवश्य रुचि होनी चाहिए। वह काम है निराकुलताकी प्राप्ति। निराकुलता मिलती है निराकुलज्ञानस्वभाव का आलम्बन लेनेसे। इसके लिए सब कुछ भूल जाओ।

जुआरी जग—यह सब जुआरियों जैसा प्रकरण है। जिस प्रकार जुआरियोंके बीचमें यदि कोई खेलनेवाला जुआरी आजाय तो जुआरी उसे फिर उठने नहीं देते "बस इतना ही दम था" आदि कितनी ही बातें कहते हैं उसे न उठनेको। और, उसे उठने नहीं देते हैं। उसे बैठना ही पड़ता है। इसी तरह इस लोकव्यवहारमें बैठकर प्राणी लोकव्यवहारसे उठता नहीं है और न लोक व्यवहार उसे अनेक युक्तियोंसे उठने देता है। हम इस लोकसे परे नहीं हो सकते। पर आत्मन् ! अपनी दया इस ही में है कि तू अपने स्वभावकी दृष्टि द्वारा लोकव्यवहारसे उठ। इस परसमूहके बीच तुझे उनसे कुछ लाभ नहीं होगा। तेरा तू, तू ही है, तुझमें परद्रव्यपना है ही नहीं फिर परद्रव्यसे तुझमें कुछ आ कैसे सकता है ?

अब इस बातकी सिद्धि करते हैं कि आत्मामें परद्रव्यपना नहीं है, और पर द्रव्यका कर्तापना भी नहीं है। अर्थात् न तो यह आत्मा परद्रव्यरूप है और न यह आत्मा परद्रव्यका कर्ता है, इसको सिद्ध करते हैं।

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिण्डं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ १६२ ॥

न तो मैं पुद्गलमय हूँ और न वे पुद्गल मेरे द्वारा पिंडरूप किए गए हैं, इस कारण न मैं देह हूँ और न देहका कर्ता हूँ।

मन व वचन शरीरमें ही गर्भित—इस प्रकरणमें जो शरीरकी चर्चा की जा रही है इसमें ही मन और वचन गर्भित हैं। वैसे तो शरीरमें मन भी आगया, वचन भी आगया, पर क्रियामें ये तीनों कहे जाते हैं—शरीर, वचन और मन। शरीरकी क्रियामें चीजको ग्रहण करना, पकड़ना, छूना, उठाना, धरना यह चलता है और वचनकी क्रिया इस शरीरके अङ्गोपाङ्गकी क्रियासे कुछ भिन्न मालूम होती है, और मनका कार्य चिंतन करना, विचार होना यह दोनों शरीर वचनसे कुछ प्रथक् मालूम होते हैं, फिर भी तीनोंका मूल अधिष्ठान शरीर ही है इस कारण तीनों एक साथ कहे गये हैं। पर शरीरमें ही शरीर गर्भित है, वह पिंडरूपसे ही अलग चीज नहीं है, और द्रव्यवचन हैं वे भी इस शरीरसे बिल्कुल अलग चीज नहीं हैं। यद्यपि वचन शरीरसे भिन्न भाषावर्गणाओं का परिणमन है फिरभी जो भाषावर्गणायें वचनरूप परिणत होते हैं वे शरीरके मुख, कंठ जिह्वा आदिके सम्बन्धसे होते हैं इस कारण मन और वचन भी उस शरीरके अन्दर आते हैं। तो शरीरकी बात कह देनेसे शरीर, मन, वचन, तीनोंकी बात आ जाती है।

पुद्गलमें ही पूरण व गलन—इस प्रकरणमें निर्धारित किया गया पुद्गलात्मक जो यह शरीर है यह परद्रव्य है, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो अपुद्गलमय हूँ, अर्थात् मेरा पूरने, गलने आदिका स्वभाव नहीं है। जैसे परमाणु-परमाणु घुल-मिल कर पूरित हो जाते हैं और उन मिले-जुले स्कंधोंसे गल कर गलित होजाते हैं ऐसा आत्मामें नहीं होता कि घुल-मिलकर पूरित हो जाय और उन आत्माओंमेंसे कुछ निकलकर गलित हो जाय, ऐसी आत्मा नहीं है इस कारण आत्मा अपुद्गलमय है। पुद्गलका स्कध होता है, जीवका स्कंध नहीं होता है। निगोदके शरीरमें अनन्ते जीव रहकर भी वहाँ जीवका स्कंध नहीं हो सकता। जीव द्रव्यमें समानजातीय द्रव्यपर्याय होती ही नहीं। इस कारण भी जीवका जीव निमित्त नहीं होता। जीवके किसी भी कार्यमें दूसरा जीव निमित्त नहीं होता लोकव्यवहारमें जिसको निमित्त कह देते है कि भाई! इस जीवका उद्धार देखो इस जीवके निमित्तसे हुआ है वह केवल लोकव्यवहारमात्र है, पर निमित्तकी अपेक्षासे जहाँ विवेचना और विश्लेषण किया जाय वहाँ यह बात नहीं घटित होती है, जीवका जीव किसी भी कामके लिये निमित्त नहीं है।

निमित्तभूत और आश्रयभूत कारण—कारण दो प्रकारके माने गये हैं--एक निमित्त कारण, दूसरा आश्रयभूत कारण। जीवके विभाव परिणमनमें दो प्रकारके कारण आते हैं। निमित्तभूत कारण और आश्रयभूत कारण। उनमेंसे जीवके विभावके लिये निमित्तभूत कारण तो केवल कर्म है। दूसरा कोई निमित्तभूत नहीं है। पर भाई, विभाव परिणमनके लिये आश्रयभूत कारण अनेक हैं। पंचेन्द्रिय भोगके साधन, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और अनेक प्रकारके वचन, ये सब आश्रयभूत कारण हैं, किन्तु आश्रयभूत कारणका जीवके विभावके साथ, अन्वयव्यतिरेक नहीं होता। और निमित्त भूत कारणके साथ जीवके विभावका अन्वयव्यतिरेक होता है। जिसका जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं होता वह कैसे निमित्त है? सुन्दर तस्वीरें जीवके खोटे भाव बनानेके कारण तो हैं पर वे आश्रयभूत कारण है। उस फोटोको देखकर कोई खोटे भाव बना भी सकता है कोई नहीं बना सकता। आश्रयभूत कारणके साथ विभावमें अन्वयव्यतिरेक हो ही नहीं सकता है। जिसके होनेपर ही हो, वह अन्वय है और जिसके न होनेपर हो ही नहीं सकता, वह व्यतिरेक है। जैसे कर्मका उदय होनेपर ही जीवका विभाव हो सकता है और कर्मोका उदय न रहने पर जीवमें विभाव हो ही नहीं सकता है, ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध जीवके विभावका कर्मके साथ है। इसलिए जीवकी विभाव परिणतिका निमित्तभूत कर्म है। पर कर्मके अतिरिक्त अन्य पदार्थ सब आश्रयभूत हैं।

निमित्त, आश्रय व उपादानके निर्णय—निमित्तभूत कारण और आश्रयभूत कारणकी ऐसी व्यवस्थाको सामान्य दृष्टिसे देखनेपर यह निर्णय किया जाता है कि एक उपादानपर दूसरे कारणका प्रभाव तो पड़ा। और, साइन्समें तो ये बातें बहुत-बहुत

बार विचारमें आती होंगी कि अमुक चीजका मेल होनेसे देखो अमुक चीजपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ा ? हाईड्रोजन और आक्सीजन गैसोंके मिलनेसे पानी बन गया। देखो कितने गजबका प्रभाव पड़ा ! इस व्यवहारदृष्टिसे हम जल्दी देख डालते हैं कि इन चीजोंका सम्बन्ध होनेसे अमुक चीजपर गहरा प्रभाव पड़ा। पर इस निगाहसे क्यों नहीं देखते कि अमुक पदार्थने इस चीजका सान्निध्य पाकर अपने आपमें अपनी स्वतंत्र-शक्तिसे देखो कैसी गजबकी परिणति बना डाली है। परिणति वह एक है, पर देखने की दृष्टियाँ दो हैं—एक आश्रयभूत, दूसरी स्वरूपास्तित्वरूप अर्थात् सत्में रहने वाली बातका वर्णन अधिक हो, इस दृष्टिसे अगर विवेचन किया जाय तो यही कहना होगा कि देखो पानीमें भी कैसी कला है कि वह आगका सान्निध्य पाकर कैसी अपनेमें संतप्तताकी परिणति बना डालता है। यह है एक सत्यपद्धतिका विवेचन।

सत्यका अर्थ—सत्यका यहाँ यह अर्थ करना है कि सति भवम् सत्यम्। सत् पदार्थों में जो होता है उसे सत्य कहते हैं। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है पर सत् नहीं है, इसका अर्थ यह है कि सच है। हिन्दीका शब्द सच है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध सच तो है पर सत्य नहीं है। सच तो यों है कि बराबर देखा जो जारहा है। इस निमित्त उपादानका अन्वयव्यतिरेक है इसे झूठ नहीं कहा जा सकता मगर सत्य नहीं है, सत्यका अर्थ है किसी सत् पदार्थमें ही होने वाली परिणति। सम्बन्ध व संयोग द्विष्ठ होता है यानी दोमें स्थित होने वाला होता है। पर यह सम्बन्ध उन दोमें कुछ परिणति वाली चीज है क्या ? कुछ नहीं। परिणति वाली चीज है ही नहीं। दो पदार्थोंको अपने-अपने सत्स्वरूपमें प्रथक्-प्रथक् रहते हुए किसी स्थितिमें, किसी क्षेत्रमें, किसी पद्धतिमें उन दोनोंके रहजानेका नाम सम्बन्ध है। सम्बन्ध होनेके कारण उनके अपने सतोंमें कोई सम्बन्धनामक परिणति होती हो ऐसा नहीं है। किसी एक सत्में होने वाली बातको सत्य कहते हैं। जीवमें रागद्वेष होना यह सत्य है क्योंकि जीवनामक सत्में रागद्वेष परिणमन हुये इसलिये सत्मे होने वाली बातको सत्य कहते हैं।

अध्रुव और ध्रुवसत्य—भैया, रागद्वेष परिणति सत्य तो है, किन्तु यह सत्य अध्रुवसत्य है, ध्रुव सत्य नहीं है। ध्रुवसत्य वह होता है जो सत्में सहज है, जो अनादिसे अनन्तकालतक एकस्वरूपमें है। घटाबढ़ीके बिना जो बात हो वह सत्य, ध्रुव सत्य है, किन्तु सत्का अध्रुवरूप परिणमन, जो कि विनष्ट हो जायगा, वह अध्रुव सत्य है। अध्रुव सत्य भी दो प्रकारके होते हैं, एक वैभाविक अध्रुव सत्य और एक स्वाभाविक अध्रुव सत्य। वैभाविक अध्रुव सत्य तो है रागद्वेष विषय कषायके भाव और स्वाभाविक अध्रुव सत्य है केवल ज्ञान परिणमन, सत्यानन्द परिणमन, ये स्वभाविक अध्रुव सत्य हैं क्योंकि ये निमित्तके बिना होते हैं, केवल अपने आपके द्रव्यत्व गुणके कारण होते हैं। इसलिए केवलज्ञान आदिक स्वाभाविक अध्रुव सत्य

हैं। और, चूँकि ये सब परिणमन हैं और परिणमन एक-एक समयमें होते हैं, दूसरे समयमें नहीं रहते, इसलिए ये अध्रुव हैं और इस सत् आत्मामें होते हैं इस कारण ये सत्य हैं। तो केवलज्ञान, सत्यानन्द ये सब अध्रुव सत्य हैं। ध्रुव सत्य तो केवल अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभाव है, क्योंकि यह स्वभाव अनादि अनन्त है, अहेतुक है।

शरीरादिको सत्य कहना प्रकट मिथ्यावाद—तव भैया! जहाँ केवलज्ञानतक भी अध्रुव सत्य है, वहाँ फिर परद्रव्यकी बात लपेटना कि मैं शरीर हूँ, मैं वचन हूँ, मैं मन हूँ, मैं इसका कर्ता हूँ, मैं इसका कारण हूँ, ये ध्रुव सत्यके अंशको भी पा सकते हैं क्या? ये सब असत्य हैं। उसके सत्में होने वाले नहीं हैं। मैं तो अपुद्गलमय हूँ। इस लोकके बीच रहते हुए भी मैं सबसे अत्यन्त अछूता हूँ। आकाशमें और मेरेमें अन्तर है तो एक असाधारण चैतन्यस्वभाव का है, नहीं तो अन्तर ही क्या है? जैसा अमूर्त आकाश द्रव्य है वैसा ही यह मैं आत्मा हूँ, अमूर्त हूँ, आकाश एक अचेतन पदार्थ है, यह मैं एक चेतन पदार्थ हूँ।

चैतन्य शृङ्गार या अभिशाप—यह चैतन्यस्वरूप इस आत्माका महत्त्व बढ़ाने के लिए, प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए, शृङ्गार बढ़ानेके लिए होना चाहिए, लेकिन खेदकी बात है कि यह चेतनता मेरे लिए वर्तमानमें अभिशाप बनी हुई है। कल्पना करो कि मुझमें यदि चेतना न होती और मैं इस पुद्गलकी तरह, आकाशकी तरह बना रहता तो आकुलताएँ तो न होतीं। जो मेरा स्वरूप तीन लोकके अधिपतित्वकी शोभाके लिए है उस स्वरूपरत्नको हम एक अपराध जैसा कारण बना रहे हैं। यह मैंने कसूर किया चेतन बना। चेतनता कसूरमें शामिल होने लगी। यह अपने लिए एक लज्जाकी बात है। मैं तो पुद्गलमय नहीं हूँ। जिन पुद्गलोंसे एकत्व बनाकर एकसम्बन्धता करके हम संश्लिष्ट होते हैं वे समस्त पुद्गल मैं नहीं हूँ। मेरे पुद्गलात्मक शरीरपना नहीं है। भेदविज्ञानके अभ्याससे जब पुद्गल और आत्माके निज-निज लक्षणका पूर्ण निश्चय रहता है तो और कुछ अभ्यास बढ़ानेपर अभ्यासके बलपर ये प्रकट दोनों तत्त्व अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं।

जीव पदार्थ स्वसंवेदनगम्य—यह आत्मा प्रज्ञाद्वारा गम्य इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है। ज्ञानसे ग्रहणमें आया हुआ यह आत्मा इसको स्पष्ट नजर आता है। दुनियामें सूक्ष्म पदार्थ बहुत है, कुछ तो भौतिक भी सूक्ष्म हैं, आहारवर्गणायें सूक्ष्म है। कार्माणवर्गणायें, तैजसवर्गणायें जिनसे शरीर बना है, बहुतसी ऐसी सूक्ष्म वर्गणायें हैं उनसे भी अधिक सूक्ष्म-धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य और यह जीव द्रव्य आदि हैं। पर मैं स्पष्ट इस स्थूल पुद्गलको भी नहीं जान सकता, सूक्ष्म पुद्गलको तो मैं जानता ही नहीं और अमूर्त सूक्ष्म धर्म, अधर्म आकाश आदिको भी मैं नहीं जानता। पर मैं सबसे अधिक

बहुत वढ़िया अपने जीवतत्त्वको जानता हूँ, जीवपदार्थको जानता हूँ क्योंकि आखिर वह जीव पदार्थ मैं ही तो हूँ। इसपर जो गुजरती है वह मेरे पूरे अनुभवमें आकर गुजरती है।

गुजरी वातका दृष्टान्त—जैसे कोई लेख, निवन्ध, साहित्यनिर्माणका कार्य हो रहा हो, करने वाले अनेक व्यक्ति हैं, किन्तु जो सम्पादक है, जिसके हाथसे गुजर कर आगे प्रसार या प्रकाशन होता है उसके ज्ञानके तले, हाथके नीचे प्रत्येक शब्द गुजरते हैं, किन्होंने कहाँ कैसी गलती की ? क्या ढंग अपनाया ? ठीक है या नहीं ? सारी वातें होकर भी सबकी सब चीजें सम्पादकके नीचेसे गुजरती हैं, अनुभूति होती है, प्रसारित होती हैं, इसी तरह कुछ भी गुजरे, कैसी ही घटना हो, किसी कारणसे हो, वे सबकी सब मेरेपर गुजरती हैं ना ? इसलिये मेरी वातें मेरे लिए इतनी स्पष्ट होती हैं कि उनके मुकाविले अन्य कुछ मेरे लिए स्पष्ट नहीं होती हैं।

शरीरका अपरिचय—मैं इस पुद्गलात्मक शरीरको नहीं जानता हूँ कि यह कौन है ? कहाँसे आया है ? इसपर शरीर यह कहे कि अजी आप मुझे भूल गये ?···· हाँ, मुझे तो आपका परिचय ही नहीं। इसी तरह यह शरीर कौन है ? कहाँसे आया है ? इसका परिवार क्या है ? इसमें तत्त्व क्या है ? यह कुछ मैं जानता नहीं। शरीर कहे कि मैं तो तुम्हारे पीछे अनादिकालसे फिर रहा हूँ "सच है भैया, शरीर, परन्तु मुझे तुम्हारा कुछ भी परिचय नहीं है। मैं तो तुमको विल्कुल ही नहीं जानरहा हूँ, न जान सका था और न कभी जान सकूँगा। मुझे तो कुछ परिचय ही नहीं हैं क्योंकि मुझे जितना परिचय मिलता है वह मेरेमें गुजरी हुई वातोंका मिलता है। दूसरोंकी गुजरी हुई वातोंका मुझे परिचय मिल ही नहीं सकता है। मैं नहीं जानता कि तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? तुम मेरे पीछे लगे ही लगे रहो। मैं क्या करूँ ? मुझे तुम्हारी वातें कुछ नहीं मालूम होतीं, तुम्हारी कोई वात मुझे ठीक नहीं जचती। भेदविज्ञानमें उतरे हुए ज्ञानी जीवके सम्वादकी यह वात है।

शरीरकी शिकायत—मैं पुद्गलमय रंच भी नहीं हूँ। मुझमें पुद्गलात्मक शरीरपना नहीं है। यह सुनकर मानो शरीर कहता है कि तुम देह नहीं तो न सही किन्तु देहके तुम कर्ता तो हो। शरीरके कर्ता तो हो ना ? नहीं हूँ, भाई ! शरीर मानो फिर वोला, शरीरके कारण भूत तो तुम्हीं हो, अव तुम कर्तापनकी भी मना करने लगे। मेरी आज इतनी दशा विगड़ गयी, शरीर वोलरहा है, मैं पहिले वड़ा स्वच्छ आहार-वर्गणाओंके रूपमें था, वहाँ मांस, हड्डी खून, पीप आदि कोई चीज न थी। जिन आहार वर्गणाओंसे जिनसे शरीर वनता है उनमें माँस है क्या ? हड्डी है क्या ? खून है क्या ? हम वड़े नोने थे। तुम्हारा सम्वन्ध वन जानेपर जो आहार वर्गणायें मांस, हड्डी पीप रूप वन गयी है इनके कारण तो तुम्ही हो और मना कर रहे हो कि मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ। आज तुम इतने निर्दयी और कठोर दूसरोंके वन गये हो। तुम मुझपर

इतना गजब ढा रहे हैं कि हम शुद्ध स्वच्छ आहारवर्गणाओंको तुम्हारे ही संगसे आज मांस, हड्डी रूपमें बनना पड़ा है। और, आज फैसलाका समय आया तो तुम यहाँसे मुकर गये कि मैं तुम्हारा कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार एक बहुत बड़ा केस इस पुद्गलमय शरीरने जीवपर रख दिया।

शरीरकी शिकायतका निर्णय—तो यह ज्ञानी जीव अन्तरसे उत्तर देता है कि भाई, तुम भी अच्छे थे, हम भी अच्छे थे। तुम तो मांस, हड्डी, रुधिरसे रहित पवित्र दशामें थे तो हम भी अपने स्वभावमें शुद्ध, स्वच्छ, ज्ञानमात्र थे पर मेरे बिगड़नेका कारण तो तुम्हारा संग ही है ना, तो तब फलतः यह सिद्ध हो गया कि जीवके बिगाड़नेमें पुद्गलपर आरोप और पुद्गलके बिगड़नेमें जीवपर प्रत्यारोप। इन आरोप प्रत्यारोपोंसे यह निर्णय निकलता है कि भाई! न तो पुद्गलने जीवमें कुछ किया और न जीवने पुद्गलमें कुछ किया लेकिन ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध था। दोनोंका खोटा होनहार था कि बात ऐसी ही बनती चली आ रही है। भैया! न तो मैं शरीरका कर्ता हूँ और न शरीर कर्म आदि मेरा कर्ता है।

कर्ताके चार प्रकार—कर्ता बननेके चार प्रकार है—प्रथम जो कारणरूप हो सो कर्ता कहा जा सकता है, द्वितीय जो साक्षात् कर्ता हो सो कर्ता कहा जा सकता है, तृतीय जो कर्ताका प्रयोजक हो सो कर्ता कहा जा सकता है चौथे जो कर्ताका अनुमोदक हो सो भी कर्ता कहा जा सकता है। जैसे किसी अशोभनीय घटनामें किसी पुरुपकी हत्याके केसमें एक पुरुपने साक्षात् हत्या की, उसे तो अदालत कर्ता साबित करता है, उसे दंड मिलता है और जो किसी रूपमें इस घटनाका कारण बना है, वह भी कर्ता माना जाता है, और जो न कारण बने, न कर्ता बने किन्तु कराने वाला बने, सेन देने वाला बने वह क्या छूट जायगा, और कोई न प्रयोजक है, न कारण है, न कर्ता है किन्तु उस हत्याके कालमें उपस्थित होकर साबासी देता है, ऐसा पुरुप क्या अदालतसे छूट जायगा ? ये चारोंके चारों अपराधी कहलायेंगे। तो मैं यदि शरीरका कारण होऊँ तो उसके कर्तृत्वका मुझपर बोझ लादो । यदि शरीरका साक्षात् कर्ता हूँ तो अनन्त संकटोंका बोझ लाद दो। यदि मैं शरीरका प्रयोजक होऊँ तो हमारे ऊपर संकट.का बोझ लाद दो और यदि शरीरके कर्ताका अनुमादक भी होऊँ तो मुझपर संकटोंका बोझ लाद दो। पर यदि मैं ये चारों ही नहीं हूँ, मेरा स्वरूप अस्तित्व ही इनसे सर्वथा भिन्न है तो मुझपर संकट क्यों लादते हो ?

अकर्तृत्वके आशयपर शान्तिका निर्माना—सबसे मुख्य समस्याका समाधान करना आवश्यक है तो यह है कि मैं निज द्रव्यके अतिरिक्त किसी भी परद्रव्यका कर्ता नहीं हूँ। हमारी मुक्ति, शांति, कल्याण सब कुछ इस निर्णयपर ही आधारित है।

इस कारण यहाँ अनेकों युक्तियोंसे यह कह रहे हैं कि मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ। कर्ता होनेके चार उपाय माने जा सकते हैं—एक तो किसी परद्रव्यका साक्षात् करना, दूसरे उसका कारण बनना, तीसरे उसको कराना और चौथे करनेवालेका अनुमोदन करना। इस तरह चार उपाय हो सकते है कर्ता बननेके। पर प्रत्येक द्रव्यके बारेमें इन चारों उपायोंको भी देखें तो कर्ता तो मैं साक्षात हूँ नहीं, क्योंकि करनेके माने परिणमना—शरीरका करना अर्थात् शरीररूप परिणमना। जो शरीररूप परिणमे सो शरीरका कर्ता। सो मैं तो अशरीर हूँ। सहज शुद्ध चैतन्यात्मक परिणमता हूँ। इस कारण मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ।

रागद्वेषका अकर्तृत्व—साक्षात् तो मैं रागद्वेषका भी कर्ता नहीं हूँ। स्वरसतः कर्ता नहीं हूँ, द्रव्य हैं क्या करें ? ऐसा उपादान है और अनुकूल निमित्तका प्रसंग है, इसमें रागद्वेष परिणमन हो जाता है। हम क्या करें ? मैं तो ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ। जानना मेरा काम है, जानना मेरी कला है। जाननेमें गल्ती करें वह तो हमारी गल्ती है पर रागादिक हो जाते हैं इनको हम क्या करें ? कोई यह सोचे ऐसा सुनकर कि बस जानते रहें, रागादिक होते हैं तो हों, उनकी क्या फिकर है ? मगर जिस वक्त रागादिक होते हैं उस वक्त भी यह जानने वाला रह पाता है या नहीं ? इसका तो निर्णय कर लें।

ज्ञानका महत्त्व—यदि रागादिकोंके सम्बन्धमें रहकर भी यह उनका जाननहार है तो यह कुमार्गपर नहीं है। पर ऐसे रागादिक हों जो एक रूप उपयोगमें परिणम जायें, बन जायें, ऐसी यदि स्थिति होती है तो वह जानने वाला कहाँ रहा ? तो मेरा काम तो जानना है। मेरेमें कला तो जाननेकी है जैसे हंसमें कला तो चालकी है। यदि हंसके परोंमें या शरीरमें कोई रंग, रूप विचित्र चित्र हो जाय तो इसमें हंसका अविवेक नहीं कहा जायगा, हंसकी कला तो चलनेकी है। चलनेमें फर्क आवे तो हंसकी कलाहीनता, मूढ़ता कहलावे उसी तरह मेरेमें तो कला जाननेकी है। मेरे जाननेमें अन्तर आता है तो वह मेरी मूढ़ता है। पर रागादिक हो गये, निमित्त पाया, यह प्रतिबिम्बित हो गया, प्रतिभासित हो गया, यह तो हंसके पैरोंमें, शरीरमें रंग बदल जानेकीसी बात है, कला तो उसमें जाननेकी है। मगर सही, जाननेसे मैं च्युत होता हूँ तो अपराधी हूँ, इस दृष्टिसे तो मैं रागदिकका भी करने वाला नहीं हूँ। होते हैं, ऐसा सहज निमित्तनैमित्तिक संम्बन्ध है कि हो जाते हैं, पर मैं उनका किसी भी प्रकार करने वाला नहीं।

सर्वत्र अकर्तृत्व—अन्य पदार्थ अन्यमें कर ही क्या सकता है और एक चीजमें करनेका अर्थ ही क्या है ? साँपने अपने आपको गोल कर लिया, इस करनेका अर्थ क्या ? साँपकी अपने आपमें कला हो गई इतना ही तो अर्थ है। होनेसे आगे करनेका

क्या मतलब ? प्रत्येक पदार्थ हैं वे परिणमते हैं, होते हैं। कोई अन्यको निमित्त पाकर विकाररूप होते हैं तो कोई अपने आप स्वरसतः स्वभावरूप होते हैं। होनेकी ही तो दुनियांमें बात है। करनेका क्या नाम है ! पर करनेका प्रचलन व्यवहारमें है। तो मैं रागादिक तक का भी कर्ता नहीं ? अन्य द्रव्योंकी तो बात ही जाने दो। अन्य द्रव्योंका तो अशुद्ध निश्चयनयसे भी मैं कर्ता नहीं हूँ। तो मैं किसी भी परका कर्ता किसी भी प्रकारसे नहीं हूँ।

जीव द्रव्यका परके प्रति अकारणत्व—दूसरेपर कर्तृत्व लादनेका तात्पर्य एक कारण बनाना है। सो कारण दो प्रकारके होते हैं—एक उपादान कारण, एक निमित्त कारण। सो उपादान कारणसे देखो तो शरीरका मैं कारण हूँ ही नहीं। शरीर अचेतन है, मैं चेतन हूँ। निमित्त कारणसे देखो, अर्थात् यह शरीर जो बन जाता है उसके बन जानेमें निमित्त क्या है ? इस दृष्टिसे अगर देखो तो मैं तो शरीरमें ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ। कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यका निमित्त नहीं होता। विशिष्ट परिस्थितिमय पदार्थ, विशिष्ट परिस्थितिमें निमित्त हुआ करते हैं। मैं तो अनादि अनन्त शुद्ध ज्ञायक स्वभाव हूँ। ऐसा ही ध्रुव सत्य हूँ। यह मैं शरीरका निमित्त कारण भी नहीं हूँ। इस प्रकार भैया ! मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ।

आत्माका कारयिताके रूपसे भी कर्तृत्वका अभाव—चौथी बात है कराने वाले की। मैं शरीरका कराने वाला भी नहीं हूँ, क्योंकि मेरा जो प्रभाव है वह मुझमें ही समाप्त हो जाता है। मुझसे बाहर मेरा प्रभाव नहीं है, असर नहीं है कि कहीं मेरा प्रभाव मुझसे निकलकर बाह्य पदार्थोंमें आघात करता रहे। ऐसा कुछ मैं पुद्गलका कराने वाला हूँ क्या ? कराने वाला वह कहलाता है कि जो क्रियाका प्रयोजक हो। जो जो काम हो रहा हो उसका प्रयोजन जिसको मिलेगा वह करानेवाला कहलाता है। किसी भी पदार्थकी क्रियाका प्रयोजन उस ही पदार्थमें मिलता है। अर्थात् उस क्रिया के प्रतापसे, उस उत्पाद व्ययके प्रसादसे वह चीज ध्रुव रह जाती है, सत् रह जाता है, प्रयोजन भी उसे नहीं मिलता। सो अपने आप में यह बात लगालो कि मैं अपनी परिणतिका करानेवाला हूँ, सो इसका कुछ अर्थ नहीं है कि मैं अपना करानेवाला हूँ। मैं आपका कारण हूँ, मैं अपना कराने वाला हूँ इनका कोई अर्थ नहीं निकलता। इसका तो सीधा भाव यह है कि मैं हूँ और परिणम रहा हूँ। मैं पर पदार्थों का करनेवाला तो हूँ ही नहीं, करानेवाला भी नही हूँ।

आत्माके परके अनुमंतृत्वका निषेध—पाँचवीं बात आती है कि क्या मैं उनके करने वालेका अनुमोदक हूँ ? अनुमोदक भी नहीं हूँ। जब मैं परको जानने वाला भी नही हूँ, तो अनुमोदन करनेवाला कौन हो सकता हूँ। इस सम्बन्धमें एक और विशेष बात ध्यानसे सुननेकी है। जिसका सम्बन्ध समयसारके प्रकरणसे है।

व्यवहारमें परमार्थकी प्रतिपादकता—समयसारमें नवीं, दसवीं गाथाके पहिले

यह उत्थानिका उठाई गई कि व्यवहारको परमार्थका प्रतिपादक कैसे कहा है ? इसके उत्तरमें उन दो गाथाओंमें यह कहा गया है कि जो श्रुतके द्वारा आत्माको जानता है वह तो है निश्चयकेवली और जो द्वादशाङ्गको जानता है वह है व्यवहारश्रुत-केवली। यहाँ शंका हो सकती है कि निश्चयश्रुतकेवली होना सुगम है कि व्यवहार-श्रुतकेवली होना सुगम है ? तो लोग यह कह देंगे कि निश्चयश्रुतकेवली होना सुगम है। तो यह निश्चय हुआ कि श्रुतकेवली होना अल्प पुरुषार्थका फल है पर, ऐसा तो नहीं है। इसका भाव समझना है।

व्यवहारके परमार्थप्रतिपादकत्वमें नया दृष्टान्त—इसके लिये दूसरा दृष्टान्त ले लो। केवलीका दृष्टांत पीछे घटायेंगे। मैंने इस घड़ेको जाना तो इस प्रसंगमें सच तो बतलाओ कि परमार्थसे मैंने क्या किया ? जानते होंगे सब। अगर बोलना चाहते हैं तो बोलेंगे कि मैंने इसमें अपने ज्ञानका ऐसा परिणमन किया, ऐसा ज्ञेयकार ग्रहण किया कि इस घड़ेके अनुरूप सब कुछ जाननमें हो गया। हम यह नहीं कह सकते कि हमने घड़ेको जाना, किन्तु घड़ेको विषयमात्र बनाकर अपने आपमें जो ज्ञेयाकार परिणमन किया उस ज्ञेयकारको जाना अर्थात् अपनेको जाना, घड़ेको नहीं जाना। पर इतने मर्मकी बात समझनेवाले तो समझ जायेंगे। हम यह बात चलती-फिरती दूकानोंपर मोहियोंसे ग्रामीणोंसे यों कहें तो वे क्या जानें ? तो उनको हमें क्या कहना चाहिए ? यही ना कि हमने घड़ेको जाना, यह कहना पड़ता है। घड़ेको जाना यह व्यवहारवचन परमार्थका प्रतिपादक है। समझनेवाले समझ जायेंगे कि इसने क्या किया ? जो यह कहते हैं कि मैंने उस घड़ेको जाना। घड़ेको विषयमात्र बनाकर, ज्ञेयमात्र बनाकर जो आत्माके प्रदेशमें ज्ञेयका ज्ञेयकाररूप हो उसमें तन्मय होकर ज्ञेयाकार परिणमन किया। यह उसका परमार्थ अर्थ है। तो घटज्ञानी व्यवहारसे कहा जाता है और परमार्थसे तो आत्मज्ञानी है, घटके विषयके रास्तेसे वह आत्मज्ञानी है। तो आत्मज्ञानी है, यह है परमार्थ वचन और घटका ज्ञानी है, यह है व्यवहार वचन। इस प्रकार यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है।

समयसारोक्त दृष्टान्त—इसी प्रकार समस्त द्वादशाङ्गके शास्त्र और विषयभूत पदार्थोंको जानते समय इस योगीने क्या किया ? परमार्थसे तो बतलाइये। परमार्थसे तो इन समस्त द्वादशाङ्गोंको विषय बनाकर, ज्ञेय बनाकर जो उसके ज्ञानका ज्ञेयरूप परिणमन होता है उस परिणमनमें तन्मय होकर ज्ञानका उपयोग किया है। यहाँ परमार्थकी बात हम जल्दी और सीधे शब्दोंमें कैसे प्रतिपादन कर सकते हैं ? प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं, इसलिये सीधे भावमें बात यह है कि उस ऋषिने द्वादशाङ्गको जाना। एक ही आत्माकी बात व्यवहार और परमार्थसे घटाई गई है। भिन्न-भिन्न आत्माओंकी बात नहीं घटाई गई है, क्योंकि भिन्न आत्माओंकी यदि बात है तो व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक नहीं बन सकता। एक ही आत्माके

काममें परमार्थ और व्यवहार दोनोंका निर्णय है ।

स्वमें ही परप्रकाशकता—इस प्रसंगमें यह बात जाननेकी है कि मैं परको नहीं जानता हूँ । परको जाननेकी बात कहना व्यवहार है । पर जहाँ ज्ञेय हो रहा है, पर ज्ञेयाकाररूप जो ग्रहण होरहा है उस ग्रहणको ही यह आत्मा जानता है । जैसे दर्पण सामने लिये हुये हैं, पीछे दो बालक खड़े हैं। वे बालक पैर उठाते हैं, हाथ उठाते हैं, जीभ मटकाते हैं। हम केवल उस दर्पणको देख रहे हैं और मात्र दर्पणके देखते हुए हम यह वर्णन करते है कि देखो वह पैर उठा रहा है, वह हाथ उठा रहा है, वह जीभ मटका रहा है, अब ये दोनां लड़के लड़ने लगे । जो-जो भी हरकतें पीछे खड़े हुए लड़के कररहे हैं उन सारी हरकतोंका हम ज्ञान करके वर्णन कररहे हैं । पर क्या हम लड़कोंको देखरहे हैं ? नहीं । हम तो केवल दर्पणको देखरहे हैं । जो-जो परिणमन लड़के कर रहे हैं, दृष्टिमें, उनके अनुरूप यह छायारूप परिणमन हो रहा है । सो हम उस छायारूप परिणमते हुए दर्पणको देखकर सबकी बातें बतारहे हैं ।

सर्वप्रतिभासिनी आत्मस्वच्छता—इसी प्रकार दर्पणकी तरह तो है यह मेरा ज्ञानस्वरूप । इस ज्ञानस्वरूप मुझ आत्मामें ऐसी स्वच्छता है, ऐसी अप्रतिहत शक्ति है कि आत्मामें जो कुछ सत् है, सत् था, सत् होगा वह सब ज्ञात है । होगा, इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले सत् था अब नहीं रहा किन्तु जिन पर्यायोंसे परिणत सत् था, जिन पर्यायोंसे परिणत सत् है, जिन पर्यायोंसे परिणत सत् होगा उन सब पर्यायों सहित विश्वको यह आत्मा एक साथ, एक समयमें जान जाय, ग्रहण करले ऐसी इसमें शक्ति है । आज क्या हालत है ? यह बात है दूसरी । क्या गलती की ? क्या सम्बन्ध है ? क्या उपाधि है ? ये बातें दूसरी हैं, पर इसका शक्ति स्वभाव तो इस ही प्रकारका है और सदा ऐसी अपनी शक्तिके विकासके लिये ही यह उद्यत रहता है ।

ज्ञानकी वृंहणशीलता—जैसे उठने वाली स्प्रिंगको तुम दबाओ तो जब तक दवाएँ हो तब तक तो दबी है, मगर वह स्प्रिंग तो उठने को ही उद्यत है, दबी हुई हालत में वह स्प्रिंग उठनेको ही उद्यत है । इसी प्रकार यह ज्ञान किसी भी प्रकार अपने विभावोंके कारण, ज्ञानवारणादि कर्मोंके उदयके कारण यह मेरा ज्ञान दबा है । दबा है, आवृत है, किन्तु यह ज्ञान सदा सर्वज्ञताके लिए उठनेको ही उद्यत रहता है । क्यों ? इसका ऐसा स्वभाव है । तब मैं केवल अपने आपको ही जान सकता हूँ, परमार्थसे, मैं किसी तत्त्वको नहीं जान सकता हूँ ।

आत्माका परमें अत्यन्ताभाव—भैया ! जहाँ पर पदार्थोंके जाननेका भी सीधा इसका सम्बन्ध नहीं है तो किसी परको करनेका सम्बन्ध होगा ही क्या ? तो मैं न शरीर हूँ, न शरीरका कारण हूँ, न शरीरका कर्ता हूँ, न शरीरका कराने वाला हूँ । और, शरीरके करनेवाले जो शरीरके स्वरूपके आधारभूत पुद्गलद्रव्य हैं, मैं उनका

अनुमोदक भी नहीं हूँ। क्योंकि उन अनेक द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ जो पिंड है, उस पिंडके परिणमनका करनेवाला भी मैं नहीं हो सकता हूँ। सबसे बड़ा काम है अपनेको अपना दुःख मिटाना। इससे बढ़कर भी कोई आत्माका काम है क्या? दुनियामें सबसे बढ़कर काम यही काम है कि अपना दुःख मिटाओ। पर भैया, दुःख मिटानेका अथवा शांतिकी प्राप्ति करनेका उपाय परद्रव्योंकी दृष्टि, संचय, संग्रह बहिर्मुखताके यत्न नहीं हैं। ये दुःख मिटानेके उपाय नहीं हैं किन्तु दुःख बढ़ानेके अपराध हैं।

गुप्तसंतके गुप्तताकी उत्सुकता—मेरा प्रयोजनमात्र दुःख मिटानेका ही तो है अतः मैं केवल एक अकेला ही क्यों न रहूँ, किसीका भी परिचय न हो, किसीको भी मैं न जानूँ, कोई मुझे न जाने, अर्थात् दुनियामें सबकी दृष्टिसे मैं गायब होऊँ। दुनियामें मैं शून्य होऊँ। यदि इस प्रकारकी विचारकी परणति हो और इस परिणतिसे मेरा दुःख पूर्णरूपसे मिटे तो इसमें खोया क्या? किन्तु सब कुछ पाया। यह दृश्यमान जगत जो स्वयं मर मिटने वाला क्षुद नष्ट हो जाने वाला है और जो पापोंसे रंगा हुआ है ऐसे इस मोहमय जीवलोकमें अपने लिए मैं कुछ चाहूँ, मेरा विभाव परिणत जीव, मोही जीव, कलुषित जीव मेरेको कुछ ठीक कहदे, इतनी भीतरसे जो वाञ्छा उठे, हे प्रभु इससे गन्दी बात और क्या हो सकती है?

रागकी विकटता—भैया, सबसे विकट तो कषायराग है। द्वेषका विनाश नवें गुणस्थानमें हो जाता है, पर रागका विनाश दशवें गुणस्थानके अन्तमें हो पाता है। तो यह जो राग लगा है, मोह लगा है, परमें जो स्वामित्वकी बुद्धि है, परमें जो कर्तृत्वकी बुद्धि है, ऐसा जो आशय है इसके कारण हम स्वयं अपने आप दुःखी हो जाते हैं। मुझे दुःखी कौन करता है? मैं किसी भी पर पदार्थका करने वाला नहीं हूँ। मैं तो अपने शुद्ध चैतन्य भावरूप परिणमता हूँ। ऐसा भेदविज्ञान हो तो उससे कृतार्थता का भाव आता है। परमार्थसे मेरे करनेका तो बाहरमें कुछ काम ही नहीं है क्योंकि मैं अपने प्रदेशोंसे बाहर उचक कर कभी नहीं पहुँच सकता। मैं सदा अपने प्रदेशोंके रूप रहता हूँ। अपने प्रदेशोंमें रहता हूँ। जो गुजरता है वह मेरे प्रदेशोंमें गुजरता है।

अपनी आत्मामें नफा-टोटा—यहाँ आप व्यय देखो, हानि-लाभ देखो, अपना हिसाब देखो तो यह बुद्धिमानी का काम है। पर जहाँ मेरी गति नहीं है, जिस निजी घरसे बाहर मेरा कुछ वास्ता नहीं है, मैं वहाँ दृष्टि गड़ाऊँ और वहाँके परिणमनसे अपना सम्बन्ध मानूँ तो इस बड़ी विपत्तिका फल तो अशांति है।

मोहियोंकी वोट लेनेसे हानि—अपनेमें शान्ति चाहते हो तो जगतके जीवोंसे वोट मत लो। जगतके जीवोंको वोट लेनेका परिणाम बड़ा भयानक होगा। वोट लेनेके मायने जगतके जीव कैसी शानसे रहते हैं? कैसी इज्जतसे रहते हैं? कितने

आरामको भोगते हैं ? कितने धनिक हैं ? कितनी प्रतिष्ठा है ? इन बातोंको देखना है। और भैयाजी, देखनेके लालचमें आना यही तो वोट लेना है। दूसरोंकी वोटसे अपनेको कल्याणका मार्ग नहीं मिलता।

अपने हितमें ज्ञानियोंके वोटसे लाभ—लाखों अज्ञानियोंसे सलाह लेनेकी अपेक्षा एक ज्ञानीसे सलाह लेना अच्छा है। कोई कहे कि वाह हमने तो हजारों आदमियोंसे पूछा, उन हजारोंने यही बताया है इसलिये यह निश्चय किया है कि यही मार्ग ठीक है; किन्तु हजारों मोही प्राणियोंने कभी भी तुम्हें कल्याणकी सलाह नहीं दी होगी। हजारों मोही क्या लाखों मोही प्राणियोंकी अपेक्षा निर्मोही ज्ञानीका बताया हुआ मार्ग ही कल्याणका मार्ग हो सकता है। ज्ञानीकी सलाहसे ज्ञानियोंके अनुकरणपूर्वक आगमोक्त सलाह मिलेगी। शास्त्रोंसे पूछो, कुन्दकुन्दाचार्य अमृतचन्द्रजी सूरी, समन्तभद्राचार्य इत्यादि तो पहले ही जो कुछ बोलना था, बोल गये हैं। इस तरहसे उनके बोल चुकनेपर सारी सलाहें सब तैयार हैं उनको देख लेनेकी तो एक बार हिम्मत तो बनाओ। किसी समय किसी क्षण सबको भूल कर बड़े विश्रामसे रहकर अपने आपका प्रतिभास होने तो दो। अपनी उपयोगचोंचसे निकालो तो इस विषयडेलीको।

स्वच्छ उपयोग करनेके सम्बन्धमें दृष्टान्त—भैया ! एक कथानक है कि एक नमकमें रहने वाली चींटी थी और एक शक्करमें रहने वाली चींटी थी। शक्करमें रहने वाली चींटी नमकमें रहने वाली चींटीसे बोली, बहिन तुमको यहाँ खानेमें क्या स्वाद मिलता है ? हमारे साथ चलो तुमको मीठी चीज खिलायेंगे। दो चार बार कहा पर न मानी। जब भारी आग्रह हुआ तो कहा, अच्छा चलो। चल दिया। साथमें नमककी डेली ले ली चोंचमें, यह सोचकर कि वहाँ चलकर कहीं भूखों न मरना पड़े। वहाँ पहुँच गयीं। अब वह बड़ी बहिन शक्करवाली पूछती है कि बहिन, कहो कैसा स्वाद आया ? नमकवाली चींटी बोली, यहाँ तो कुछ भी स्वाद नहीं है। दस बार यही उत्तर दिया। शक्करवाली चींटीने कहा, अरी चोंचमें कुछ लिए तो नहीं हो ? बोली थोड़ासा कलेवा है वह इसलिए साथमें ले लिया गया कि वहाँ कुछ मिले अथवा न मिले। तो बड़ी बहिनने अर्थात् शक्करमें रहनेवाली चींटीने कहा कि अरी बहन नमककी डेलीको चोंचसे निकाल और जब निकाल दिया और स्वाद लिया तो नमककी चींटीने कहा वाह ! बहिन ! यह तो बड़ी मीठी चीज है।

विकल्प मेंटनेमें लाभ—देखो भैया ! निरन्तर ही विकल्पोंका रंग खौल रहा है। इन विकल्पों रूपी नमककी डेलीको लेकर चाटें और आप साक्षात समोशरण रूपी शक्कर पर जावें तो आपको भगवानकी वाणीका मिठास नहीं आ सकेगा। अरे दुकनदार जब रात्रिमें सो जाता है तो दूकानकी खबर तो नहीं रहती। ७-८ घण्टे सोता है,

सोनेके वादमें दूकान उसे ज्योंकी त्यों ही मिल जाती है, वह कहीं जाती तो नहीं है, वहाँ तो सात-आठ घंटा गम खा लेते हो पर विकल्पोंसे क्यों छुट्टी नहीं पाते हो ? विकल्पोंके भारसे अपने शान्तस्वरूपको क्यों अशान्तमें परिणत करके अपने समयको व जीवनशक्तिको क्यों नष्ट कर रहे हो ? वस्तुस्वरूपका दृढ़ निर्णय करलो कि किसीसे मेरा वास्ता नहीं है। जब यह निर्णय वन गया तो अपने दुःख मिटाना बहुत सरल है।

ज्ञानोपयोगका अन्तिम व अमोघ उपाय—भैया ! जरा बतलाइये तो, जिन्दगी-भर तो श्रम किया है, इसके वदलेमें यह बतलाओ कि दुःख मिट गये हैं कि नहीं ? यदि नहीं मिट पाये तो जरा यह उपाय तो करके देखो। आचार्योंने कैसा वस्तुस्वरूप दिखाया ? तुम कैसे हो ? कैसे चैन पड़ेगी ? जरा वस्तुके स्वरूपमें तो ज्ञानका उपयोग दो। आप बड़े हैं तो बड़ेका बड़प्पन तो यह है कि फालतू बातोंकी अपेक्षा ज्ञानके ज्ञान में ज्यादा समय दो। और, यदि यह नहीं किया जाता, तो आयु ऐसे गुजर रही है जैसे कि पर्वतमें गिरने वाली नदीका प्रवाह गुजर रहा हो। वह प्रभाव थमता नहीं, लौटकर नहीं जाता, इसी प्रकार यह जीवन भी जो बीत जाता है वह लौटकर नहीं आता है। सो जितना जीवन रहा है उसमें तो ज्ञानसाधना करके कल्याणका उपाय वना लेना चाहिए।

(नोट—श्रोताओंके आग्रहपर गाथा नं० १७१ तक प्रवचन छोड़कर ता० २१-३-६३ को १७२ वीं गाथाका प्रवचन हुआ। इन छूटी हुई ८ गाथाओं का संक्षेपमें प्रवचन तारकी गली मोती कटरा आगरामें हुआ।)

आत्माके शरीरके कर्तृत्वका निषेध—भैया ! लोकमें अपना सर्वाधिक निकट सम्वन्ध शरीरसे है। इस शरीरमें आत्मीयताका, ममताका, कर्तृत्वका आग्रह ही जीवको संसारमें भ्रमण करानेका एक कारण वन रहा है। सवका मूल कर्तृत्वका आशय होता है सो जरा देहके अकर्तृत्वपर दृष्टिपात कीजिये।

मैं इस शरीरका किसी भी प्रकार कर्ता नहीं हूँ। कर्ता होनेकी गुन्जाइशके चार हेतु हो सकते हैं—या तो उस शरीरका कारण होऊँ तो कर्ता कहलाऊँ; या मैं सीधा कर्ता होऊँ तो कर्ता कहलाऊँ; या मैं शरीरका करानेवाला होऊँ तो कर्ता कहलाऊँ; या शरीरके करनेवालेकी अनुमोदना करनेवाला होऊँ तो कर्ता कहलाऊँ। किन्तु इन चार बातोंमेंसे एक भी बात मुझमें नहीं है। इसका निर्णय न्याययुक्ति पूर्वक विशद किया जा चुका है। मुझमें शरीरका अत्यन्ताभाव होनेसे मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ। भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें कर्ता-कर्म सम्वन्ध नहीं होता। सदा कालके लिए संकट मिटा देने वाले ज्ञानकी बात की जा रही है।

लोकमें रुलनेका कारण यथार्थ परिचयका अभाव—जगतके जीव इसी कारण

अब तक रुलते चले आये हैं कि इन्होंने भिन्न स्वरूपको भिन्न रूपसे नहीं देखा। भिन्न रूपसे न देख सकनेकी स्प्रिट कर्तृत्वका आशय देती है। यह सब आशय मिथ्या है। मैं न तो शरीरका करने वाला हूँ और न मैं शरीरका कराने वाला हूँ।

आत्माके शरीरके कारकत्वका निषेध—यहां यह शंका हो जाती है कि शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ, मैं तो इसका करने वाला नहीं हूँ। ठीक है, पर कराने वाला तो हूँ, मेरे आये बिना, सम्बन्ध बिना शरीरका कुछ बनता तो नहीं है। तो बताया है कि करानेवाला वह कहलाता है कि जिसको कार्यका फल मिले। जो कार्यको तो न करे किन्तु कार्यका फल पावे उसीको करानेवाला कहते हैं। जैसे किसीने पुत्रसे पानी भरवाया तो पानी भरवाने वाला पिता है, इसका मतलब यह है कि पानी भरनेका प्रयोजन पिताको मिलेगा। अपने मजदूरसे घरकी सफाई करवाई, खुद नहीं की। मजदूरसे करवाई इसका मतलब है कि सफाईका मौज मजदूर नहीं लेगा, मालिक लेगा। तो कामका प्रयोजन जिसे मिले उसे करानेवाला कहते हैं। सो यहां देखो कि पर पदार्थों में कार्य होरहा है अर्थात् परिणमन होरहा है। किसी भी पदार्थके परिणमनका प्रयोजन किसी दूसरे पदार्थको न मिलेगा, उसीको मिलेगा।

पदार्थके परिणमनका फल पदार्थकी सत्ताका कायम रहना—आप कहेंगे कि यह घड़ी चल रही है, इसका जो परिणमन है उसका फल किसे मिलेगा? घड़ीको मिलेगा। क्या फल मिला भाई? घड़ीकी सत्ता कायम है, बस यह फल है। पुद्गलके परिणमनका फल इतना ही है कि पुद्गलकी सत्ता कायम बनी रहे। लकड़ी जल गई? भाई, जलनेका काम तो हुआ पर इस जलनेका प्रयोजन किसे मिला है? लकड़ीको ही, पुद्गलको ही। वाह रे प्रयोजन! लकड़ी तो जल गई, खाक हो गई और कहते है कि जलनेका प्रयोजन मिला लकड़ीको। हां, हां, लकड़ीको मिला। कुछ भी परिणमे मगर क्या पुद्गलकी सत्ता मिट जाती है। पदार्थ वही सत् होता है जो बनता है, बिगड़ता है फिरभी बना रहता है। अगर बने-बिगड़े नही तो बना नहीं रह सकता है। तो पुद्गल के परिणमनका फल तो पुद्गलको मिला।

आत्माके परिणमनका प्रयोजन—आत्माने जो परिणमन किया उसका फल आत्माको मिला। वह क्या फल मिला? आत्माकी सत्ता कायम रही, इसके अलावा और भी कुछ फल मिला? हां, चूंकि आत्मा चेतन है इसलिए आकुलता या अनाकुलताका फल भी आत्माको मिलता है। आत्माको डबल फल मिलता है पर पुद्गलको एक फल मिलता है। पुद्गलके परिणमनका फल इतना ही होता है कि उसकी सत्ता कायम रहे, इससे आगे नहीं। पर आत्माके परिणमनके फल दो हैं—आत्माकी सत्ता बनी रहे और सुख-दुःख आनन्द भी मिले। तो मैं किसी दूसरेके परिणमनका प्रयोजन नहीं पाता हूँ, इसलिए मैं शरीरका करानेवाला नहीं। शरीरका करने वाला, कराने वाला

वही शरीर है । मैं इसकी अनुमोदना भी करने वाला नहीं ।

परका अकर्तृत्व जाननेका उपाय निश्चय दृष्टि—मैं एक चेतन सत् अनेक परमाणुओंके पिंडके पर्यायका कर्ता हो जाऊँ, यह असम्भव है । यह शरीर अनेक परमाणुओंका पिंड है । इसका करनेवाला यह शरीर नहीं है । यह तो भिन्न है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, यह निश्चयसे देखा जारहा है । जहांसे जो चीज देखी जाती है वहांसे देखे तो दिखती है । एक बार कोई दुनियाका नरेश या राजा था सो जंगलमें शेरका शिकार करने चला । उस जंगलमें एक भील रहता था । उसने कहा चलो हम तुम्हें बतायें कि शेर वहां पड़ा है । सो ले गया । अब वह दिखाता है कि देखो वह है, वह है । पर उस राजाको दिखे नहीं । जिस रास्तेसे शेर दिख रहा था उस रास्तेसे वह राजा देखे नहीं । वह राजा बार-बार कहता कि कहां है ? कहां है ? कुछ गालियां भी दीं । उसे खबर न थी कि यह राजा है । भील बोला इस रास्तेसे देखो । फिरभी उसे न दिखाई दिया । भीलने फिर गालीदी । कहता मुझे शेर दिखता नहीं । भाई जिस रास्तेसे शेर दिखता है उस रास्तेसे देखे तो उसे दिखे । मैं शरीरका कर्ता नहीं हूँ । इस मर्मको हम इन्द्रियों द्वारा और शरीरको ही सत् मानकर देखना चाहें तो यह मर्म कहां दिख सकता है ? केवल आत्माके स्वरूपको जो ज्ञानघन, आनन्दमय है ; देखो तो दिख सकता है ।

उपादानकी अपनी-अपनी योग्यता—यह तत्त्व जिन्हें दिख गया ऐसा गृहस्थ श्रावक घरमें रहता हुआ भी सम्वर और निर्जरा कररहा है । उसकी होड़ कौन करे ? मिथ्यादृष्टि चाहे जहां रहे उसके सम्वर और निर्जरा नहीं हो सकती और जो धर्मात्मा है वह कहीं भी रहे सम्वर और निर्जरा होती है । एक कथानक है—एक धोबीके यहां एक गधा था और कुतिया भी थी । उस कुतियाके चार बच्चे हो गये । अब वह धोबी बच्चोंके पास बड़ा खेल करे, वे बच्चे उस धोबी पर पंजा मारे, कभी तनिक ऊपर चढ़े । वह धोबी उन पिल्लोंको लेकर कभी अपने सिरपर रखे, कभी छातीसे लगाये, कभी मुँह पर रखे । गधा सोचता है कि देखो हम तो रात-दिन जुतते हैं और ये कुत्ते घरमें खेलते हैं । यह हमपर इतना प्रेम नहीं करता और इन पिल्लोंपर बड़ा प्रेम करता है, जो कि कुछ काम नहीं करते हैं । यह हमसे प्यार नहीं करता और इस कुतियोंके बच्चोंसे प्यार करता है । इसका मामला क्या है ? उसकी समझमें आया । ओह ! ये पिल्ले उसके ऊपर हाथ-पैर मारते और ऊपर चढ़ते हैं इसलिए यह उनसे प्यार करता है । सो हम भी वैसा ही करें तो यह मालिक हमसे भी प्यार करेगा । ऐसा विचार कर मालिकके पास जाकर दोलत्ती पीछेसे मारने लगा । उस मालिकने डंडा उठा लिया और दस-पांच जड़े । सोचता है गधा कि क्या गलती हो गई ? अनुपात तो मैंने ठीक लगाया था कि ये पिल्ले आगे पैर मारते हैं इसलिये_मालिक प्यार करता है । यदि पैर हमने मारा तो हमसे मालिक क्यों नहीं प्यार

करता ? मेरी गलती कहाँ हो गई ? उपादान भिन्न-भिन्न हैं इसकी खबर न की !

भैया, मिथ्यादृष्टिकी तरह सम्यग्दृष्टि भी वैसा ही कार्य करता है। घरमें रहता हो तो क्या ? कहीं भी रहता हो तो क्या ? वह तो कल्याणकी ही प्रवृति करेगा, किन्तु मिथ्यादृष्टि मन्दिरमें भी हो तो मोहकृत बंध चलेगा। अरे गल्ती कहाँ हो गई ? गलती अपने-अपने परिणमनविशेषकी है। सो अपना परिणमन अपने स्वरूपकी ओर मुड़े तो उनमें फिर मार्ग साफ नजर आयगा और ज्ञानानुभव होगा। ज्ञानानुभव होने पर जो आनन्द मिलेगा उस आनन्दकी उपमा कहीं नहीं की जा सकती।

इस शरीरमें मैं जीव नहीं हूं। तो क्या है यह शरीर ? परमाणु द्रव्योंकी पिण्ड-पर्याय है। परमाणु तो सब स्वतत्र हैं, भिन्न हैं फिर इसका पिंड परिणमन कैसे हो गया। इस संदेहको अब दूर करते हैं—

आपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य समयसद्दो जो॥
णिद्धो वा लुक्खो वा बुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ १६३ ॥

भौतिकके निर्माणका साधन—देखिए क्या बात कही जा रही है ? यह शरीर जो बना है वह तो आहारवर्गणाओंके स्कंधोंसे बना है। तो यहाँ प्रश्न किया जा रहा है कि परमाणु तो सब जुदी-जुदी सत्ता वाले होते हैं। उनका पिंड परिणमन कैसे हो गया ? परमाणु कैसे होते हैं ? उनका पहिले स्वरूप कह रहे हैं। यहाँ चर्चा चल रही है इन सब चीजोंकी जिन चीजोंमें हम लीन रहते हैं। पैसा, सोना, चांदी, मकान, धन, शरीर ये सभी पुद्गलपर्याय हैं ना ? तो इनमें परमार्थचीज क्या है ? ये सब बिखर जायेंगे। ये सब मायारूप चीजें हैं। इनमें परमार्थ क्या है ? सो बतलाते हैं कि परमार्थ तो परमाणु है, उसमें दो आदिक प्रदेश नहीं होते हैं इसलिए वह अप्रदेशी है। केवल एक प्रदेशका ही सद्भात्र है, उस परमाणुमें रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों होते हैं।

परमाणुका शब्दरहितपना व विध्यात्मक स्वरूप—इन दिखने वाले पुद्गलोंमें शब्द भी मालूम देता है। यह बज जाय, स्कन्ध बिछुड़ जाय तो इसमें शब्द भी प्रकट होते हैं। क्या परमाणुमें शब्द भी हैं ? परमाणुमें शब्द नहीं हैं क्योंकि शब्द जो हैं वे स्वयं अनेक परमाणु द्रव्योंकी मिलकर पर्यायें हैं। तो परमाणु शब्दरहित हैं। हाँ परमाणु में इन चार स्पर्शमेंसे कोई स्पर्श रहता है—ठंडा हो, गर्म हो, रूखा हो, चिकना हो। स्पर्शके कितने भेद बताये हैं ? स्पर्शके ८ भेद हैं किन्तु उनमेंसे ४ तो हैं ईमानदारीके भेद—ठंडा गर्म, रूखा, चिकना और बाकी जो ४ भेद हैं हल्का, भारी, नरम और कठोर ये द्रव्यके गुण नहीं हैं, किन्तु बहुतसे परमाणु मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं, तो उन स्कंधोंमें ये प्रकट होता हैं। परमाणुमें यह नहीं होता है कि कोई परामाणु हल्का हो, कोई परमाणु भारी हो, कोई परमाणु नरम हो और कोई परमाणु कठोर हो, ऐसा नहीं हैं। सो चार स्पर्शमेंसे कोई स्पर्श, ५ रसोंमेंसे कोई रस खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा, कषायला;

दो गंधोंमेंसे कोई गंध और ५ वर्णोंमेंसे कोई वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद परमाणुमें रह सकता है।

द्रव्योंकी मायारूपता—भैया ! अगर अच्छे रंगकी साड़ी हो तो अच्छी लगती है तो उसमें है क्या ? बतलाओ कैसा वह रंग है ? पकड़में आता नहीं। अच्छा रंग है, तो तनिक निकालकर खालो। अरे क्या अच्छा लगता है ! इसमें क्या है ? केवल दूरसे देखनेकी बात है। यहाँ है क्या ? जिन रूप, रस, गंध स्पर्श पर हम इतराते हैं, आसक्त होते हैं वे वास्तविक चीजें हैं क्या ? देखते हैं मायारूप हो गई हैं।

परमाणुओंके बन्धनका कारण—परमाणु स्निग्ध होते हैं और रूक्ष होते हैं। तो परमाणुओंका स्कंध होना और रूक्ष होना यही पिंडपर्यायके परिणमनका कारण है अर्थात् परमाणु न्यारे-न्यारे हैं न ? तो रूखेमें रूखा मिल जायगा, स्निग्धमें रूखा मिल जायगा, चिकनेमें चिकना मिल जायगा। तो ये सब परमाणु मिला करते हैं और बंधन बन जाते हैं। अभी जैसे गीली और सूखी चीज मिलाओ तो एक पिंड हो जाता है ना ? इसी तरह परमाणुमें परमाणु है। रूखाकी वजहसे वे सब पिंड बन जाते हैं। तो कहते हैं कि कैसे रूक्ष और स्निग्धपन परमाणुमें होता है। इसका उत्तर देते हैं—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुहवदि ॥ १६४ ॥

परमाणुओंमें प्राकृतिक विचित्रता—परमाणु भी द्रव्य है ना ? तो उसका भी प्रत्येक समय परिणमन हो रहा है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। तो इस परिणमनके कारण उसमें विचित्रताएँ होती रहती हैं। सो अपने आप ही उन परमाणुओंमें भी स्निग्ध और रूक्षकी डिगरियाँ बढ़ती और घटती रहती हैं।

गुणकी हानि-वृद्धिपर दृष्टान्त—जैसे पाव-पाव दूध सबका रख दिया बकरीका, गायका, भैंसका, भेड़का और ऊँटनीका। इतना दूध पाव-पाव रख लिया। सबसे कम चिकना कौनसा दूध है ? बकरीका, उससे चिकना दूध गायका, उससे चिकना भैंसका, उससे चिकना भेड़का और सबसे चिकना ऊँटनीका दूध होता है। तो है तो वह पाव-पाव, मगर उसमें चिकनाईकी डिगरियाँ घटी-बढ़ी हुई हैं और इसे सब जानते हैं, तभी तो कह देते हैं कि यह कम चिकना है, यह ज्यादा चिकना है। दृश्य न होनेपर भी उनकी चिकनाईका पता तो है।

परमाणुमें गुणवैचित्र्यका समर्थन—इसी प्रकार परमाणुओंमें हालांकि वे दिखते नहीं हैं मगर उनमें रूखेपनकी डिगरियाँ हैं, चिकनाईपनकी डिगरियाँ हैं और वे डिगरियाँ खुद बढ़ रही हैं स्वभावसे तो कहाँ तक बढ़ रही हैं ? एक डिग्रीसे लेकरके और अनन्त डिगरियों तक रूखापन और चिकनाहटपन चलता रहता है परमाणुओंमें।

अब यहाँ यह पूछा जारहा है कि कितने स्निग्ध परमाणुओंसे और कितने

रूक्ष परमाणुओंसे उनमें पिण्डपना बन जाता है ? इसका उत्तर देते हैं—

णिद्धा व लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥ १६५ ॥

परमाणु परमाणुके परस्पर बन्धनका कारण—सूत्रजीमें पढ़ते हैं ना, स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः आखिर यह सब जगत स्कंध कैसे बन बैठा ? इसके मूलमें यह समाधान बताया गया है । क्यासे क्या यह बन गया ? मूलमें तो यह एक परमाणुद्रव्य है वह परमाणु कब मिल जाता है ? कब स्कंध बन जाता है ? जब एक परमाणुके स्कंध या रूक्षके अविभागी प्रतिच्छेदोंसे दो अधिक अविभागी प्रतिच्छेद वाले परमाणु मिलें तो वे एक हो जाते हैं । जैसे किसी परमाणुमें मानलो ५५० डिग्रीकी चिकनाई है और किसी दूसरे परमाणुमें ५५२ डिग्रीकी चिकनाई है तो वे मिलकर तुरन्त एक हो जायेंगे । अथवा रुखाई रुखाई हो या रुखाई चिकनाई हो, कुछ भी हो, तो भी यदि दो अधिक गुण वाले हों तो वे मिलकर पिण्ड बन जाया करते हैं ।

जघन्यगुण वाले परमाणुमें बन्धकी अयोग्यता—एक गुण वाले स्निग्ध आदिसे और एक गुण वाले रूक्ष आदिका वंध नहीं होती है क्योंकि एक गुण वाले स्निग्ध व रूक्षमें निमित्तनैमित्तिकता नहीं होती है, इसी कारण तो वह बंधका कारण नहीं बनता । यहाँ परमाणुकी बात बताई जारही है ।

आत्मामें स्निग्धत्व व रूक्षत्व—भैया ! आत्मामें भी रूखापन और चिकनाईपन है कि नहीं ? कोई आत्मा रुखी है या कोई आत्मा चिकनी है ? चिकनीके मायने राग और रुखाके मायने द्वेष, जिसमें द्वेष भरे हों उसकी आत्मा रूखी और जिसमें राग भरा हो उसकी आत्मा चिकनी । जैसे चिकने और रुखेपनका पुद्गलमें वंध चलता है इसी तरह आत्माके राग और द्वेपके सम्बन्धसे आत्मामें वंध होता है । देखो, वंधन सबमें और है क्या ? सिवा रागके और क्या वंधन है ? धनमें धन पड़ा है, घरमें घर पड़ा है, परिवारमे परिवार लगे हैं । कुछ आत्मामें चिपका नहीं है मगर उससे वँध गया । केवल मोह और रागका ही वंधन है कोई जीव इसे बाँधे हुए नहीं हैं । यदि मोह और राग हट जाय तो अभी वंधन समाप्त है ।

भावबन्धनका दृष्टान्त—एक गुरुजी शिष्योंको पढ़ाते थे । एक शिष्य दो-तीन दिनमें आया तो गुरुने शिष्यसे पूछा कि आज लेट क्यों आये ? शिष्यने कहा गुरूजी सगाई होरही थी इसमें दो-तीन दिन लग गये । गुरु बोला अब तो तू गाँवसे गया । जब सगाई हो जाती है तो जिस गाँवमें सगाई हो गई वह गाँव ही सामने झूमता है और जिस गाँवमे रह रहे वह नहीं झूमता है । कुछ दिन बादमें वह शिष्य फिर २-३ दिन लेट करके आया तो गुरु फिर पूछता है कि क्यों यहाँ आनेमें इतनी देर लगी । कहने लगा विवाह हुआ था । तो गुरुने कहा अब तू घरसे गया । जब विवाह हो जाता है तो

घरसे बढ़कर स्वसुराल, प्यारी लगती है, फिर उसके लिये भैया, चना कुछ कीमत नहीं रखते हैं, साले साहब कीमत रखते हैं। साले साहबका मूल्य बढ़ जाता है। इस प्रकार गुरु बोला कि अब तुम घरसे गये। फिर कुछ महीनोंके बादमें वह शिष्य २-३ दिन लेट करके आया तो गुरुने पूछा क्यों लेट होगई? शिष्यने कहा गौना था। पहिले विवाहके बाद तुरन्त गौना नहीं होता था। २-३ वर्षमें गौना हुआ। शिष्यसे गुरुने कहा अब तुम माता-पितासे भी गये जब स्त्री आ जाती है, तो उसकी दृष्टिमें माता पितासे भी बढ़कर स्त्री हो जाती है। सो राग और द्वेष एक विचित्र बंधन है।

राग द्वेष मोहके अज्ञानपना—भैया, रागद्वेष छूटे तो जीवका कल्याण है, और वास्तवमें अज्ञान रागद्वेष ही हैं। ज्ञान कितना ही बढ़ जाय, कला कितनी ही हो जाय पर राग और द्वेष किसी वस्तुमें लगे हैं तो उसमें तो अज्ञान ही समझो और, ऐसा विकट वह अज्ञान है कि छोड़ा नहीं जाता और यह नहीं जान पड़ता कि मेरे अज्ञान लगा है। तो मोह कितना भयंकर विष होता है? और इस मोहका टूटना बनेगा तो ज्ञानसे ही बनेगा। अरे! दूसरी चीजको अपना मान लिया यही तो मोह है और जो वस्तु जैसी है वैसा ही मान लिया इसीके माने है मोहका टूटना। सो ये चीजें मेरी नहीं हैं, इतना सीखनेके लिए सर्व तप, विद्याध्ययन आदि हैं। केवल यही सीखनेके लिये कि यह मेरी नहीं है। कोई कहे लो हम तो सीख गए कि यह मेरा नहीं है। तो कहनेसे हो गया क्या? भीतरमें वह प्रकाश आ जाय कि जिस प्रकाशमें यह स्पष्ट जच रहा हो कि यह मेरा नहीं है उससे ही तो कहेंगे कि हाँ ममताका त्याग किया।

अज्ञानसे अनर्थ—एक दामाद था, पढ़ा-लिखा न था, मूर्ख था। तनिक अच्छे घर व्याहा गया था। अब वह २-४ सालमें अपनी स्वसुराल गया। उन दिनों स्वसुर साहब परदेशमें थे। बहुत दिनोंसे स्वसुर साहबकी बीमारीकी चिट्ठियाँ आ रही थीं। घरके लोगोंको बहुत चिन्ता थी। अब इसी प्रकरणमें एक चिट्ठी और आई। सासुजीने कहा यह चिट्ठी लालाजीको दे दो, पावनेजीको दे दो, पढ़ देंगे। कोई पावने साहब बोलते हैं, कोई कुँवरसाहब बोलते हैं, कोई लालाजी बोलते हैं उनके हाथमें चिट्ठी दे दी। अब लालाजी पढे हुए हों तो बाँच दें। तो उनको बड़ा दुःख हुआ कि हाय अगर हम पढ़े होते तो बाँच देते। सो इस दुःखके कारण उसे रोना आया। सासने यह जाना कि चिट्ठियाँ तो बीमारीकी आ ही रहीं थीं, सो हो न हो वे मर गये यह सोचकर सासजीको भी रोना आया। औरोंने भी जाना कि अब वे मर गये, तो वे भी रोने लगीं जोर-जोरसे। तो यह देख और भी घरवाले रोने लगे। पड़ोसके लोग आए, वे भी रोने लगे। बात बढ़ गई और स्त्रियाँ रोती हैं तो खाली रोती नहीं हैं, व्याख्यान दे देकर रोती हैं। सो वे व्याख्यान दे देकर रोने लगीं। जब स्त्रियाँ स्वसुराल जाती हैं तो हाय मेरे भैया फिरसे बुला लियो आदि व्याख्यान देती हुई वे रोती हैं। यदि कोई इष्ट वियोगका दुःख हुआ तो हाय

कहाँ चले गये—इत्यादि भाषण दे देकर रोती हैं। सो वे सब भी व्याख्यान दे देकर रोने लगीं हाय! मेरे राजा साहब गुजर गये। हाय! मेरे पिता जी गुजर गये। अब तो सब लोग जुड़ आये। सबने पूछा कैसे खबर आई? किसके द्वारा खबर हुई? कहाँ चिट्ठी आई है? तो वह चिट्ठी है कहाँ? गांवके मुखियाने चिट्ठी देखी, सो उसमें लिखा था कि सेठजीकी तबियत अब अच्छी हो गई है, ५-६ दिनमें घर आ जावेंगे। सबने कहा देखो इसमें तो यह लिखा है। कुछ लोगोंने पूछा भाई, तुमने कैसे अर्थ लगाया कि गुजर गये। कहा, ये लाला साहब, कुँवर साहब, पावने साहब चिट्ठी देखते ही रोने लगे तो हमने समझा कि वे मर गये। उन्होंने पूछा कुँवर साहब तुम क्यों रोने लगे? तो कहाँ तक बात छिपाई जाय? कुँवर साहब बोले हम पढ़े न थे सो अपनी मूर्खता-पर हमें रोना आया। तो देखो, अज्ञानतावश कितना बवाल बन गया? और इस अज्ञानताके ही कारण कितना बड़ा दुःख बन गया!

आत्मकर्मबन्ध व परमाणु-परमाणुबन्धका समन्यास—यह जीव संसारमें रहकर जन्म-मरणके दुःख पारहा है। आज मनुष्य है और मर कर और कुछ होगये, इस प्रकारके चक्कर लगते रहते हैं। यह भी सब कार्योंका परिणाम है। कर्मोंका बन्ध हुआ है राग द्वेषकी चिकनाई व रुखाईसे। तो जैसे आत्मामें राग और द्वेषकी रुखाई और चिकनाई होनेसे बंध होता है इसी प्रकार परमाणु परमाणुमें योग्य रुखाई और चिकनाई मिल जाय तो वहाँ बंध हो जाता है।

अब इसके बाद हम यह पूछ रहे हैं कि परमाणुके पिंड हो जानेका वास्तविक हेतु क्या है? उस पिण्डत्व पर्यायके हेतुपनेका यहाँ अवधारण करते हैं।

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पंचगुणजुत्तो॥ १६६॥

परमाणुओंमें परस्पर बंधत्वका हेतु—यहाँ सारांश यह है कि दो गुण अधिक हों तो वहाँ परस्परमें बंध हो जाता है। जैसे दो मित्र बराबरीके कहीं नहीं मिलते हैं। उन मित्रोंमें सारी बात बिल्कुल बराबरीकी हो ऐसा नहीं मिला करता है। धन, वातावरण, प्रेम, व्यवहार ये कुछ भी दो मित्रोंमें समान नहीं मिलते हैं। और क्योंजी, एक मित्रसे दूसरे मित्रके परिणाम कई गुने ऊँचे हों तो वह मित्र नहीं बन सकता है। कुछ ऊँचापन किसी न किसी मित्रमें होता है, अधिक ऊँचापन हो जाय तो मित्रता नहीं रहती। तो इसी प्रकार समझलो दो परमाणुओंमें दो गुणोंका ही (डिफरेन्स) अन्तर हो तो उन परमाणु परमाणुओंमें परस्परमें बंध हो जाता है। दो गुण वाला स्निग्ध हो या रूक्ष हो और चार गुण वाला रूक्ष हो या स्निग्ध हो तो परस्परमें उनका बंध हो जाता है। और इसी प्रकार मानलो कितना ही गुण मिल गया, ५ गुण वाला स्निग्ध है तो ७ गुण वाला रूक्ष हो या स्निग्ध हो, परस्परमें बंध हो जाता है।

स्कन्धोंका उत्पादन—यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जो हमें आंखों दिखते हैं ये आखिर कहाँसे ऐसे बड़े बन बैठे ? तो इसका मूल कारण बड़ा होनेका क्या है ? वही परमाणु परमाणुका बंध हो जाना, दो अणुओंका स्कन्ध बन जाना। फिर स्कंध अणु मिलते-मिलते इतने बड़े बन गये हैं कि ये दिखनेमें आने लगे, छूनेमें आने लगे, व्यवहारमें आने लगे। पर इसका मूल स्वय परमाणु है और वे ही परमाणु बद्ध हो होकर ये सब मायामय बन गये हैं। इसमें जो परमार्थतत्त्व बसता है उस परमार्थपर यदि दृष्टि दें तो ये मायामयस्वरूप सब भंग हो जाते हैं। कहाँसे ? उपयोगसे। अब इतना पुद्गलके सम्बन्धमें बतलाकर अब हम यह बतलायेंगे कि यह आत्मा इन पुद्गल पिंडात्मक परद्रव्योंका कर्ता नहीं है। यह तो एक वैज्ञानिक बात बताई है कि ये जो स्कंध हैं सो ये किस प्रकारके परमाणुके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। ये द्रव्य उत्पन्न होते है, पर इनका करने वाला मैं आत्मा नहीं हूँ। ये स्कन्ध विविध रूपोंमें अपने-अपने परिणमनसे उत्पन्न होते है, इसका निश्चय करते हैं।

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ १६७ ॥

दृश्यमान पदार्थोंकी जीवमायारूपता—ये दृश्यमान पदार्थ सब काय कहलाते हैं। शरीर है, चौकी है, कपड़ा है, भींट है, पंखा है ये सब शरीर हैं। कैसे शरीर हैं कि यह चौकी वृक्षसे हुई और वृक्ष वनस्पतिकाय हैं। अब वह जीव चला गया शरीर छोड़कर, शरीर रह गया मुर्दा, अब इसमें मांस वगैरह होता नहीं सो यह सबके उपयोगमें आ रहा है। कुछ भी चीज बना लो। यह भींट खड़ी है। यह पहिले पृथ्वीकाय था। मिट्टी जमीनसे निकाली, पत्थर जमीनसे निकला, चूना, मिट्टी आदि जमीनसे निकलीं, सीमेन्ट जमीनसे निकला सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा जमीनसे निकाला। ये सब पृथ्वी जीव हैं। अब उसका यह अचेतनकाय है। तो जो कुछ दिखनेमें आरहा है वह सब जीवोंका काय है। और, यह शरीर बना कैसे ? तो मूलमें तो ये बिखरे-बिखरे अहारवर्गणाके परमाणु थे। उन परमाणुओंके स्निग्ध और रूक्षत्वकी वजहसे इनमें सम्बन्ध हुआ, और सम्बन्ध होते-होते इनमें विशिष्ट रूप बन गया। तो उत्पन्न होने वाले दो प्रदेशी आदिक स्कंध चूंकि इनमें एक विशेष प्रकारके अवगाहनकी शक्ति है सो कोई सूक्ष्म हो गया, कोई स्थूल हो गया, कोई छोटा होकर बड़ा वजनदार, और कोई बड़ा होकर हल्का होगया। तो यह वस्तुओंके अवगाहनकी शक्तिके कारण कोई छोटा हुआ, कोई बड़ा हुआ। ऐसा विशिष्ट आकार धारण करके शक्तिके वशसे उससे नाना विचित्र संस्थान हो गये।

चारों भूतोंमें चारों गुणोंका सद्भाव—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकायोंमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं। ये चारोंके चारों पृथ्वीमें भी हैं, जलमें भी चारों हैं, अग्निमें भी चारों है और हवामें भी चारो हैं। पर यह तो बतलाओ कि जब रूप, रस, गंध, स्पर्श सबमें हैं तो क्या आगको किसीने चखा है ? उसका रस कैसा है ?

क्या कोई बता सकता है ? किसीको आगका रस नहीं ज्ञात है। तो किसीमें चारों गुण नजर आते हैं किसीमें तीन ज्ञात होते है, किसीमें दो ज्ञात होते हैं, किसीमें एक ज्ञात होता है। यह हीनाधिकता इन चारोंके तिरोभाव और आविर्भावकी विशेषतासे है। जलमें, रूप, रस, स्पर्श प्रतीत होता। अग्निमें रूप व स्पर्श प्रतीत होता, वायुमें स्पर्श ही प्रतीत हो पाता। भले ही अन्य गुण प्रतीत न हों किन्तु हैं सब मूर्तिक ना, इस कारण मूर्तिकताके नातेसे इन चारोंमें प्रत्येकमें चारों गुण हैं। उनमें कोई गुण व्यक्त है और कोई गुण अव्यक्त हैं।

भूतोंके गुणोंका विशेष विवरण—पृथ्वीका स्पर्श करलें, ठंडा गरम आदि मिलेगा, खाले तो रस मिलेगा, सूंघ लिया तो गंध आजायगी और देखलो वर्ण हो गया और पानीमें रस आ जायगा, स्पर्श हो जायगा, रूप भी हो जायगा, गंध नहीं होता है। इसमें जो गंध आता है वहाँ कोई दूसरी चीज मिली हुई होती है उसकी गंध है। अग्निको देखलो तो स्पर्श और वर्ण दो चीजें मिलेंगी। गंध भी नहीं उसमें होती। जो गंध आगमें आता है वह आगकी गंध नहीं, ईंधनकी गंध है। जो ईंधन जल रहा है वह एक पिंड है। दर्शनशास्त्रमें काष्ठको पृथ्वीरूप माना है। है यह वनस्पति काय, पर चारो भूतोंमें वनस्पति नहीं माना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमें किसमेंकाष्ठ शामिल करें ? पृथ्वीमें। जो पिंडरूप चीजें हैं वे सब पृथ्वी मानी गई है। और, हवामें स्पर्श मालूम होता है और कुछ पता नहीं रहता है। कभी देखा है हवाको, किस रंगकी होती है। काली कि पीली कि नीली किस रंगकी हवा होती है। और, होती जरूर है। हवामें रंग है मगर पता नहीं है। न हवाका रस व्यक्त है। अच्छा, हवा मीठी है कि कड़वी है ? कुछ पता नहीं। इन चार भूतोंमें किसीमें कुछ व्यक्त है और किसीमें कुछ व्यक्त है। पर होते हैं चारोंके चारों उनमें।

सर्व भूतोंकी पौद्‌गलिकता—ये सब पुद्‌गलवर्गणायें अपने परिणामोंके द्वारा पृथ्वी बन गई, जल हो गया, अग्नि हो गई, वायु हो गई, हो गये अपने परिणमनसे, पर इन समस्त पुद्‌गलोंमें पिंडका करने वाला यह आत्मा नहीं है। आत्मा यदि न आता तो शरीर न बढ़ता, यह बात ठीक है। पर, आत्माने शरीरको नहीं बनाया और न बढ़ाया। आत्माके आनेसे ओटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक सम्बंधसे यह शरीर बन गया। तो इस पुद्‌गलके पिंडका करनेवाला यह जीव नहीं है। कोई कहे कि शरीरका करने वाला जीव न सही किन्तु बढ़ानेवाला तो जीव होगा ? या शरीरको बढ़ाये तो भी तो शरीरका कर्ता हो गया यह जीव ! समाधानमें कहते हैं कि नहीं। यह आत्मा तो वहाँ उपस्थित रहा और शरीर अपने आप बढ़ चला।

अच्छा यह आत्मा शरीरका कर्ता न सही, मगर यह पुद्‌गलपिण्डोंका लाने वाला तो है। लानेमें तो कोई बात नहीं। जैसे घड़ीको हमने नहीं किया, ठीक है,

पर घड़ीको हम अलग कर सकते हैं, धर सकते हैं तो हम इन पुद्गलोंके लाने वाले तो हो गये ? समाधानमें कहते हैं कि नहीं। यह जीव पुद्गलोंका लानेवाला भी नहीं है ऐसा ही इस गाथामें अवधारण करते हैं—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकार्येहि सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि वादरेहि य अप्पाउग्गेहि जोग्गेहि ॥ १६८ ॥

शरीरका उपादान करण आहारवर्गणायें—आत्मा कर्मोका लाने वाला नहीं है इसकी मुख्यतासे इस गाथामें वर्णन किया गया है। यहाँ प्रश्न हुआ था कि यह जीव कर्मोका लाने वाला तो होगा अथवा यह शरीर वना ना, तो यह वतलाओ कि सबसे पहले यह क्या था ? और कितना था ? यह दिखादो। आप कहेंगे मनुष्य शरीरके लिये यह रजवीर्यके रूपमें अल्प था, अथवा गेहूँ चना पौवेके शरीरके मूलमें गेहूँका चनाका दाना था और गेहूँ चनाके दानेके पहले क्या था जिससे सिमिटकर, संयुक्त होकर वह अंकुर व दाना वन गया। यह अंकुर व दाना अनादिसे तो नहीं है। तो इसे जो कुछ मिला है वह इतना सूक्ष्म है कि आँखों नहीं दीख सकता जव कुछ आँखों दिखे तव तक उसमें प्रश्न हो सकता था कि इसके पहिले क्या था वह ? किन्तु संयोगसे वना है चाहे वह तिलका दाना हो, उससे भी छोटा बीज हो, खसका दाना हो वह भ संयोगसे वना है। इसका संयोग न हुआ होता तो यह किस हालतमें था सो वतलाओ। तो यह था आहार वर्गणाओंकी हालतमें। उसका नाम जैन सिद्धान्तमें अहारवर्गणा रखा है अर्थात् शरीरमें जो चिपटते हैं, ऐसे जो परमाणु हैं उन्हें कहते हैं आहारवर्गणायें।

आत्मा द्वारा वर्गणाओंके आहरणका अभाव—यहाँ अहार मुँहमें खानेका नाम नहीं, किन्तु शरीरके किसी हिस्सेसे वह परमाणु चिपट जाय ऐसी आहारवर्गणायें होती हैं। तो अब देखलो इन आहार वर्गणाओंका यह जीव लाने वाला है क्या ? नहीं। यह सूक्ष्मरूप वृत्ति या साघ्यरूप वृत्ति या अत्यन्त सूक्ष्म या अत्यन्त स्थूल किसी भी प्रकारके परमाणु जो कर्मत्वरूप परिणम सकते हैं ऐसे और जो पर शरीररूप परिणम सकते हैं ऐसे सब परमाणुओंके द्वारा पुद्गलकार्योंके द्वारा यह जीव लोक ठसाठस भरा है जिसे हम पोल समझते हैं उसमें भी ठसाठस आहार वर्गवणाओंके परमाणु वसे हैं। देखो भैया ! आहार वर्गणाओंके परमाणु वसे हैं यही कारण है कि एक रात पानी वरस जाय तो सवेरे देखो कितने मच्छर, कितने मेढ़क, कितने कीड़े-मकोड़े नजर आने लगते तो इस आत्माको न तो शरीरकी वर्गणाएँ खींचनी पड़ती है और न कर्मोकी वर्गणाएँ खींचनी पड़ती हैं। सर्व सयोग निमित्तनैमित्तिकभावपूर्वक होते हैं।

विभाव होते ही तत्काल कर्मवन्धन—इस जीवने परिणाम खोटा किया तो शरीर इसके साथ लगा-लगा फिर रहा है। विश्रसोपचय कामर्णवर्गणाएँ इस जीवके साथ चिपटी है सो विभाव होते ही कर्मोंसे वँध जाता है। कोई देखने वाला हो तो, न

देखने वाला हो तो, मनुष्य तो सोचता है कि मैं कोई पाप छुपकर कर रहा हूँ तो मैं बड़ी सुरक्षामें हूँ। कोई समझता ही नहीं है। मैं तो ऐसा हूँ, मेरी लोगोंमें धाक है, लोग तो मुझे अच्छा जानते हैं, पर इन बातोंमें क्या रखा है। जहाँ खोटा परिणाम हुआ उसी समय अनन्त पाप कर्मोंकी वर्गणाएँ बँध जाती है। कोई देखनेवाला हो तो क्या, न देखने वाला हो तो क्या ? बांधे हुये कर्मोंका जब उदय आयगा तब नियमसे इस प्राणीको क्लेश होगा।

विपाकसे कर्मके सद्भावका निश्चय--अच्छा, कर्मोंपर तो कुछ-कुछ विश्वास हो ही गया होगा। अचानक कोई दुःख आ जाता है, कोई सुख आ जाता है; कुछ अनुमान भी नहीं हो पाता, और अचानक विडम्बना सामने आ जाती है। भले-भले सुखमें रहे अचानक असह्य विपत्तियां सामने खड़ी हो जाती हैं। यह सब क्या है? यह सब कर्मोंका जाल है। जैसा उदय आया तैसा ही वातावरण बन जाता है। कोई लोग बहुत समय तक बड़े सुखमें रहे और बड़ा प्रभाव, बड़ा असर, बड़ी शान, बड़ी इज्जत भी हो तो भी कदाचित् किसी क्षण एकदम बेइज्जती हो जाय अथवा असहायपन हो जाय तो जिसको बीसों पूछने वाले थे वे सब किनारा कर देंगे अचानक ही यह सब क्या है ? यह पूर्वबद्ध कर्मोंका विपाक है। इस कारण अपने आपपर दया करके सदा सावधान रहना चाहिए।

आत्माके पुद्गलानेतृत्वका अभाव जाननेके लिये आत्मस्वरूपका जानन आवश्यक—यह जीव पुद्गलपिंडोंमें लगानेवाला नहीं है। पुद्गलसे तो यह लोक गाढ़ भरा हुआ है। किन्तु, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका न करनेवाला है और न ले जानेवाला है। भैया ! एक प्रश्न आपके दिलमें लग रहा होगा जब यह कहा था कि इस घड़ीका करने वाला व उठानेवाला आत्मा नहीं है तो ऐसा लगता होगा कि वह करनेवाला चाहे नहीं सही, उठाने वाला तो है। मना क्यों कर रहे हो ? इसके समाधानके लिये आत्माको जानो, कैसा है आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त निलप, केवल ज्ञान और आनन्दभावरूप अथवा यह समझलो जो जानन स्वरूप है बस वही आत्मा है, आत्माको ज्ञानमात्र देखो।

जाननमात्र आत्माका परमार्थतः परसे बंधनका अभाव—अब जानन कैसे होता है ? कुछ इसके जाननेमें भी चलें। वह जानन किस क्रियात्मक है ? क्या स्वरूप है। जाननका अर्थ है प्रतिभास। पर पदार्थोके संकल्प विकल्पमें यदि बुद्धि न उलझी हो तो जाननका शुद्ध लक्षण विदित हो जाता है। विदित ही नहीं, अनुभूत हो जाता है। ऐसे जाननमात्रका नाम आत्मा है। ऐसे अमूर्त जाननमात्र आत्मका घड़ीसे सम्बन्ध भी हो सकता है क्या ? नहीं ! सम्बन्ध तो एक क्षेत्रावगाही बंधनमें प्राप्त इस शरीरसे भी नहीं हो रहा है। किन्तु बन्धन पूरा है।

बन्धनपर एक दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष किसी स्त्रीके या पुत्रके रागमें बँध जाय तो देखनेमें यह लगता है कि कहाँ बंधा है। यह पुरुष अलग है और यह पुत्र अलग है, यह स्त्री अलग है पर बंधा है बड़ा विकट राग और मोह इसमें। वह राग और मोहके कारण ऐसा बँधा है कि घरको, वैभवको, परिवार को कहीं छोड़कर दो कदम भी तो मुड़ले तो नहीं मुड़ सकता है। इतना विकट बंध है पर बँधा तो कुछ भी नहीं है। बँधा होकर भी नहीं बँधा है, इस प्रकार इससे कुछ और विशिष्ट सम्बन्ध है—शरीरका और जीवका। आकाशकी तरह अमूर्त केवल ज्ञान और आनन्दभावस्वरूप यह आत्मा क्या शरीरसे चिपट सकता है। जैसे हाथने हाथको मरोड़ दिया तो बंध हो गया क्या ? नहीं। इस तरहका निमित्तनैमित्तकरूप बंधन जीव और शरीरका है। किन्तु बंधन इतना तीव्र है कि इस शरीरसे बाहर एक बीता आगे भी तो यह आत्मा बैठ जाय सो नहीं बैठ सकता है। फिर भी परमार्थतः बन्धन नहीं है।

अबद्धता व बन्धन—भैया, एक मस्करा पुरुषने किसी एक आदमीका निमन्त्रण किया। बोला, सेठ साहब आपका निमन्त्रण है पर आप अकेलेका है। हम गरीब आदमी हैं, ज्याद गुंजाइस नहीं है। कृपा करके आप अकेले कल १० बजे आना। वह पहुँच गया। वह उसे देखते ही बोला सेठ जी ! मैंने कहा था कि आप अकेले आना....तो अकेले ही तो आये।....अरे कहाँ अकेले ? इतना बड़ा पिंडोला संग चिपका कर लाये हो। अब बताओ भैया ! क्या किया जावे ? शरीर पिंडोलामें देखो कैसा विचित्र बंधन है जीवका और शरीरका। और स्वरूपको देखो तो ऐसा लगता है कि यह अमूर्त आत्मा कैसे बँध सकता है शरीरसे ? तो जब इस आत्माका शरीर तकसे भी सम्बन्ध नहीं तो भला अन्य घड़ी आदिसे तो क्या सम्बन्ध आत्माका होगा ?

वस्तुके धरने-उठानेमें आत्मविभावका निमित्तत्व—वाह ! सामने जान तो रहे हैं सब कोई कि देखो यहाँसे यहाँ घड़ी धरदी। हाँ पहुँच तो गई घड़ी मगर आत्माने घड़ी नहीं धरी। इस देहमात्रमें यह विराजमान यह ज्ञानानन्दमय आत्मा बिगड़ी हुई हालतमें केवल अभिलाषा करता है। मैं इस घड़ीको यहाँ धर दूँ ऐसी इच्छा और कल्पनाका परिणमन तो आत्मामें हुआ, जैसे फटाकामें आग धर दी अब वह अपने आप फूट जायगा। फटाकाको आदमी नहीं फोड़ता है। वह जो कुल्हड़में बनाया जाता है उस फटाकेको कौन फोड़ता है ! केवल उस फटाकेपर आग धरदी जाय तो वह अपने आप फूट जायगा। इसी प्रकार इस जीवने तो केवल एक तीव्र अभिलाषा करली कि घड़ीको यहाँ धरदूँ। अब उस इच्छाका निमित्त पाकर यह आत्मप्रदेशमें हिल उठा, कंप गया। इसको निमित्त पाकर घड़ीमें घडीकी क्रिया हुई।

इच्छा होनेपर निमित्तपरम्पराका प्रसार—इच्छा एक ऐसी विचित्र पिशाचिनी है कि इसके उठते ही सर्व आत्मप्रदेशमें कम्पन हो जाता है। जैसे भरे हुये पानीमें

एक कंकड़ डाल दिया जाय तो एक कंकड़ गिरते ही सारा पानी हिल जाता है। इसी प्रकार इस आत्मामें इच्छा उत्पन्न होते ही सर्व प्रदेश हिल जाते हैं। सो जैसा कंकड़ डाला वैसा ही तो पानी हिलेगा। किसीने ऊपरसे कंकड़ डाला तो उस जातिका पानी हिलेगा और किसीने तिरछा डाला तो उस जातिका पानी हिलेगा इसी तरह जिस ढंगसे इच्छाका प्रसरण होता है उन इच्छाके अनुकूल आत्माके प्रदेश हिलेंगे, उसके ही अनुकूल शरीरकी वायु चलेगी। यह पर द्रव्योंकी बात आ गई। शरीर एक अलग द्रव्य है और आत्मा एक अलग द्रव्य है। वायुका सम्बन्ध शरीरमें है पर आत्माके योगका निमित्त पाकर शरीरकी वायु हिल उठी। अब जैसी इसकी वायु चली ना, उसके ही अनुकूल ये अंग चले। तो घड़ी उठाकर धरनेकी इच्छा की सो अब इस निमित्तपरम्परासे ये हाथ चले। सो उसी तरहका हाथ चलेगा। जिस प्रकार इस घड़ीका संयोग इस हाथमें हुआ। अब हाथ चले तो उसका निमित्त पाकर यह घड़ी भी चली। इस तरह निमित्तकी परम्परामें यह कहा जाता है कि इस जीवने घड़ी उठाई, चौकी उठाई इत्यादि, पर यह उठाता कुछ नहीं है।

कर्मोंके कर्मत्वके उत्पादकत्वका भी जीवमें अभाव—जीव जब इन मोटी चीजोंको भी नहीं ला सकता फिर सूक्ष्म कार्माणवर्गणावोंको तो लायेगा कैसे? यह जीव पुद्गल पिण्डोंको लानेवाला नहीं है। अब कहते हैं कि चलो लानेवाला न सही, मगर ये कार्मणवर्गणायें पहले तो बड़ी अच्छी थीं, इनमें कर्मत्वकी प्रकृति भी न थी कोई स्थिति अनुभाग भी न था पर इस जीवने तो इन कार्मणवर्गणावोंमें कर्मत्व डाल दिया। तो कर्मोंके कर्मत्वका कर्ता तो जीव होगा? नहीं, परका परमें अभाव है।

शरीरकी अपवित्रताका मूल निमित्त—जैसे आपका इतना जो शरीर बना है यह शरीर कैसा है? घिनावना, रोम-रोमसे पसीना बहे, अपने-अपने शरीरको पकड़कर देखो, रोम-रोमसे पसीना बहे और ८-१० द्वार हैं उनसे बड़े-बड़े मल बहें और फिर शरीरके अन्दर हड्डी, खून, मांस ये सब बराबर घिनावने चल रहे हैं। पर यह तो बतलाओ कि जब तक आत्माने इस शरीरके योनिभूत पुद्गलको ग्रहण नहीं किया था उससे पहले ये शरीरके परमाणु कैसे थे? जबतक शरीरपर आत्माका कब्जा नहीं हुआ था उससे बहुत पहिले ये परमाणु कैसे थे? पवित्र थे। आहारवर्गणावोंके रूपमें थे। उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता था छोड़ नहीं सकता था, अत्यन्त सूक्ष्म थे। उनके समूह रूप शरीरको दुनिया मानती है कि शरीर अपवित्र है मगर इस शरीरके मूलभूत पवित्र परमाणुवोंको अपवित्र बना देने वाला दुष्ट मोही जीव कितना अपवित्र है? इस पर प्रायः कोई ध्यान नहीं देता। ये सब आहार वर्गणायें पवित्र थीं इनमें खूनका नाम न था पर यह जीव बेईमान है अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावमें न ठहर कर पर द्रव्योंके स्वरूपमें ठहरने लगा तो मोह बना। इस मोही जीवने जब आहार

वर्गणावोंको ग्रहण किया तब यह अपवित्र हो गया। खून, हड्डी, मल, मूत्र, रुधिर सब कुछ बन गया। इन खोटी अपवित्र चीजोंका निमित्त कारण है मोह, मोही जीवका सम्बन्ध अर्थात् मोह अपवित्र है।

मोह कलङ्क—मोहका परिणाम बहुत बुरा है। आत्मामें सबसे गन्दी चीज क्या है? मोह। मोहसे बढ़कर अशुचि चीज दुनियामें कोई नहीं है। कोई काम करा लेना, खोटा काम करा लेना यह सब मोहसे होता है तो ये मोह रागद्वेष परिणाम जीवके होते हैं कि भरा हुआ तो सब कुछ है ही, ये कर्मरूप परिणम जाते हैं। तो यह जीव पुद्गल पिण्डोंमें कर्मपनेको ला देने वाला भी नहीं है। इस बातकी पुष्टि अब अगले गाथामें और स्पष्टतया की जाती है।

कमम्त्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ॥
गच्छन्ति कम्मभावं ण हु ते जीवेण परिणमिदा ॥ १६९ ॥

कर्मयोग्य बननेवाले स्कन्ध जीवके परिणामका निमित्त पाकर कर्मभावरूपमें परिणम जाते हैं। वे जीवके द्वारा परिणमाये गए नहीं हैं।

विभाव वप्रकृतिका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—यहाँ प्रश्न किया गया था कि कर्मोंके कर्मत्वका करने वाला जीव तो होगा ना? उसके उत्तरमें कहरहे हैं कि जीव तो केवल अपने परिणमनको करता है। उसका निमित्त पाकर कर्म बननेके योग्य स्कन्ध स्वयं कर्मरूपसे परिणम जाते हैं। वहाँ कर्मोंको कर्मके रूपसे जीवने नहीं परिणमाया। एक ही क्षेत्रमें रहने वाला यह जीव है अर्थात् जहाँ विस्रसोपचय रूपसे कर्मवर्गणाएँ रह रही हैं, वहाँ ही यह जीव है। सो उस एक क्षेत्रमें रहने वाले जीवविभाव परिणमनको निमित्तमात्र करके, एक बाह्य निमित्त पाकर ये कर्मत्व रूपसे परिणमनकी शक्तिवाले पुद्गल स्कंध परिणमयिता जीवके बिना ही स्वयं कर्मरूपसे परिणम जाते हैं।

अत्यन्ताभाववाले पदार्थोंमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध--निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध क्या है? जैसे एक लड़का किसी दूसरे लड़केको चिढ़ा रहा है, अंगुली मटका कर या जीभ चलाकर। तो चिढ़ाने वाला लड़का चिढ़ाने वालेकी परिणति न लेकर खुद अकेले चिढ़ता है या दो मिलकर चिढ़ते हैं? अकेले ही चिढ़ता है चिढ़ाने वाला तो निमित्त है पर चिढ़ने वाला चिढ़ता तो अकेले ही है? उसमें बाह्य निमित्त है चिढ़ाने वाला लड़का, इसी प्रकार कर्मत्वरूपसे परिणमनेवाले पुद्गल स्कंध अकेले ही कर्मरूपसे परिणमते हैं। उसमें बाह्य निमित्त है जीवका विभाव।

अत्यन्ताभाववाले पदार्थोंमें निमित्तनैमित्तिक भावके अन्य दृष्टान्त—अग्नि जल रही है, पानी गर्म हो गया है पानी जो गर्म होता है वह अकेले ही गर्म होता है कि

आगको अपनेमें लेकर गर्म होता है। आग तो आगकी जगह है। यह जल आगका निमित्त पाकर अपने आपही गर्म हो गया है। यहाँ देखो यह छाया पड़ रही है तो यह छायारूप जो परिणमा है कौन परिणमा है ? यह फर्स। तो क्या यह फर्स मनुष्यको लपेटकर, उसकी परिणति लेकर छायारूप परिणमा है या मनुष्यका बाल बाँका न करके केवल मनुष्यका निमित्त पाकर यह फर्स अकेले छायारूप परिणमा है। मनुष्यका वालवांका न करके उसको निमित्तमात्र पाकर फर्स खुद अपनी छायारूप परिणमा है। तो कोई भी पदार्थ हो वह किसी दूसरे पदार्थका परिणमन न लेकर स्वयं अपने प्रदेशोंमें परिणमा करता है।

उक्त वर्णन द्वारा स्थापित सिद्धान्त—यह कर्म भी जीवका परिणमन लिए बिना जीवविभावको निमित्त पाकर एकाकी परिणतिसे कर्मरूप परिणम गया है। इस कारण यह निश्चय किया जाता है कि पुद्गल पिण्डोंके कर्मत्वका करने वाला भी यह जीव नहीं है, यह जीव यों भी कर्मका कर्ता नहीं हैं।

सर्वविविक्त आत्मतत्त्व—प्रकरण चलरहा है भेद विज्ञानका। इस जीवका किसी पदार्थसे कोई सम्वन्ध नहीं है। खूव निरखलो। अपने शुद्ध स्वरूपको देखलो किसी भी पदार्थसे इस जीवका रंच सम्वन्ध नहीं है। ईंटोंका मकान जो है उससे तो आपका कोई सम्वन्ध है नहीं। आप यहाँ मन्दिरमें बैठें हैं और ईंटोंमें ईंटें पड़ी हैं, परिवार के लोग भी अगर मन्दिरमें होंगे तो वे दूर बैठे होंगे और घरपर होंगे तो वहां गर्मीमें पंखा चल रहा होगा वहाँ वे विश्राम पाते होंगे। सम्वन्ध कुछ भी तो नहीं है और यह जो शरीर है उससे भी तो कुछ सम्वन्ध नहीं हैं। यह अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शमें परिणम रहा है। और यह देखो अपना ज्ञान दर्शन अनन्त शक्तिमय दीख रहा है। यह चेतन है शरीर अचेतन है। हैं तो जरूर ये पुद्गल, मगर हैं न्यारे-न्यारे। फिर कर्मोंकी वारी आई। कर्मोंसे तो सम्वन्ध होगा ? कहते हैं कि कर्मोंसे भी सम्वन्ध नहीं है। न तो यह जीव कर्मको लाने वाला है और न यह जीव कर्मोंमें कमपना करनेवाला है। इसलिए समस्त पदार्थोंसे यह जीव भिन्न है। ऐसे जीवके स्वरूपको जिसने पहिचान लिया उसकी मूर्ति भी पुजती है। और जिंसने इस आत्माके स्वरूपको न पहिचाना वे संसारमें रुलते फिरते हैं।

स्थूल शरीरका वीज सूक्ष्म शरीर—अव यह वतला रहे हैं कि आत्मा शरीरका कर्ता भी नहीं है तो यह शरीर वना कैसे ? तो इसका वर्णन पहिले कर दिया गया है कि जीवमें पहिले तो कर्मोंका वन्धन है फिर वे ही कर्म जीवके शरीररूपसे परिणमते हैं। तो पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरके वननेका मूल कार्माण शरीर है। जव यह जीव एक भवको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करने जाता है तो न तो पूर्वका शरीर रहा

और न वर्तमान शरीर रहा, केवल कार्मण शरीर है इसको सूक्ष्म शरीर कहते है। यह स्थूल शरीरका बीजभूत है। कार्माण शरीर जब योनिभूत पुद्गलपर आते है तो कार्मण शरीर इस तरहसे उस नवीन शरीर वर्गणावोंको हांप लेता है कि वह शरीर वृद्धिको प्राप्त हो जाता। तो इस शरीरका मूल कारण है कार्माण शरीर। इनसे यह शरीर होता! ऐसे उस शरीरका भी कर्ता जीव नहीं है अब यह बतलाया जा रहा है।

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो हि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १७० ॥

शरीरनिर्माणविधि व आत्माका अकर्तृत्व—जो जो ये कर्मरूप परिणमनेवाले पुद्गलकाय है वे कैसे परिणमें हैं कि जीवके रागद्वेष मोह परिणामका निमित्त पाकर परिणमें है। सो अब वे ही कर्म जीवके अनन्त संतानोंसे चले आए हुए अन्य शरीरोंके बदलने का आश्रय करके ये कर्म स्वयं में वही शरीर बन जाते हैं। इस तरह यह निश्चय करो कि कर्मत्वरूपसे परिणमित पुद्गल द्रव्यात्मक शरीरका भी कर्ता जीव नहीं है। इतनी बातें जो आप बखानते हैं कि मैं दूकान करता हूँ, मकान बनवाता हूँ लड़कोंको पढाता हूँ, घरको पालता हूँ, इतने कर्मत्वका भाव रखना यह कितनी बड़ी भारी भूल है।

निकटप्राप्त ज्ञानामृत—जैसे पासमें गर्मीके दिनोंमें ठंडे पानी का घड़ा रखते हो, गिलास भी पासमें हो, या खटियाके पास धरा है तो जब आपको प्यास लगे तब पी लो, प्यास बुझा लेते हैं, देर तो नहीं करते। जरा सी प्यास लगी है, पेट भर है किन्तु एक घूँट ही मुँहमें रख लिया। इसी तरह यह ज्ञानरूपी अमृतका घड़ा जिसके उपयोगमें रखा हुआ है तो जब चाहे कभी उस ज्ञानपर दृष्टि देता है जो सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप है। निज सहज स्वरूप पर दृष्टि देना ही अमृतका पान है। सो उस अमृत पान द्वारा यह जीव सर्व संकटोंसे दूर हो जाता है कुछ विपत्तियाँ आवें, झट अपने निराले आत्मदेवको तो देखो। क्यों परेशानीका अनुभव किया जाय।

आत्मीय आनन्दका प्रसाद कर्मक्षय—भैया! कहीं कोई मेरा बिगाड़करता नहीं है। कोई मुझे दुःखी करता नहीं! यह मैं स्वयं ज्ञानानन्दका विधान हूँ। इसको तो कोई पहचानता भी नहीं है। यहाँ किसी दूसरेसे क्या व्यवहार करें। दूसरे हमसे क्या व्यवहार करें? यह मैं सबसे निराला शान्तिस्वभावी सुखसे भरपूर आत्मतत्त्व हूँ। ऐसी दृष्टि जब जगे तब ही महान् आनन्द उसे उत्पन्न होता है, जिस आनन्दके प्रसादसे यह जीव भव भवके बांधे हुये कर्मोंका क्षय करता है। तो यह कर्त्ता नहीं है, शरीरसे भी न्यारा हैं। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माके देखनेमें ही कल्याण है।

अब यह बतलाते हैं कि आत्मामें शरीरपना ही नहीं है। कोई कहे शरीरके करने और न करनेका क्या प्रश्न है? यह आत्मा तो वही है जो शरीर है। इसके

उत्तरमें कहते हैं—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ १७१ ॥

जीवका मूल संकट शरीरमें आत्मबुद्धि—शरीर ५ होते हैं ना? १ औदारिक २ वैक्रियक, ३ आहारक, ४ तैजस और, ५ कार्माण। यह शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक है, चेतन नहीं है।। जब यह पुद्गलद्रव्यात्मक है तो आत्मा कैसे हो सकता है। सबसे बड़ा संकट इस जीवपर यह है कि कागजके लिफाफे जैसे निस्सार इस देहको अपना सर्वस्व मान लिया गया है कि यह मैं हूँ।

मैं मैं व मैं ना का परिणाम—कहते हैं ना? जो मैंना मैंना कहती है वह पिंजड़ेमें पाली जाती है, जो मैं मैं मैं मैं करती है वह अपना गला कटाती है। एक कविने अलंकाररूपमें कहा है मैं ना याने मैं कुछ नहीं, नाम ही मैंना है। वह पिंजड़ेमें पाली जाती है। जो मैं मैं न हो, मैं कुछ नहीं हूँ, ऐसा अपना आशय रखे और व्यवहार करे उसका लोकमें आदर होता है और जो मैं मैं कहता, जैसे जो मैं मैं कहे ऐसा कौन? बकरीका बच्चा, वह अपना गला कटाता है। याने जो अहंकार रखता है, वह बर्बाद हो जाता है। अहंकार न रखो अपने इस देहपर, अपने इस वैभवपर अपने इस ज्ञानपर, रूपपर, प्रतिष्ठापर कुछ भी गर्व न करो, ये सारे मायामय द्रव्य हैं, इसमें सारका नाम भी नहीं है।

शरीरका आत्मामें अत्यन्ताभाव—भैया! अब यह निश्चय कीजिए कि यह शरीर आत्मा नहीं है। जो देहको और आत्माको एक मानता है वह मोही है। मूढ़ है, दुरात्मा है, संसारमें जन्म मरणमें लगानेवाला है। एक बार यह मिथ्यात्व कट जाय तो निर्वाण नियमसे मिलेगा। अब तक कितने भव पाये। अनन्ते भव पाये। कितने परिवार अब तक पाये? पर कोई रहा साथ? किसीने निभाया साथ? यह शरीर तक भी तो साथ न जायगा। जीव यह कहे शरीरसे मरते समय कि देख री काया! मैंने तुम्हारे पालन पोषणके लिए न्याय अन्याय नहीं गिना। भक्ष्य अभक्ष्य नहीं गिना, दिन रात खाने पीनेका विवेक नहीं किया, तेरा श्रृंगार बढ़ानेके लिए मैंने अपना सर्व वैभव लगा दिया, बड़ा तुमसे प्यार किया। अब मैं जारहा हूँ, याने मररहा हूँ, तो री काया! तू तो मेरे साथ चल और कोई हमारा साथ नहीं निभा रहा है; पर तेरेसे तो निकट सम्बन्ध रहा, तू तो साथ चल। तो काया जवाब देती है कि तू बावला बन गया है। मैं तो तीर्थङ्कर चक्रवर्ती जैसे महापुरुषोंके साथ भी नहीं गई तो तेरे साथ तो क्या जाऊँगी। यह शरीर भी जवाब दे देता है।

शरीर वर्तमानमें जीवका पड़ोसी—जिस शरीरको इतना लाड़ चावसे निरखते हैं, पोषते हैं, गर्व करते हैं, यह शरीर तो अन्तमें ईंधनमें जला दिया जायगा।

जो ईंधनमें जलकर खाक हो जायगा, जिसका कुछ निशान न जायगा, उस शरीरमें क्या प्रीति करते हो। उस शरीरको अपना पड़ौसी समझो। जैसे आपके घरके पासका घरवाला पड़ौसी है, उस पड़ौसीसे आप विगाड़ तो नहीं करते, क्योंकि विगाड़ कर देने से न जाने कव वह मुझे विपत्तियोंमें डाल दे। पड़ौसी छोटा भी हो, गरीव भी हो, तो भी उसे प्रसन्न रखना चाहिये। तो जैसे पड़ौसीकी खवर रखते हैं, पड़ोसीके घरमें आग लग जाय तो झट आगको बुझाते हैं, क्यों बुझाते हैं? इसलिए कि आग बढ़कर मेरा घर न जलादे, पड़ोसीके प्रेमसे नहीं। तो जैसे पड़ोसीके घरकी आगको बुझा देते हैं इसीतरह यह शरीर हमारा पड़ौसी है। इस शरीरमें क्या आग लगी? भूख प्यास, फोड़ा फुन्सी, रोग विकार ये वढ़ गए, इनकी आग लग गई पड़ौसीके घरमें, तो कर्तव्य हो जाता है कि हम आगको बुझादें। यदि आग नहीं बुझायेंगे तो यहाँ आग ज्यादा वढ़ जायगी और संक्लेशका परिणाम हो गया तो हम भी जल जायेंगे। मेरा ज्ञान दर्शन धन प्राण भी नष्ट हो जायगा। इससे अपने आत्माकी रक्षाके लिए इस शरीर की सेवा करलो, पर शरीरके प्रेमसे शरीरकी सेवा न करो।

शरीरके प्रति कर्तव्य वर्ताव—यह शरीर प्रेम करनेके लायक नहीं है। शरीर की प्रीति रखनेवाले शरीरको कष्ट नहीं देना चाहते हैं। अच्छा, पड़े रहे आरामसे गद्दे पर, पलंगपर; ये मुग्धजन कष्ट नहीं देना चाहते इस शरीरको और उस आराममें ऐसा अनुभव करते हैं कि हम वड़े पुण्यवान हैं। अरे यह शरीर आराम देनेके लिए नहीं है। यह तो एक वेईमान नौकर है इसपर जितना प्रेम दो, ऐहसान दो तो उतना ही आत्माको सतानेमें निमित्त वनता है और शरीरको जितना ही परोपकरमें, धर्म कार्योमें, तपस्यामें फेंकदो, उतना ही यह ठीक ठिकानेमें रहता है।

शरीरकी कंजूसी विडम्वनाका कारण—दो-तीन आलसी थे सो वे कहीं जा रहे थे। एक जामुनके वृक्षके नीचे पड़ गये, नींद ली, जागभी गये, अव पड़े हैं आलसी। अव एक पुरुषके पास एक अवछा जामुन पड़ा था सो कहता है अरे भैया! कोई यह जामुन उठादे तो हम खा लें। तो दूसरेकी छाती पर जामुन गिर गया तो वह कहता है भैया कोई इसे मुँह तक सरकादो। और एकके होठपर गर गया तो कहता है भैया यह होठ खोलदो, हम जामुन खालें, भूख मिटजाय। ऐसे-ऐसे आलसी पड़े हैं। यह एक चुटकलेमें कही हुई वात है। हमारे ख्यालसे ऐसा कोई आलसी तो नहीं होगा पर इतना कोई शरीरका कंजूस वने कि दूसरा कितना ही कष्टमें हो पर अपने तनसे जरा भी उसका उपकार करनेके लिए श्रम न करना पड़े तो वह किस कामका?

विनाशीक तन मन धन वचनका सदुपयोग करनेका सुझाव—तन, मन धन, और वचन ये चारो चीजें विनाशीक हैं, इन्हें परोपकारमें लगादो तो उस मनुष्य-जीवनकी सफलता है। कंजूसी क्यों करो, ये तो मिट ही जायेंगे। लाभ कुछ न होगा

तनकी कंजूसी क्या है ? किसीका भला न कर सकना। मनकी कंजूसी क्या है ? किसी का भला न विचार सकना। धनकी कंजूसी क्या है ? योग्य कार्योंमें, परोपकारोंमें, धर्म-कार्योंमें धनका व्यय न कर सकना। कोई कहे कि हमारे घरका खर्च हजार रुपये महीना है हम कंजूसी जरा भी नहीं करते हैं। अरे जिनमें मोह है उनमें तो झक मारकर खर्च करेंगे। इससे उदारता नहीं जाहिर होती, किन्तु जिनसे अपना सम्बन्ध नहीं है, मोह नहीं है ऐसी जगह उपकारके अर्थ खर्च करना पड़े, खर्च करदो तो उसे कहते उदारता। उदार पुरुषको सर्व वसुधा कुटुम्ब प्रतीत होती है।

एक जौहरीकी लड़की घियाके यहाँ ब्याही गई। घिया बोलते हैं घी बेचने वालेको। एक बात कहते हैं। अगर कोई यहाँ पर घीवाला बैठा हो तो यह न समझे कि हमपर कहते हैं। कहूँगा भी तो अच्छी बात कहूँगा। वह लड़की घियाके यहाँ ब्याही गई। एक दिन साल दो सालके बादमें वह देखती है कि दुकान पर श्वसुरजी क्या करते हैं। देखा कि एक कड़ाहमें एक मक्खी गिर गयी थी सो उस मक्खीमें एक बूँद घी लगा था तो श्वसुर साहबने उस मक्खीको पकड़कर घीका बूँद गिरा लिया और मक्खीको अलग कर दिया। यह दृश्य देखकर उस बहूने अपना कर्म ठोका। हाय कैसा मुझे घर मिला ? उसके सिरमें दर्द हो गया। श्वसुरके पास खबर पहुँची कि बहूके सिरमें बहुत बड़ा दर्द है। इतनेमें श्वसुर साहब आये। झट ५० रुपया दिनका डाक्टर बुलाया, और,और भी डाक्टर बुलाये, पर सिर दर्द न मिटा। तो श्वसुरने बहूसे कहा कि सिर दर्द मिटेगा भी किसी तरह ? तो वह बोली पिता जी ! जब मेरा सिर दर्द होता था तो मोतियोंका लेप किया जाता था तब ठीक होता था। तब श्वसुरजी बोले यह कौन बड़ी बात है ? खजांचीको हुक्म दिया—ले जाओ दो हजार रुपये, जल्दी एक तोला मोती ले आओ। मोती ले आया। जब पत्थरपर रख कर कूटने वाला था तब वह बहू बोली पिताजी ! मेरा सिर दर्द ठीक हो गया। श्वसुरजी बोले अरे मोतियोंका लेप हो तब तो सिर दर्द मिटे। कहा, नहीं मिट गया। बोली मेरे सिरमें दर्द न था। आपकी मक्खीचूसी देखकर मेरे सिर दर्द हो गया। और जब, देखा कि आप २ हजारकी मोती मेरे सिर दर्दको मिटानेके लिए पीस डालनेके लिए तैयार हैं तो मेरा मन प्रसन्न हो गया और सिर दर्द मिट गया। सेठजी कहते हैं कि बेटी तू अभी छोटी है, तू जानती नहीं। देख पैसा कमावें तो मक्खीचूसीसे कमावें और धन खर्च करे तो इस तरहसे कि मोतियोंको भी पीस डाले। यहीं समझमें आया भैया ! तन, मन, धन, वचन चारों ही विनाशीक हैं। इसका सदुपयोग करलो।

वचनका सदुपयोग—अब लो चौथी चीज है वचन। वचनोंकी कंजूसी क्या ? अच्छा न बोल सकना। जब बोलते हैं तब वाणसे छोड़ते हुये बोलते हैं। कहते हैं

ना, कि खोटे वचन बोलनेको मुँह फुलाये बैठे रहते हैं। यह ही है वचनोंकी कंजूसी। सो इसको विनाशीक समझकर इसका ठीक सदुपयोग करलो। अध्रुव चीजके सदुपयोगसे ध्रुव निज प्रभुकी उपासनामें आदर मिलता है तो यही करो ना। अपने आप पर यही दया है कि उन विनाशीक चीजोंकी ममता न हो, मोह न हो, अपने इस निराले शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव करो।

इस प्रकरणमें शिक्षारूप निष्कर्ष—इस प्रकार इस प्रकरण तक यह बताया गया है कि इस आत्माका किसी भी पुद्गल द्रव्यमें रंच भी सम्बन्ध नहीं है। सो ऐसा ही भेदविज्ञान करके सबसे निराले अपने आपके ज्ञानस्वरूपको देखकर अमृतरस पीकर सदा आनन्दसे छके रहें। ऐसी ही आत्मशक्तिको देखना मनुष्य जन्मकी सफलता का काम है।

ॐ शान्तिः,　　　ॐ शान्तिः,　　　ॐ शान्तिः,

इस प्रकार
प्रवचनसार ग्रन्थराज पर गाथा नं० १४५ से १७१ तक २७ गाथावो पर
अध्यात्मयोगीपूज्य श्री मनोहर जी वर्णी के
प्रवचनों का संकलन रूप यह सप्तम भाग
समाप्त हुआ।

———नूतन प्रिंटिंग प्रेस, सेव का बाजार, आगरा।———

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य